तुलनात्मक भाषा-तत्व शास्त्र

(तुलनात्मक भाषा विज्ञान का विवेचनात्मक अध्ययन)

(एम० ए० संस्कृत एवं हिन्दी-हेतु)

प्राक्कथन लेखक

श्री मोतीलाल राठौर एम० ए०, (राज० तथा इति०)

आचार्य, गंजडुण्डवारा कालेज,

गंजडुण्डवारा (एटा)

एवं

डा० पारसनाथ द्विवेदी एम० ए०, पी-एच० डी०, साहित्य-व्याकरणाचार्य

संस्कृत-विभाग

आगरा कालेज, आगरा।

लेखक

राधेश्याम शर्मा एम० ए० (हिन्दी-संस्कृत)

साहित्याचार्यः साहित्यरत्नम्

संस्कृत विभागाचार्य,

गंजडुण्डवारा कालेज, गंजडुण्डवारा (एटा)

स्टूडेण्ट स्टोर, बिहारीपुर, बरेली।

प्रकाशक
लिटरेरी पब्लीकेशन ब्यूरो,
बरेली।

प्रथम बार, १९७१ ई०

मूल्य ६-००

मुद्रक,
आनन्द प्रिंटिंग प्रेस, बरेली।

प्रस्तावना

मानव समाज-सापेक्ष प्राणी है। अतः समाजप्रिय होने के कारण वह कभी भी एकाकी जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। समाज में रहकर उसे विचार विनिमय की आवश्यकता पड़ती है। यह विनिमय की प्रबल आकांक्षा ही भाषा में अव्यक्त होती है। भाषा मानव सम्पर्क में इतनी आ चुकी है कि वह बड़ी सरल प्रतीत होती है किन्तु उसका अनुशीलन अत्यन्त ही क्लिष्ट है। संसार के भाषा-तत्व शास्त्रवेत्ताओं ने भाषा का विवेचन विभिन्न प्रकार से किया, किन्तु वास्तव में संसार की २७९६ प्रमुख भाषाओं का ज्ञान क्लिष्ट ही नहीं असम्भव है। वास्तविक भाषा-तत्ववेत्ता तो सृष्टि का नियामक परमात्मा ही हो सकता है।

भाषा-विज्ञान अथवा भाषा-तत्व शास्त्र पर प्रतीच्य एवं भारतीय विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने मन्तव्य प्रकट किये किन्तु उनका दृष्टिकोण एकांगी ही रहा क्योंकि प्रतीच्य भाषाविदों ने भाषा शास्त्र के विज्ञान का सूत्रपात यूरोप को ही माना। उनका अन्धानुकरण करने वाले भारतीय विद्वानों ने भी "अन्धे नैव नीयमाना॰ यथान्धाः" के अनुसार उन्हीं के पदों का अनुसरण किया। वस्तुतः यह भारतवर्ष का दुर्भाग्य रहा कि उसकी असीम ज्ञानराशि को विद्वानों ने उपेक्षणीय दृष्टि से देखा। भाषा के प्राचीन स्वरूप को वैदिक भाषा में ही पाया जा सकता है क्योंकि भारत के पास ६००० वर्ष पूर्व की सभ्यता का चित्र वेदों के रूप में सुरक्षित है जबकि ग्रीक आदि यूरोपीय सभ्यता केवल २६०० वर्ष पूर्व की है। पाश्चात्य विद्वानों ने अपनी मनगढ़न्त कल्पनाओं के द्वारा वेदादि ग्रन्थों का मनमाना अर्थ लगाया। वस्तुतः हमारे प्रातिशाख्य, निरुक्त आदि ग्रन्थों में वर्ण, ध्वनि आदि का सम्यक् विवेचन है। भारतीय विद्वानों में श्री हरिशंकर जोशी, आचार्य श्री सीताराम चतुर्वेदी, पं० रामाधीन आदि विद्वानों ने भारतीय दृष्टिकोण को समक्ष रखते हुये इस विषय पर विवेचन किया है।

निस्सन्देह भाषा-तत्व शास्त्र अथवा भाषा विज्ञान पर विभिन्न उच्चकोटि के विद्वानों की कृतियाँ उपलब्ध हैं और इस क्षेत्र में एम० ए० आदि उच्च कक्षाओं के लिये भी विभिन्न भाषा विषयक ग्रन्थों की रचना हुयी है और हो रही है किन्तु अभी तक की उपलब्ध कृतियों में M. A. संस्कृत के पाठ्य के समग्र पाठ्यक्रम को समक्ष रखते हुये किसी ग्रन्थ का सृजन नहीं हो सका। दो चार ग्रन्थ जो विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में निर्धारित है उनमें संस्कृत पाठ्यक्रम की यथेष्ट सामग्री अनुपलब्ध है अतः इसी उद्देश्य को लेकर मैंने इस 'तुलनात्मक भाषा-तत्व शास्त्र' अर्थात् 'भाषा

विज्ञान का समीक्षात्मक विवेचन ग्रन्थ की रचना की यद्यपि इस पुस्तक के प्रणयन में भी आधुनिक भाषा विज्ञान के विवेचन की पद्धति का ही अनुसरण किया गया है किन्तु सर्वत्र भारतीय दृष्टिकोण को मान्यता प्रदान की गयी है।

मैं उन सभी मूर्धन्य विद्वानों का ऋणी हूँ जिनके ग्रन्थों से उनकी विचार-धारा का संग्रह किया तथा कहीं-कहीं पर उनके उद्धरणों को भी प्रस्तुत किया है। एतदर्थ मैं उनका हृदय से आभार प्रदर्शित करना अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ। इस पुस्तक की रचना में जिन विद्वानों के ग्रन्थों से सहायता ली गयी है उन ग्रन्थों की विस्तृत सूची परिशिष्ट में दे दी गयी है। वस्तुतः यह पुस्तक एक टिप्पणी मात्र ही है। इस पुस्तक में यद्यपि विद्यार्थियों का ही हित सर्वोपरि रखा है किन्तु भाषा-प्रेमियों के लिये भी यह पुस्तक अत्यन्त उपादेय है। इसकी भाषा बड़ी सरल, सुबोध तथा हृदयग्राही है। निश्चय ही यह पुस्तक एम० ए० संस्कृत के विद्यार्थियों के लिये तो वरदान स्वरूप है ही किन्तु एम० ए० हिन्दी के विद्यार्थियों के लिये भी परमोप-योगी है।

हमारे सम्माननीय प्राचार्य महोदय श्री सेती लाल राठौर जी ने इसका प्राक्कथन लिखकर मुझे कृतार्थ किया। एतदर्थ मैं उनका हृदय से आभार प्रदर्शित करना अपना पावन कर्म समझता हूँ। इस पुस्तक की पाण्डुलिपि की शुद्ध प्रति लिखने में मेरे प्रिय शिष्य वेदप्रकाश, रामदत्त, किशोरीलाल, सेवा-सिंह तथा चिरञ्जीव पुत्र दिनेशकुमार, पुत्री कुमारी मिथिलेश व कुमारी कमलेश का विशेष योगदान है। अतः ये विद्यार्थी मेरे मंगलमय आशीर्वाद के पात्र हैं।

परमपूज्यनीय गुरुवर डा० पारसनाथ द्विवेदी जी ने इस पुस्तक के सम्बन्ध में दो शब्द लिखकर इस अकिंचन को कृतार्थ किया। सेव्य-सेवक भाव के कारण उनके प्रति आभार प्रदर्शित करना उनकी महनीया महत्ता को न्यून करना ही होगा।

अन्त में मैं भी श्री श्रीराम अग्रवाल प्रकाशक, स्टूडेन्ट स्टोर, बिलासपुर, बरेली को हृदय से धन्यवाद देता हूँ तथा आभार प्रकट करता हूँ कि जिन्होंने पूर्ण तत्परता एवं उत्सुकता के साथ इस पुस्तक को शीघ्र प्रकाशित करने में अपना पूर्ण सहयोग दिया।

मकर संक्रान्ति
१४ जनवरी, १९७०

विदुषामनुचरः
राधेश्याम शर्मा

समर्पण

माँ 'कृष्णा' को अपने स्नेह से वञ्चित करने वाले
भाषा-ज्ञान से शून्य, अबोधावस्था में ही
दिवंगत चि० 'जगदीश' तथा 'गिरीज'
की हृदयविदारिका चिरस्मृति में

राधेश्याम शर्मा

प्राक्कथन

पं० श्री राधेश्याम शर्मा एम० ए०, शास्त्री द्वारा लिखित तुलनात्मक 'भाषातत्त्व-शास्त्र' नामक पुस्तक हिन्दी तथा संस्कृत के एम० ए० के विद्यार्थियों को अत्यन्त उपयोगी है। इस पुस्तक मे कुल १२ उल्लास तथा ५ परिशिष्ट हैं, जिनमें भाषा के तत्त्व को बड़े सरल, सुबोध एवं सुगम शैली मे समझाया गया है तथा ग्रीक, लैटिन, संस्कृत, अवेस्तादि तथा पालि, प्राकृत, अपभ्रंशादि का तुलनात्मक विवेचन इस पुस्तक में वैज्ञानिक शैली के अनुसार सरस एवं सुन्दर ढंग से उपस्थित किया गया है। अन्त में पारिभाषिक शब्दों, अंग्रेजी शब्दों की हिन्दी, सहायक ग्रन्थों की सूची, ससार की भाषाओं की चित्रावली एवं प्रश्नावली देने से पुस्तक की उपयोगिता और बढ़ गई है। श्री शर्मा जी ने इस प्रकार के अनुपम ग्रन्थरत्न का प्रणयन कर हिन्दी एवं संस्कृत अध्येताओं के लिये एक सुगम पथ-प्रदर्शन किया है।

आशा है कि यह पुस्तक हिन्दी एवं सस्कृत के विद्यार्थियों के लिये अत्यन्त उपादेय होगी।

डा० पारसनाथ द्विवेदी

सस्कृत-विभाग
आगरा कालिज, आगरा।

प्राक्कथन

श्री राधेश्याम शर्मा, एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत) द्वारा प्रणीत 'तुलनात्मक भाषा विज्ञान का विवेचनात्मक अध्ययन' के कतिपय अध्यायों को पढ़ने का सुयोग मिला। पुस्तक में १२ अध्याय हैं, ५ परिशिष्ट भी ग्रंथ में सम्मिलित किये गये हैं जिनमें प्रमुख भाषाओं की सूची एवं चित्र संकलित हैं तथा पारिभाषिक शब्दावली, प्रश्नावली तथा सहायक ग्रन्थों की सूची दी गई है।

पुस्तक मुख्यतः एम० ए० हिन्दी तथा संस्कृत के छात्रों की आवश्यकता को दृष्टि में रखते हुए लिखी गई है। आशा है उन्हें अपनी आवश्यकता के अनुरूप सामग्री पर्याप्त मात्रा में मिल सकेगी।

शर्मा जी मेधावी छात्र रहे हैं। वह एक सुयोग्य अध्यापक हैं। उनके गहन अध्ययन एवं सुदीर्घ अध्यापन-अनुभव की छाप स्पष्टतः उनके लेखन में परिलक्षित है। प्रस्तुत रचना में लेखक ने अपने को केवल संस्कृत भाषा-विज्ञान तक ही सीमित नहीं रखा है अपितु प्रायः सभी प्रमुख भाषाओं का तुलनात्मक अनुशीलन किया है जिससे पुस्तक की उपादेयता में अभिवृद्धि हुई है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि भाषा-विज्ञान में रुचि रखने वाले सभी विद्वज्जन एवं छात्र प्रस्तुत रचना का स्वागत करेंगे।

प्राचार्य
गंजडुण्डवारा कालेज

सतीसाल राठौर

अनुक्रमणिका

प्रथम उल्लास

द्वितीय उल्लास

तृतीय उल्लास

चतुर्थ उल्लास

पंचम उल्लास

षष्ठ उल्लास

(स)

सप्तम् उल्लास

अष्टम् उल्लास

नवम् उल्लास

दशम् उल्लास

एकादश उल्लास

द्वादश उल्लास

परिशिष्ट

प्रथम उल्लास—

मंगलाचरण

ॐ मित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ।
सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥
ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥
तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्निर्ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम् ।
गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो वावशानाः ॥
बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः ।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥
यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम् ।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते ॥
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ।
यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति ॥
चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद् व्याप्य स्थिता जगत् ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥
या देवी सर्वभूतेषु वाक्रूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥

भाषा-विज्ञान

प्रागैतिहासकाल—

विद्वानों की धारणा है कि मानव-सभ्यता का जन्म पत्थर की ही कठोर भूमि पर हुआ था। जब मनुष्य ने प्रथम बार इस पृथ्वी पर अपनी आँखें खोली तब अपनी रक्षा के लिये उसे पत्थर ही मिला। उन दिनों मनुष्य निरा असभ्य था और जंगली जीवन व्यतीत करता था परन्तु धीरे-धीरे वह सभ्य जीवन की ओर आगे बढ़ने लगा। मानव-सभ्यता के प्रारम्भिक काल को पूर्व-पाषाण-काल के नाम से पुकारा गया है। इस काल का आरम्भ अब से लगभग छः लाख वर्ष पहले हुआ था और लगभग दस हजार वर्ष पूर्व इसका अन्त हुआ था। विद्वानों की धारणा है कि इस युग के लोग हब्शी जाति के थे। इन लोगों का रंग काला और कद छोटा था। इनके बाल ऊनी होते थे और इनकी नाक चिपटी होती थी। इनके वंश अभी अन्डमन द्वीप में पाये जाते हैं। इस युग के लोग अपने सभी औजार पत्थर के बनाते थे। यह पत्थर कठोर चट्टानों से काट लिये जाते थे फिर आवश्यकतानुसार विभिन्न प्रकार की चीजें बना ली जाती थीं। पत्थर के बने औजारों से वे पशुओं का शिकार करते थे। इस युग के लोग अपनी जीविका के लिए पूर्ण रूप से प्रकृति पर निर्भर रहते थे। खेती-बारी करना वह बिलकुल नहीं जानते थे। इस काल के लोग नदियों के किनारे जंगलों में रहा करते थे। नदियों से इन्हें पीने को पानी मिल जाता था और जंगलों से इन्हें खाने के लिए फल तथा पशुओं का माँस प्राप्त हो जाता था।

पूर्व-पाषाण-काल के बाद उत्तर-पाषाण-काल का आरम्भ होता है। पूर्व का अर्थ होता है पहले और उत्तर का अर्थ होता है बाद। चूँकि उत्तर-पाषाण-काल का आरम्भ पूर्व-पाषाण-काल के बाद हुआ, अतएव इस युग को उत्तर-पाषाण-काल के नाम से पुकारा गया है। पूर्व पाषाण-काल का अन्त अब से दस हजार वर्ष पहले माना जाता है। अतएव उत्तर-पाषाण-काल का आरम्भ यहीं से होता है। इस युग के लोग पूर्व पाषाण-काल के लोगों से कहीं अधिक सभ्य हो गये थे और उनके जीवन में बहुत बड़ा परिवर्तन आ गया था। इस युग में भी औजार पत्थर के ही बने होते थे, परन्तु वह पूर्व-पाषाण काल के औजारों की अपेक्षा अधिक साफ तथा सुन्दर होते थे। पूर्व-पाषाण-काल में मनुष्य पूर्ण रूप से प्रकृति-जीवी था और शिकार करके तथा फल खाकर अपना पेट भर लेता था। परन्तु उत्तर-पाषाण-काल में उसने कृषि करना आरम्भ कर दिया। खेती हल तथा बैल से की जाती थी। पूर्व-पाषाण-काल के लोग

अपनी का सभी चीजें केवल पत्थर की ही बनाते थे। प[illegible]

पाषाण-काल के लोगों ने मिट्टी के बर्तन बनाना आरम्भ कर दिया। पूर्व पाषाण-काल का मनुष्य कन्दराओं तथा वृक्ष के नीचे ही निवास करता था परन्तु उत्तर-पाषाण-काल के लोगों ने घर बनाना आरम्भ कर दिया। उत्तर-पाषाण-काल के लोगों ने भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्यों को करना आरम्भ कर दिया था। कोई खेती करता था तो कोई मिट्टी के बर्तन बनाता था और कोई लकड़ी के काम किया करता था। पाषाण-काल के बाद धातु-काल का आरम्भ हुआ। कुछ विद्वानों का विचार है कि धातु-काल के लोग पाषाण-काल के लोगों से भिन्न थे और उत्तर-पश्चिम के मार्गों से भारत में आये थे। अन्य विद्वानों के विचार में धातु-काल के लोग उत्तर-पाषाण-काल के लोगों की ही सन्तान थे। धातु-काल उस युग को कहते हैं जब मनुष्य ने पत्थर के स्थान पर धातु का प्रयोग करना आरम्भ किया। सबसे पहले मनुष्य ने तांबे का, उसके बाद काँसे का और अन्त में लोहे का प्रयोग करना आरम्भ किया।

कोल भारत की एक अत्यन्त पुरानी जाति है। कुछ विद्वानों की धारणा है कि यह लोग भारत के मूल निवासी थे और कहीं बाहर से नहीं आये थे। परन्तु कुछ विद्वानों के विचार में यह लोग बाहर से उत्तर-पूर्व के पर्वतीय मार्गों द्वारा भारत में आये थे। कोल लोग चाहे भारत के मूल निवासी रहे हों और चाहे वह बाहर से आये हों परन्तु इस बात को सभी स्वीकार करते हैं कि सबसे पहले यही लोग भारत में निवास करते थे। कोलों के साथ-साथ भारतवर्ष में एक दूसरी जाति निवास करती थी जो द्रविड़ कहलाती थी। यह लोग भारत के अत्यन्त प्राचीन निवासी माने जाते हैं। इनका कद छोटा, सिर बड़ा, नाक छोटी तथा चिपटी और रंग काला होता था। जिस समय आर्य लोग भारतवर्ष में आये उन दिनों यह लोग भारत के विभिन्न भागों में निवास करते थे। आर्यों ने इन्हें अनार्य, दस्यु आदि नामों से पुकारा है। आर्यों ने द्रविड़ों को उत्तरी भारत से मार भगाया। फलतः द्रविड़ लोग दक्षिण भारत में भाग गये और वहाँ पर स्थायी रूप से निवास करने लगे। वहीं पर उनकी सभ्यता तथा संस्कृति का धीरे-धीरे विकास होता गया। द्रविड़ लोग भारत के मूल निवासी थे अथवा अन्य जातियों की भाँति यह लोग बाहर से भारत में आये थे। इस प्रश्न पर विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वानों के विचार में द्रविड़ लोग दक्षिण भारत के मूल निवासी थे परन्तु अधिकांश विद्वानों की यही धारणा है कि द्रविड़ लोग बाहर से भारत में आये थे।

इसके बाद सिन्धु घाटी की सभ्यता आती है। इस सभ्यता का समय विभिन्न विद्वानों के आधार पर ईसा से ३००० या ४००० वर्ष पूर्व है। यहाँ की सभ्यता बहुत उच्चकोटि की थी

भाषा विज्ञान के विवेचन से स्पष्ट होता है कि प्रारम्भ में कोई एक मूल भाषा थी जिसको आर्य जाति के लोग व्यवहार में लाते थे। भाषा की खोज के लिये हमको पुरातत्वशास्त्र, भूगर्भ विद्या, भूगोल और मानव-विज्ञान का भी आश्रय लेना पड़ता है। भाषामूलक खोज प्राचीनतम शब्दों के आधार पर ही हो सकती है। उन शब्दों को नाम, प्रकृति, क्रिया, सामाजिक शब्द आदि वर्गों में बांटा जा सकता है। इन शब्दों को आधार पर ही उस काल के निवासियों और उनकी जातियों का पता लगता है। इस प्रकार सभी आर्य भाषाओं की मूलभूत समानता अनिवार्य रूप से उनके एक ही पूर्वज भाषा से उद्भूत हुये होने के तथ्य को स्वीकार करने के लिये प्रेरित करती है। किसी भी भाषा का अस्तित्व इस बात का साक्षी है कि उसे बोलने वाले लोग भी होंगे। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि सभी आर्य-राष्ट्र किसी एक ही स्रोत से उत्पन्न हुये है, यद्यपि इसके बाद के समय में इनमें विदेशी तत्त्वों का समावेश होना भी असम्भव नहीं है। अतः हम पर्याप्त निश्चिन्तता के साथ यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि एक प्रागैतिहासिक काल में एक ऐसी आर्य-जाति का अस्तित्व रहा होगा जो मूलतः समस्त विदेशी अन्तर्मिश्रणों से मुक्त तथा इतनी पर्याप्त जनसंख्या में विद्यमान रही होंगी कि उसी के गर्भ से सब जातियाँ समय-समय पर फूट कर प्रकट हो सकी होंगी। उस मूल आर्य-जाति को प्रकृति ने प्रचुर मात्रा में वह प्रतिभा भी प्रदान की होगी जिससे वह सम्भवतः सभी भाषाओं में श्रेष्ठ, अपनी एक भाषा का भी सृजन करने में सफल हो सकी। यद्यपि वह मूल आर्य जाति किसी भी परम्परा को अज्ञात है, तथापि भाषा विज्ञान द्वारा हमें उसके अस्तित्व का पर्याप्त अंशों तक प्रमाण मिलता है। मूलतः यह आर्य जातियाँ एक ही स्थान या देश में निवास करती थीं, धीरे-धीरे वे एक दूसरे से अलग होती हुई उस मूल स्थान से विभिन्न प्रदेशो में चली गई। इन आर्य जातियों का मूल स्थान क्या था इस सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं। सर्वप्रथम यहाँ हम प्रो० जे० म्यूर के ऑरजीनल संस्कृत टेक्स्ट "Original Sanskrit Texts" by J. Muir. के आधार पर इस जाति के मूल निवास पर विचार करते हुए विभिन्न प्रतीच्य विद्वानों के भी विचार प्रकट करेंगे।

(१) इस मत को कि आर्य लोग विदेशी थे और उन्होंने भारत को आक्रमण करके विजित किया तथा यहाँ के तथाकथित आदिवासियों पर अपने धर्म तथा अपनी संस्थाओं को बलात् लाद दिया, कर्जन ने यह कहकर अस्वीकृत कर दिया है कि यह अत्यन्त अपर्याप्त तथ्यों पर आधारित है और इसको पुष्ट करने के लिए कोई स्पष्ट ऐतिहासिक प्रमाण भी उपलब्ध नहीं है।

भारत में आर्यों के आकर बसने से सम्बद्ध विभिन्न सम्भाव्य मान्यताओं का पर्यवेक्षण करने के पश्चात् श्री कर्जन ये निष्कर्ष निकालते हैं (१) आर्यों ने पश्चिम से प्रवेश नहीं किया क्योंकि यह स्पष्ट है कि उस दिशा में रहने वाले लोग इन्हीं भारतीय आर्यों के वंशज थे। उनका इस प्रकार वंशज होना इस तथ्य से प्रभावित होता है कि उनकी भाषा के प्राचीनतम रूप संस्कृत से ही उद्भूत हैं। (२) आर्यों ने उत्तर अथवा उत्तर पश्चिम से भी भारत में प्रवेश नहीं किया था, क्योंकि इतिहास और भाषा-विज्ञान द्वारा हमें इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि इन दिशाओं में उनके धर्म तथा भाषा से मिलती-जुलती उस आरम्भिक समय में कोई ऐसी सभ्यता थी जिसने भारतीय-आर्यों की सभ्यता को जन्म दिया हो। (३) यह भी इसी प्रकार असम्भव है कि आर्य लोग पूर्व से भारत में आये क्योंकि इस दिशा में स्थित देशों के लोग (चीनी) भाषा, धर्म और संस्कारों आदि की दृष्टि से भारतीयों से सर्वथा भिन्न हैं और उनका इनसे कोई वंश तुगत सम्बन्ध नहीं है। (४) इसी प्रकार आर्य लोग उत्तर-पूर्व में स्थित तिब्बत के पठार से भी नहीं आये हो सकते क्योंकि हिमालय जैसे महान् अवरोध के अतिरिक्त उस क्षेत्र में चीनियों की भांति एक भिन्न जाति के लोग रहते हैं। (५) आर्य सेमिटिक अथवा मिश्र-देशीय भी नहीं हो सकते क्योंकि संस्कृत में सेमिटिक स्रोत का कोई शब्द नहीं है, और सेमिटिक बोली से इसका गठन भी सर्वथा भिन्न है, जबकि मिश्र की भाषा का सेमिटिक से बहुत कुछ सम्बन्ध प्रकट होता है। (६) यदि आर्य लोग मनु द्वारा व्यक्त दो समुद्रों के बीच और हिमालय के दक्षिण पश्चिमी मैदान के क्षेत्र के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र रहे होते तो उनके भग्नावशेषों, लिखित आंकड़ों और परम्पराओं को भी उन स्थानों में अवश्य पाया गया होता जैसे कि अपने पूर्वज स्थानों से आकर बस गई इतिहास की आन अन्य जातियों के स्मारक मिले हैं। भारतीय सभ्यता का आरम्भिकतम स्थान ब्रह्मावर्त था, और आर्य लोग, ज्यों-ज्यों इनकी संख्या वृद्धि तथा सामाजिक उन्नति हुई, धीरे-धीरे उस क्षेत्र की ओर बढ़ने लगे जिसे मध्य देश और अन्ततः आर्यावर्त कहते हैं और जो पूर्वी और पश्चिमी सागरों के बीच हिमालय तथा विन्ध्य पर्वतों से सीमित भूभाग था। श्री कर्जन दक्षिण में एक अनार्य जाति तथा राष्ट्रीयता के अस्तित्व को भी स्वीकार करते हैं जिन्हें सामुद्रियन कहते थे। आपके अनुसार इन लोगों का निर्माण भी उत्तर में आर्य समुदाय के उत्थान का समसामयिक था। जे० म्यूर के अनुसार यह प्रश्न अभी भी अनिश्चित है तथा इस बात को स्वीकार करने का कोई भी आधार नहीं है कि हिन्दू लोग अपने वर्तमान देश के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र रहते थे साथ ही इस बात को भी अस्वीकार करने का कोई विशेष आधार नहीं है कि ये लोग अपनी परम्पराओं

तथा किसी भी अन्य विवरणों के आरम्भिकतम संकेतों के पूर्व कहीं बाहर रहे हो सकते है। यहाँ विभिन्न विद्वानों के मत देते हैं।

(२) ए० डब्लु० फॉन श्लेगेल ने 'ऑन दि ओरिजन ऑफ दि हिन्दूज' शीर्षक लेख में इस समस्या के सभी पक्षों का एक व्यवस्थित विवेचन किया है। उन्होंने प्राचीन राष्ट्रों की देशान्तरगमन सम्बन्धी गतिविधियों, हिन्दुओं की उत्पत्ति सम्बन्धी उन्हीं की परम्पराओं, जातियों की विभिन्नताओं, हिन्दुओं और भारत की स्थानीय जातियों की दैहिक विशेषताओं, राष्ट्रों के इतिहास को प्रभावित करने वाले तुलनात्मक भाषाविज्ञान के महत्वों, आर्य-भाषाओं के एक दूसरे के साथ सम्बन्धों आदि का विवेचन करने के पश्चात्, इन विभिन्न अनुसन्धानों के आधार पर सर्वसम्मत निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया है।

(३) जे० म्यूर के अनुसार, पर्शियनों और हिन्दुओं के पूर्वज अपने आदि स्थान से दक्षिण-पश्चिम और दक्षिण-पूर्व की ओर, और योरोपीय राष्ट्रों के पूर्वज पश्चिम और उत्तर की ओर गये होंगे। उनकी धारणा है कि इन जातिओं ने, जो योरोप की ओर गई, दो महान् भागों का अनुसरण किया होगा। एक वह लम्बा रास्ता जो काले सागर के उत्तरी तट से होकर जाता है, जबकि दूसरे दल ने एशिया माइनर होते हुऐ एजियन सागर अथवा हेलेस्पोन्ट, थ्रेस्, इलिरिया और एड्रिमाटिक को पार किया होगा। यह प्रायः निश्चित है कि इस द्वितीय मार्ग का अनुसरण करने वाले लोगों से ही यूनान और इटली ने अपने प्रवासियों को ग्रहण किया हो।

(४) प्रो० लासन भी इस परिकल्पना के विरुद्ध ही निर्णय देते हैं कि भारत भारोपीय जातियों का उद्गम-स्थल है। आपका कथन इस प्रकार है—

आधुनिक अनुसन्धानों का यह परिणाम निकला है कि भारतीयों की प्राचीन भाषा का इन्डो-जर्मनिक राष्ट्रों की भाषाओं से इतना घनिष्ट साम्य है कि इन दोनों ही वर्ग की भाषाओं तथा राष्ट्रों के मूल रूप से एक ही होने का तथ्य प्रमाणित हो जाता है। अतः हम दो निष्कर्षों की ओर प्रेरित होते हैं; या तो (१) भारतीय लोग किसी अन्य आदि स्थान से भारत में आये अथवा (२, सभी इन्डो-जर्मनिक राष्ट्रों का उद्गम स्थल भारत ही है, किन्तु भारत को उद्गम स्थल मान लेने पर इस स्थिति का भली भांति समाधान नहीं होता। दूसरे, अन्य जातीय राष्ट्रों की बोलियां, रीति-रिवाजों और विचारों में लक्षित होने वाली कोई भी घटना भारतीय उद्गम की ओर संकेत नहीं करती। महान इण्डो-जर्मनिक परिवार जिन देशों का प्राचीन काल में अधिकार था उनमें भारत की स्थिति सर्वाधिक विशिष्ट तथा अन्य सबसे अत्यधिक भिन्न है। ऐसी दशा में बाद के समय में किसी भी केल्टिक जाति में, यदि वह मूलतः भारत में ही निवास करती थी इन भारतीय विशिष्टताओं के आधार पर किसी भी चिह्न के न

७—अतः हम इस मान्यता को कि भारत ही इन्डो-जर्मनिक जातियों का उद्गम था, एकदम अस्वीकृत कर सकते हैं। लासन के साथ सहमत होते हुए हम यही मानना चाहेंगे कि उनके मूल निवास स्थान को ईरानी प्रदेश के सुदूर पूर्व में कहीं उस स्थान पर ढूँढ़ना चाहिए जो ऑक्सस और जैक्सार्टीज का स्रोत है।

८—किन्तु भाषा सम्बन्धी द्वितीय प्रश्न का इस प्रकार का कोई समाधान नहीं निकलता क्योंकि, इसके भी सम्भव होने की कल्पना की जा सकती है कि न केवल भारतीय ही वरन् उनके साथ ईरानी भी सिन्धु नदी के देशों में आ बसे; और सम्भवतः धार्मिक मतभेदों के कारण ईरानी लोग पश्चिम की ओर लौट गये। संस्कृत तथा प्राचीन बैक्ट्रियन भाषाओं के बीच अत्यधिक साम्य की तथा एक ओर वेदों की तथा दूसरी ओर अवेस्ता की पुराकथाओं में समानता की भी, तब यही व्याख्या की जा सकती है, अर्थात् यह कि ईरानी लोगों ने वैदिक काल अथवा उसके अधिकांश को भारतीयों के साथ व्यतीत किया, इसलिए दोनों के विचारों में घनिष्ठ साम्य है। भारतीय तथा ईरानी दोनों ही एक दूसरे से स्वतन्त्र और अपने-अपने विकास की विभिन्न अवस्थाओं से होकर गुजरे हैं। दोनों के बीच किसी भी स्थान के सहअस्तित्व को इन दोनों में से किसी के विशेष विकास-युग का नहीं बल्कि प्राग्-वैदिक युग का ही मानना चाहिए। "ईरानी लोग उस क्षेत्र के उत्तर-पूर्वी किनारे पर सोग्दियाना की सीमा के निकट [illegible] की ओर रहते होंगे और सर्वप्रथम वे पूर्व में उच्च पर्वतीय घाटियों तक फैल होंगे जहाँ से [illegible] उतर कर ईरान आ गये। इन्हीं के साथ दक्षिण-पूर्व में सम्भवतः बदख्शां के उर्वर क्षेत्रों में हिन्दूकुश पर्वत के ढालों पर भारतीय आर्य निवास करते थे जहाँ से वे हिन्दूकुश को पार कर अथवा घूमकर काबुल पहुँचे और फिर उत्तरी भारत की ओर आये। दक्षिण-पश्चिम में आर्टेमिस तथा [illegible] के स्रोतों की ओर हमें पेलास्गो इटैलियन्स (यूनानी और रोमन आर्य) का स्थान मानना चाहिए जो यहाँ से हिरात की ओर बढ़े और फिर वहाँ से खोरासान और मजंदरान होते हुए एशिया माइनर तथा हेलेस्पॉन्ट आ गए।' (गिगर की रचना पृष्ठ ४१)।

९—आर्यों के सम्बन्ध में भारतीय विचारधारा:—किसी भी संस्कृत ग्रंथ में, यहाँ तक कि प्राचीनतम में भी, भारतीयों के विदेशी होने का कोई स्पष्ट उल्लेख या संकेत नहीं मिलता। स्वाभावतः यह बात किसी आश्चर्य का उचित आधार प्रस्तुत नहीं करती। स्वयं वैदिक सूक्त भी हमें इस राष्ट्र के प्रथम युगों तक पीछे नहीं ले जाते, बल्कि इनमें अपने से पूर्व समय के व्यक्तियों और घटनाओं का उल्लेख है।

में प्रवेश करो भी तो तुम्हें कुछ दृष्टिगत नहीं होगा क्योंकि मनुष्य देह से कोई भी मनुष्य यहाँ कुछ देख नहीं सकता है।"

"अथर्ववेद ५—४, १ में 'कुष्ठ' नामक औषधि को हिमालय के उस पार उगने वाला कहा जाता है : इद जातो हिमवतः प्राच्यां नीयसे जनम्। "हिमवत के उत्तर में तुम्हें उत्पन्न पूर्व के क्षेत्रों के पास ले जाया गया।" इस सदर्भ से यह अनुमान किया जा सकता है कि इस मन्त्र के प्रणेताओं को हिमालय के उस पार के देश का भी कुछ ज्ञान था।

शाङ्खायन अथवा कौषीतकि ब्राह्मण ७-६ (वेबर द्वारा इण्डिशे स्टू० १-१५३ में उद्धृत और मूनर द्वारा लाइट-रेजल्ट्स ऑफ दि नुगालियन रिसर्चेज, पृ० ३४० में उल्लिखित)। एक अत्यधिक आरम्भिक समय में भाषा का अध्ययन करने के लिये उत्तर दिशा में जाया जाता था क्योंकि वहां के लोग भाषा के अच्छे ज्ञाता थे : पथ्या स्वस्तिर् उदीचीं दिशम् प्राजानात: वाग् वै पथ्या स्वस्तिः। तस्माद् उदीच्याम् दिशि प्रज्ञाततरा वाग् उद्यते। उदञ्च उ एव यन्ति वाचं शिक्षितुम्। यो वा ततः आगच्छति तस्य वा शुश्रूषन्ते "इति स्म आह"। एषा हि वाचो दिक् प्रज्ञाता। "पथ्या स्वस्ति" (एक देवी) उत्तरी क्षेत्र को जानती है। पथ्या स्वस्ति ही वाच है। अतः उत्तरी क्षेत्र में वाच् को अधिक अच्छी तरह जाना तथा बोला जाता है। पुरुष वाच् के अध्ययन के लिए उत्तर जाते हैं, उस दिशा से आने वाले किसी भी व्यक्ति का यह कहकर कि वह कहता है : लोग श्रवण करते हैं क्योंकि वह दिशा वाच् के क्षेत्र के रूप में प्रख्यात है।"

उपर्युक्त आर्यों के निवास स्थान के सम्बन्ध में प्रतीच्य विद्वानों के मतों का विवेचन किया गया है। इस वर्णन से स्पष्ट है कि आर्यों के आदि देश या मूल-निवास के विषय में अभी तक कोई निश्चित समाधान नहीं हो पाया। प्रायः सभी इतिहासवेत्ता या भाषाविद् अपने-अपने अनुसार मनगढ़न्त कल्पनायें करते है। कुछ की प्रतीच्य भावना से परिपूर्ण है और कुछ की भारतीय दृष्टिकोण से युक्त हैं।

इस विषय में V. A. Smith का विचार द्रष्टव्य है। उन्होंने इस सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है :—

Discussion concerning the original seat or home of Aryans is omitted purposely, became no hypothesis on the subjects seems to be established—V. A. Smith.

आर्यों के मूल स्थान या निवास-स्थान की विवेचना जानबूझ कर नहीं की गई है क्योंकि इस विषय पर कोई भी धारणा प्रस्थापित नहीं हो सकी है। इनके आदि देश के अन्वेषण करने में विद्वानों ने भाषा विज्ञान पुरातत्त्व तथा जातीय

रात तथा छः महीने के दिन का वर्णन है। वेदों में ऊषा की भी स्तुति की गई है जो बड़ी लम्बी होती है। यह सब बातें केवल उत्तरी ध्रुव प्रदेश में पाई जाती हैं। अवेस्ता में भी लिखा है कि उनके देवता अहुरमज्द ने जिस देश का निर्माण किया था उनमें दस महीने सर्दी और केवल दो महीने गर्मी पड़ती थी। इससे यह पता लगता है कि यह प्रदेश कहीं उत्तरी प्रदेश के निकट ही रहा होगा। अवेस्ता में लिखा है कि उस प्रदेश में एक बहुत बड़ा तुषारापात हुआ जिससे उन लोगों को अपनी जन्मभूमि त्याग देनी पड़ी। तिलक जी का कहना है कि जिस समय आर्य लोग उत्तरी ध्रुव प्रदेश में रहते थे उन दिनों वहाँ पर बर्फ न थी और वहाँ पर सुहावना वसंत रहता था।

(४) **भारतीय सिद्धान्त**—कुछ विद्वानों के विचार में भारत ही आर्यों का आदि देश था और यह कहीं बाहर से नहीं आए थे। श्री अविनाश चन्द्र दास के विचार में सप्त सिन्धु ही आर्यों का आदि देश था। कुछ अन्य विद्वानों के विचार में काश्मीर तथा गंगा का मैदान आर्यों का आदि देश था। भारतीय सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि आर्य-ग्रन्थों में आर्यों के कहीं बाहर से आने की चर्चा नहीं है और न जनश्रुतियों में ही उनके बाहर से आने का संकेत मिलता है। इसके विपरीत आर्य-ग्रन्थों में सर्वत्र सप्त सिन्धु का ही गुणगान किया गया है। इन विद्वानों का यह भी कहना है कि वैदिक आर्यों का आदि साहित्य है। यदि आर्य सप्त सिन्धु में कहीं बाहर से आए तो इनका साहित्य अन्यत्र नहीं मिलता। ऋग्वेद की भौगोलिक स्थिति से यही प्रकट होता है कि ऋग्वेद के मंत्रों की रचना करने वालों का मूल स्थान पंजाब तथा उसके समीप का देश ही था।

भारत के सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक जीवन के विधि-व्यवस्थापक महापुरुष मनु ने इस बात का विस्तार से उल्लेख किया है कि भारत की पश्चिमोत्तर सीमा के अन्तर्गत पौण्ड्र, औड़, द्रविड़, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात और खश जातियों का निवास था। ब्राह्मण-ग्रन्थ भी इस तथ्य का साक्ष्य प्रकट करते हैं। 'मनुस्मृति' में प्राचीन भारत को ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षिदेश, मध्यदेश और यहाँ तक कि आर्यदेश आदि अनेक नामों से अभिहित किया गया है। महर्षि वाल्मीकि की सुप्रसिद्ध एवं लोक विश्रुत अयोध्या नाम की नगरी का निर्माण मनु ने बताया है। अल् बरुनी के मतानुसार अति प्राचीन समय में आर्य लोगों का निवास हिमालय पर था। वहाँ की विपरीत जलवायु के कारण वे पीछे आर्यावर्त में आकर बस गये, जहाँ से अनेक जातियों, सम्प्रदायों में विभक्त होकर अनेक भू-भागों में बिखर गयीं। अपने एक भाषा शास्त्री मित्र को लक्ष्य करके टेलर महोदय ने भी यही स्वीकार किया है कि मनुष्य

आवश्यकताओं की पूर्ति न होने के कारण उन्हें अपना आदि- . स्थान त्याग देना पड़ा। यह भी निश्चित है कि अपनी जन्म भूमि को छोड़कर वे किसी निर्जन तथा उजाड़ प्रदेश में न गये, वरन् वे जहाँ गये वहाँ की भूमि उपजाऊ थी और वहाँ के मूल निवासियों के साथ इन्हें संघर्ष करना पड़ा। यही मूल निवासी अनार्य कहलाये क्योंकि वे डील-डौल, रंग-रूप, रहन-सहन आदि में आर्यों से भिन्न थे। चूँकि आर्यों ने इन अनार्यों को परास्त कर उन्हें अपना दास बना लिया, अतएव आर्यों ने अनार्यों को दास के नाम से भी पुकारा है। जब आर्यों ने अपने मूल स्थान को त्यागा, तब वे तीन प्रमुख शाखाओं में विभक्त हो गये। उनकी एक शाखा पश्चिम की ओर बढ़ी और धीरे-धीरे वह यूनान में पहुँच गई। कालान्तर में यह लोग यूनानी आर्य कहलाने लगे और वहाँ से वे लोग यूरोप के अन्य देशों में फैल गए। आर्यों की दूसरी शाखा पर्यटन करती हुई ईरान पहुँची जिसे फारस भी कहते हैं। ये लोग ईरानी आर्य कहलाये। तीसरी शाखा का प्रसार भारतवर्ष में हुआ। ईरानी तथा भारतीय आर्यों में बड़ी समानता है जिससे यह अनुमान लगाया गया है कि आर्यों की यह दोनों शाखायें कभी एक ही स्थान पर निवास करती रही होंगी।

भारोपीय तथा भारत ईरानी आर्य सम्बन्ध तथा संस्कृत की प्राचीनता — वस्तुतः वेद में व्यक्त संस्कृत के प्राचीनतम रूप के व्याकरणिक आकार की केल्टिक, यूनानी, लैटिन, जर्मन, स्लेवोनियन और पर्शियन आदि के साथ समता करने से सिद्ध होता है कि इन सभी भाषाओं का आधार एक था अथवा ये सब एक ही मूल भाषा से उत्पन्न हुई हैं वह भाषा केवल आदिभाषा (भारोपीय भाषा) ही हो सकती है जिसका हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं और संस्कृत ही ऐसी एक भाषा है जिसमें मूल रूप सबसे अधिक आज भी उपस्थित है। उसका ध्वनि-परिवर्तन इस बात को पूर्ण स्पष्ट करता है। इसके बोलने वाले एक ही वंश के थे और इन्हीं आर्यों की शाखा-उपशाखाएँ विभिन्न प्रदेशों में बस गईं। इसका उल्लेख प्रथम उल्लास में कर चुके हैं। भारोपीय तथा सेमेटिक भाषाओं के बीच बहुत कुछ अन्तर है।

विभिन्न प्रदेशों में रहकर पृथक होने वाली इस सजातीय जाति की मूल भाषा क्या थी और उसका सबसे अधिक सुरक्षित रूप संस्कृत में ही रहा। विभिन्न सजातीय शब्दों की तुलना से निष्कर्ष निकलता है कि मूल भाषा के कुछ व्यञ्जन सभी बोलियों में उपलब्ध हैं। इसको नीचे स्पष्ट करते हैं :—

भारोपीय आदिभाषा	वैदिक संस्कृत	जिन्दा प्राचीन बैक्ट्रियन	यूनानी	लैटिन
क	क, च	क, च	क (K)	ग (y) क
	ष प	ष प	प π	त T

ईरानी भाषा की प्राचीन स्थिति का प्रतिनिधित्व अवेस्ता तथा प्राचीन फारसी साहित्य के द्वारा किया जाता है और यह ही ग्रन्थ वैदिक संस्कृत की तुलना की दृष्टि से अत्यधिक महत्व के हैं। अवेस्ता, जरथुस्त्रीय धर्म के मतानुसार, के द्वारा सुरक्षित पवित्र लेखों का प्राचीन संग्रह है और जिसके आधार पर यह भाषा भी अवेस्ता कहलाती है। यह कोरासमिया प्रदेश में प्रचलित पूर्वी ईरानी विभाषा जान पड़ती है। अवेस्ता का प्राचीनतम् भाग, गाथायें, स्वयं जरथुस्त्र की रचनाएँ मानी जाती हैं, जिन्हें ईरानी परम्परा के अनुसार ६०० ई० पूर्व के आसपास रक्खा जा सकता है। इस तिथि के अनुसार प्राचीनतम् ईरानी, हमारे द्वारा प्राचीनतम् वैदिक मन्त्र-भाग के लिए निर्धारित तिथि से बहुत बाद की है। दूसरी ओर यह भाषा ऋग्वेद की भाषा की अपेक्षा किसी भी दशा में कम 'आर्ष' (Archaric) नहीं है अपितु कुछ दृष्टि से अधिक ही 'आर्ष' है।

इस प्राचीन ईरानी भाषा तथा वेद की भाषा के सम्बंध इतने घनिष्ठ है कि एक के बिना अन्य भाषा का अध्ययन सन्तोषपूर्वक नहीं किया जा सकता। व्याकरण की दृष्टि से इनमें बहुत कम भेद पाया जाता है। अधिकांश शब्दावली दोनों में समान है तथा ऐसे शब्दों की एक लम्बी तालिका दी जा सकती है, जो इन दोनो भाषाओं में पाए जाते है, किंतु अन्य भारत यूरोपीय भाषाओं में उपलब्ध नहीं होते :—

संस्कृत	अवेस्ता	पु० फारसी
हिरण्य	जरन्य (Zaranya)	'सुवर्ण'
सेना	हएना (Haena)	हइना (Haina)
ऋष्टि	अर्श्ति (Arsti)	भएना
क्षत्र	क्षथ्र Ksa ra	राजन्य
अथर्वन	अथ उर्वन् (aθurvan)	अग्नि पुरोहित
मित्र	मिथ् (Miθra)	सूर्य

यम विवस्वन्त का पुत्र यिम (Yima) वीव ह्वन्त (Vivabant) का पुत्र

इस क्षेत्र में जरथुस्त्र के नाम से सम्बद्ध धार्मिक परिवर्तनों ने ईरानी प्रथा में कतिपय शब्दों के अर्थों को परिवर्तित कर दिया है। उदा० अवेस्तादएव (daev) पु० फा० दइव (daiva) जो सं० देव='देवतो' का सामानान्तर है 'दैत्य' अर्थ का वहन करता है। इसी प्रकार कतिपय वैदिक देवता अवेस्ता में दानवी शक्तियों के रूप में पाये जाते हैं सं० इन्द्रनासत्य—अवे० इन्द्र-नाङ्हइत्य (Nanhaiya)

अब आगे भारोपीय ध्वनि समूह तथा वैदिक ध्वनि समूह का तुलनात्मक अध्ययन करेंगे और स्पष्ट करेंगे कि किस प्रकार भारोपीय ध्वनियां संस्कृत में ही अधिक सुरक्षित रह सकी

भारोपीय ध्वनि-समूह

स्वर—अ (a), आ (ā), ए (e), ओ (o), ओ (ō) [illegible] इ (i),
ई (ī), उ (u), ऊ (ū)।

इनका विभाजन इस प्रकार है :—

ह्रस्वार्ध—अँ (a)

ह्रस्व—अ (a), इ (i), उ (u), ए (e), ओ (o)

दीर्घ—आ (ā), ई (ī), ऊ (ū), ए (ē), ओ (ō)

स्वनंत वर्ण—उस मूल भाषा में कुछ ऐसे स्वनंत वर्ण भी थे जो [illegible] का काम करते थे, जैसे m̥, n̥, r̥, l̥ नागरी में इन्हें हम म्, न्, ऋ्, लृ् लिख सकते हैं। म (m̥) न (n̥) आक्षरिक अनुनासिक व्यंजन है और ऋ (r̥), (लृ) (l̥) आक्षरिक द्रव [illegible] व्यंजन हैं।

संध्यक्षर—ai, āi, ei, ie, oi, au, āu, eu, ou, ōu, am, an, ar, al,

व्यंजन-स्पर्श वर्ण—

(१) ओष्ठ्य वर्ण—प् फ् ब् भ म (p, ph, b, bh, m)

(२) दंत्य, अथवा दंत मूलीय—त् थ् द् ध न् (t, th, d, dh, n)

(३) कण्ठोष्ठ्य—क्व् ख्व् ग्व् घ्व ङ् (Qw, wh, gw, gwh, n)

(४) पश्चात् कंठ्य अथवा कण्ठ्य—क्, ख्, ग्, घ्, ङ (Q, qh, g, gh, n)

(५) तालव्य[1] या पुरः कण्ठ्य—क्, ख्, ग्, घ्, ङ्, (k, kh, g, gh, n)

अर्धस्वर—य (i) और व (u) होते हैं।

द्रव-वर्ण—र् (r) और ल् (l)

सोष्म ध्वनि—स (s), ज (z), य (j), व (v), [illegible]
[illegible] (ष)

भारोपीय (भाषा-परिवार) का प्राचीन [illegible] भारत-ईरानी वर्ग है।

वैदिक संस्कृत और अवेस्ता भाषाओं [illegible] है। [illegible] ध्वनि समूह का आर्य-ध्वनियों से सम्बन्ध नहीं है क्योंकि उनका विकास ईरानी के रूप में हुआ और वैदिक संस्कृत का संस्कृत-प्राकृत आदि में।

वैदिक ध्वनि-समूह

इस ध्वनि-समूह में ५२ ध्वनियाँ पायी जाती हैं—१३ स्वर और ३९ व्यंजन।

स्वर—

—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ

ए[1] ओ ऐ औ[1]

व्यंजन—

कण्ठ्य—क्, ख्, ग्, घ् ङ्

तालव्य—च, छ, ज, झ्, ञ

मूर्धन्य—ट् ठ, ड्, ढ्, ळ³, ळ्ह्, ण्

दंत्य—त्, थ्, द्, ध, न्

ओष्ठ्य—प, फ्, ब्, भ्, म्

अंतस्थ—य्, र, ल्, व्

उष्म—श्, ष्, स्

प्राणध्वनि—ह्

अनुनासिक—(अनुस्वार)

अघोष सोष्म वर्ण—विसर्जनीय, जिह्वामूलीय और उपध्मनीय वैदिक भाषा में भारोपीय मूल भाषा की अनेक ध्वनियाँ नहीं पायी जातीं। भारोपीय काल का तालव्य स्पर्श वैदिक मे सोष्म श के रूप मे देख पडता है। वैदिक ध्वनियों में सात मूर्धन्य व्यंजन और एक मूर्धन्य ष ये आठ ध्वनि नई संपत्ति हैं।

अब दोनों के स्वर एवं व्यञ्जनों का तुलनात्मक अध्ययन् करते हैं कि ग्रीक आदि की अपेक्षा सस्कृत ही प्राचीनतम तथा मूल भाषा के निकट है।

सस्कृत तथा अन्य भारत-यूरोपीय स्वर-ध्वनियों के बीच परस्पर समानता तथा सम्बन्ध निम्नलिखित तालिका से प्राप्त किए जा सकते है, जिसमें उदा० कल्पित मूल भारत-यूरोपीय स्वर ध्वनि के अनुसार दिए गए हैं :

अ : सं० अज्र—'सादा', ग्रीक अग्रास (agros) 'मैदान', लैटिन अगर (ager), अंग्रेजी एकन् (acne); अपे—'दूर मे', ग्रीक अपो (apo), लैटिन अब् (ab); अन्ति 'विरुद्ध, नजदीक', ग्रीक अन्ति (anti), लैटिन अन्त (anti)।

ए : सं० भरेति 'धारण करना है', ग्रीक फेरई (pherei), लैटिन फेर्त् (fert), प्रा० आयरिश बरिद् (berid), अस्ति 'है', ग्रीक एस्ति (esti), लैटिन एस्त् (est); अश्व—'घोड़ा', लैटिन एक्वुस (eqvus)।

ओ: स० अवि—'भेड', ग्रीक ओइस (ois), लैटिन ऑविस (ovis); पति—'पति, स्वामी', ग्रीक पासिस (posis), लैटिन पातिस (potis) 'योग्य', अपस्—'कार्य', लैटिन ओपुस (opus), अनस्—'गाड़ी' लैटिन।

आ : मातर—'मा' लैटिन मातर् (mater); भ्रातर 'भाई', लैटिन फ्रतर् (frater); स्वादु—'मीठा' ग्रीक हादुस (hadus), हेदुस (hedus) लैटिन सुआविस् (suavis)।

ए : सं० राज्—'राजन्' 'राजा', लैटिन रेक्स (rex); मास्—'महीना' ग्रीक मेन् (men), लैटिन मन्सिस (mensis); सामि—'आधा', ग्रीक हेमि hemi, लैटिन सेमि semi

(ग्र–) न: सं० मत 'विचार, समझा हुआ', मति—'बुद्धि, सिद्धांत', (मस्–), ग्रीक अउतामतास् (automatos) 'अपनी बुद्धि से', लैटिन काम्मन्तुस् (commentus) मन्स् (mens) मन्तिओ (mentio)।

(ग्र) ग्र: सं० शतम्—'सौ', ग्रीक ह्कतान् (hekaton), लैटिन कन्तुम (centum), गॉथिक हुन्दु (hund), वेल्श कन्त (cant), लिथु० शिम्तस् (simtas)।

निम्नलिखित दशाओं में भारत-यूरोपीय व्यंजन ध्वनि, संस्कृत तथा अपर भाषाओं में अपरिवर्तित रूप में सुरक्षित है।

प् : पञ्च '५' ग्रीक पॅन्ते (pente); पतेति 'उड़ता है' ग्रीक पतॅतई (petetai); अपे 'दूर से', ग्रीक अपि (api) सर्पति 'रेंगता है; ग्रीक हॅर्पई (herpei) लैटिन सर्पित (serpit)।

त् : तनु—'पतला' ग्रीक तनु (tanu) लैटिन तेनुइस (tenuis); 'त्रय:' '३' ग्रीक त्रइस (treis) लैटिन त्रेस् (tres); वर्तते 'है, घूमता है' लैटिन वॅर्तो (verto)।

द् : दश '१०' ग्रीक दॅक (deka) लैटिन दकॅम (decem)।

न् : नाम 'नाम' लैटिन नोमॅन (nomen); नव—'नया', ग्रीक नओस (neos, लैटिन नॉवुस (novus)।

म्: मातर 'माता' लैटिन मातर (mater) मा—मुझको लैटिन मे (me) मूष—'चूहा' लैटिन मुस (mus) प्रा० स्ला० मूशि (mysi) दम—मकान् ग्रीक दॉमॉस (domos) लैटिन दामुस (domus)।

ल : लुभ—लुभ्यति—इच्छा करना, लोभ करना, लैटिन लबुत (Lubet) गॉथिक लिउफ्स (luifs) प्रा० स्ला० ल्यूबु (Ľubu)।

र् : रुधिर—'लाल' खून ग्रीक एरूथ्रॉस (eruthros) लैटिन रुबर (ruber)।

य : युवन 'युवा पुरुष' लैटिन युवनिस (iuvenis)।

श् : सन्—'पुराना' लैटिन सनॅक्स (senex) 'आयरिश, सेन्' (sen)।

सघोष महाप्राण ध्वनियाँ, जिनके विषय में सामान्यत: यह माना जाता है कि ये भारत-यूरोपीय भाषा में थीं, वर्ग के रूप में केवल संस्कृत में ही सुरक्षित है। अन्यत्र ये अलग-अलग ढंग से परिवर्तित हो गयी है। ईरानी, स्लावी आदि में महाप्राणता लुप्त हो गयी है; ग्रीक में इन्हें, सम्बद्ध, अघोष, महाप्राण के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है; लैटिन (अन्य इटैलिक विभाषाओं) में ये घर्ष ध्वनियों में परिवर्तित हो गयी हैं। इस भाषा के उदा० निम्नलिखित है :—

ध् : धा—दधेति 'धारण करना' अवे० ददाइति (dadaiti), ग्रीक तिथेमि tithemi लिथुआनी देति deti।

क: सं० कक्ष—'काँख' तुल० लैटिन काक्स (coxa) प्रा० हाई जर्मन हहस् (hahsa); सं० क्रविष—'कच्चा मांस', लिथुआनी क्रउयस् (krauyas), प्रा० स्ला० क्रुवि (kruvi) 'खून' ग्रीक क्रेअस (kreas) लैटिन क्रुअर (cruor)।

ग: सं० स्थग्—'ढँकना' ग्रीक स्तेगो (stego), लैटिन तेगो (tego) तिग्म् 'तीक्ष्ण'।

घ: स्तिघ—'लंबे डग मारना', ग्रीक स्तइख्हो (steikho) गथिक स्तइग (steiga), दीर्घ—लम्बा, प्रा० स्ला० दुलुगु (dlugu), ग्रीक दॉलिखास (dolikhos), हिली दलुगश (dalugas); मेघ—'बादल', लिथु० मिग्ल (migla), ग्रीक श्रामिल्खे (omilkhe)।

संस्कृत, यूनानी, लैटिन, अंग्रेजी शब्दों का तुलनात्मक वर्णन देते हैं :—

संस्कृत यूनानी और लैटिन तीनों भाषाओं के बहुत से शब्दों में समानता पाई जाती है जबकि कहीं-कहीं उनमें विषमता भी है संस्कृत 'क' यूनानी लैटिन में 'क' ही रहता है, यथा 'अक्ष' एक्सोन, एक्सिस, किन्तु यूनानी और लैटिन 'क' संस्कृत में 'श' भी व्यक्त होता है यथा—केन्तुम्—शतम्, कुओन, केनिस—श्वन्। यूनानी, लैटिन 'ग' संस्कृत में 'ज' होता है यथा नोस्को—जानामि, गेन्नाओ, एगो—अजामि। यूनानी 'ख' (X) संस्कृत में घ' और 'ह' यथा—एलखुस—लघुस, एखिस—अहि। किन्तु लैटिन में 'ह' और 'ग' होता है यथा खेमा—हिम, हेम्स, एखिस— ऐंगुइस। यूनानी 'थ' (θ) को संस्कृत में 'ध' यथा—तिथेमि—दधामि, किन्तु लैटिन में 'फ' अथवा 'द' बोलते हैं यथा—थुमोस—फुमुस। यूनानी 'फ' (φ) संस्कृत में 'भ' फुओ—भवामि, लैटिन में 'फ' और 'ब' से व्यक्त करते हैं। ओफ्रुस—भ्रू, फेरो—भरामि, फेरो, इस प्रकार विभिन्न परिवर्तन पाये जाते हैं जो निम्न उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगें :—

संस्कृत	अवेस्ता	यूनानी	लैटिन	अंग्रेजी (गाथिक)
पितर	पतर	पटेर	पटेर	फॉदर
मातर	मातर	मेटर	मटेर	मदर
भ्रातर	ब्रातर	फ्रांत्रिअ	फ्रटेट	ब्रदर
पति	पैति	पासिस	पोतिस	हस्बैन्ड
शिरस्	सर	कर	केरे ब्रुम	ब्रेन, हेड
अक्षि	अशि	ओकोस	ओकुलुस	आई
दत् दन्तम्	दन्तन्	ओदोन्ट	देन्टेम	टूथ
पद पाद	पाद	पोदोम	पेदिस	फुट
श्रोणि	श्रओनि	क्लोनिस	क्लूनिस	हिप
पशु	पसु	पोव	पेकु	फैटस
गो	गाओ	बुस	बोस	फॉक्स

संस्कृत की प्राचीनता तथा भारत में ही भाषा शास्त्र का सूत्रपात :—

भारत का अहोभाग्य है कि उसके पास ६ हजार वर्ष पूर्व की सभ्यता का पूर्ण चित्र वेदों के रूप में सुरक्षित है; उसमें क्या नहीं है यही जटिल प्रश्न है। क्या क्या है यह सरल। ग्रीकों की लिखित सभ्यता केवल २६०० वर्ष पूर्व तक जा सकती है। प्राचीन शब्दों की प्रामाणिकता के आधार के लिए लिखित साहित्य की एकमात्र शरण लेनी पड़ती है। पाश्चात्यों में से ग्रीक या यूनान का साहित्य विक्रम स० से ७५० वर्ष पूर्व तक होमर की कविता रूप में मिल सकता है, जर्मनिक भाषाओं मे, गौथिक का ४५० संवत् से, नार्वी का ६५० संवत् से आगे, सेक्सन और अंग्रेजी का ८५० संवत् से फ्रिशियन का १३५० संवत् मे, उच्च जर्मन का ६५० संवत् से आगे का लिखित साहित्य मिलता है, उसके पहिले उक्त सब जातियों का इतिहास, कम से कम भाषा का इतिहास नितान्त अन्धकारमय और शून्य है। उधर जब हम भारतीय प्राचीन लिखित या सुरक्षित साहित्य की ओर दृष्टिपात करते है तो पाश्चात्यों की सम्मति से ऋग्वेदादिकों की अधिकतम प्राचीनता विक्रम संवत् से १२०० वर्ष पूर्व तक स्वीकृत मिलती जाती है, परन्तु जब हम ग्रन्थों और प्राचीन लेखकों के इतिहास की रूपरेखा खींचने का प्रयास करते हैं तो ऋग्वेदादिकों का उक्त स्वीकृत काल अपूर्ण, अनर्गल और कुछ प्रभुतामदीय गत संरक्षणमूलक-सा प्रतीत होने लग जाता है। अतः कई समझदार जर्मन लेखकों ने वेदमंत्र युग को वि० सं० पूर्व २००० वर्ष से ३००० वर्ष तक ब्राह्मण ग्रन्थ युग विक्रम सं० १२०० से २००० वर्ष पूर्व तक और उपनिषद् गृह्यसूत्रादि युग वि० सं० से पूर्व ७५० से १२०० तक माना है। (विन्टर्नीज)। उसका समर्थन तिलक आदि भारतीय विद्वानों ने भी किया है, आचार्य आल्तेकर ने महाभारत युद्ध का समय विक्रम सं० पूर्व १४८५ वर्ष माना है, यद्यपि भारतीय पंचांगों में कलियुग के आरम्भ से अब तक ५०५६ वर्ष बीत गये हैं। पुराणों के अनुसार भगवान कृष्ण के लगभग ५० वर्ष पश्चात् परीक्षित राज्योत्तर काल से कलियुग माना गया है। कृष्ण का नाम छान्दोग्य उपनिषद् में मिलता है पर न यास्क के निरुक्त में, न बृहद्देवता में, वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में तो कहाँ से होगा, वाल्मीकि को कृष्ण का पता नहीं है। गीता को राम का नहीं पर परशुराम को जानती है। ('रामः शस्त्रभृतामहम्' १० गीता)। अतः यास्क, गीता और वाल्मीकि इन तीनों का युग लगभग आसपास ही वि० सं०७०० से ६०० वर्ष पूर्व के बीच का मानना संगत होगा। यास्क ने प्राचीन १४ वैयाकरणों के नाम दिये हैं पर पाणिनि का नहीं दिया है। अतः पाणिनि यास्कोत्तर काल के लगभग वि० सं० ५०० वर्ष पूर्व के होंगे। यास्क के समय मे बहुत-बहुत-सैकड़ों वर्ष पूर्व ब्राह्मण ग्रन्थों ने [illegible] 'निम्नो धावो दरयन्ति' की व्याख्या में कई प्रकार की कल्पनाओं का ढेर लगा रखा है यह कहने में कोई

मन्त्र की तरह छान छान कर अपने आपस में बराबर परामर्श कर भाषा का निर्माण किया है। अतः उनकी वाणी में प्रतिभा या ज्ञानराशि का सचित भण्डार है। 'भाषा बहिर्ब्रह्माण्ड के उन अखिल चित्रों का वर्णन है जो क्षीरसागर या सबमें सूक्ष्मतम अणु या शब्दाणु से बने रहते है वही शब्दाणु चित्र प्रतिभा मे सजीवता या पश्यन्ती का रूप पाकर पुन. प्राणवायु का रूप धारण कर जब सरस्वती (जिह्वा) मे स्थानकरण के आघात प्रघात से तैजस पाक द्वारा ध्वनि का रूप धारण करते हैं तो पुनः अपने प्रथम स्वरूप बहिर्ब्रह्माण्ड के चित्र को स्फोट रूप म, अर्थ प्रतिबिम्बित स्वरूप में अनुभूत करते हुए वाक्य या भाषा कहलाता है। भाषा विज्ञान ने जितना और जैसा आज तक काम किया है उसके आधार पर यह कहना यथार्थतः सत्य है कि भाषाविज्ञान माने निरुक्त या निरुक्ति है। हमारे निरुक्तकारों ने वैदिक और शास्त्रीय संस्कृत के शब्दों की निरुक्ति उनके मौलिक धातुओं और शब्दों को आधार-शिला बनाकर तथा भाषा में अनेक प्रकार के दैनिक, नैत्यिक और नैमित्तिक कारणों से जो विप्रकर्ष, आदि लोप, वर्ण लोप, विपर्यय अन्तः व्यापत्ति, भाषिक धातुओं से नैगम, नैगमों से भाषिक शब्दों का बनना माना है। ठीक उसी प्रकार पाश्चात्य लोगों ने निरुक्तकारों की ही स्वीकृति सरणी को अक्षरशः अपनाकर, पौर्वात्य पाश्चात्य आर्य भाषाओं के शब्दों के मूल धातुओं की एक सूची सी बनाकर उनसे सभी भाषाओं के शब्दों के विकास की निरुक्ति देने का प्रयास किया। तदनन्तर उसी ढंग से प्राकृत, अपभ्रंश और आधुनिक भाषाओं के शब्दों की निरुक्ति मात्र की। इन दोनो प्रकार की निरुक्तियों को ये लोग भ्रम से ध्वनि विकास (फोनोलोजी) नाम से पुकारते रहे, वास्तव में यह था ध्वनि विकार, ध्वनियों का निरन्तर विकृत होते-होते यह वर्तमान रूप धारण करना। विलियम जोन्स ने हमारे प्रातिशाख्यकारों तथा पाणिनि जी के व्याकरण के भाषा तत्व शास्त्र सम्बन्धी कई धुरन्धर विद्वानों को प्रातिशाख्य और अष्टाध्यायी के गम्भीर अध्ययन की ओर प्रवृत्त कर दिया। पाणिनि जी को गुरु मानकर उन्होंने केवल अपनी भाषाओं के व्याकरण सबसे पहिले पहल लिखना ही आरम्भ नहीं किया वरन् संस्कृत के व्याकरणों का अंग्रेजी में अनुवाद करके वे अपने देश के लोगों की आँखें खोलने लगे। मैक्समूलर के प्रातिशाख्यों के अनुवाद अंग्रेजी और जर्मन में प्रस्तुत होते ही यूरोपीय विद्वानों का एक बड़ा दल भाषातत्व शास्त्र की छानबीन में जुट गया। मैलनोव्स्की ने सबसे पहले अक्षर या वर्ण कुल या सिद्ध ध्वनि (फोनीम) पर विचार करना तब उपयुक्त समझा जब वे वैदिक स्वर (उदात्तादि) की विशेषताओं को इसके ज्ञान के बिना समझने मे असमर्थ हो गये। प्रो० ज० र० फर्थ लाहौर विश्वविद्यालय में भाषाविज्ञान के अध्यापक थे उन्होंने भर्तृहरि के वाक्य पदीय के कुछ अंश का अंग्रेजी में अनुवाद किया प्रातिशाख्यों के अनुवादों को पढ़कर अक्षर तत्व (फोनीम) की अपनी

आदि। ये सब भाषाएँ मूल आर्यभाषा से ही उत्पन्न हुई हैं। पूर्वी शाखा में दो प्रधान विभाग हैं—ईरानी और भारतीय। ईरानी भाषा का नाम 'जन्द अवेस्ता' है जिसमें पारसियों के मूल धार्मिक ग्रंथ लिखे गये हैं। भारतीय-शाखा में संस्कृत ही सर्वस्व है। आर्य भाषाओं में यही सबसे प्राचीनतम है।

भारतीय ज्ञान-विकास का ऐतिहासिक क्रम वेदों से आरम्भ होता है। वेदों के बाद वैदिक-साहित्य और तदनन्तर षड् वेदांगों का समय आता है। इस काल में जो ग्रंथ रचे गये वे वेद के अर्थ तथा विषय को समझने के लिए नितान्त उपयोगी हैं। इसलिए इन्हें वेद का अङ्ग या 'वेदाङ्ग' कहते हैं जो संख्या में छः हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष, इसमें व्याकरण वेद का मुख है, ज्योतिष नेत्र, निरुक्त श्रोत्र, कल्प हाथ, शिक्षा नासिका, छन्द दोनों पाद[२]।

(२) छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥

१. 'पाणिनी-शिक्षा' में शुद्धोच्चारण और शुद्ध स्वर-क्रिया पर बड़ा जोर दिया गया है और साथ ही उस वेदपाठ के परिणाम पर भी प्रकाश डाला गया है। शुद्ध उच्चरित वर्ण इस लोक में तो उसको सम्मान प्रदान करते ही हैं साथ ही ब्रह्मलोक में भी उसकी बड़ी प्रतिष्ठा होती है। विशुद्ध पाठ के साथ उच्चरित वेदमन्त्रों में स्वयं व ब्रह्म विराजते हैं।

२. एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या नाव्यक्ता न च पीडिताः।
सम्यक् - वर्ण - प्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते॥
सुतीर्थादागतं व्यक्तं स्वाम्नायं सुव्यवस्थितम्।
सुस्वरेण सुवक्त्रेण प्रयुक्तं ब्रह्म राजते॥

३. धर्म-व्याख्याता आचार्य याज्ञवल्क्य का कहना है कि वेदों को अध्यापन करते हुए गुरुजन उनकी शुद्धता पर बड़ा ध्यान रखते थे। गुरु की शिष्य के प्रति सबसे पहली दीक्षा शुद्ध उच्चारण और विधिपूर्वक स्वर क्रिया के लिए होती थी[४]।

४. अभ्यासार्थे द्रुतां वृत्तिं प्रयोगार्थे तु मध्यमाम्।
शिष्याणामुपदेशार्थं कुर्याद् वृत्तिं विलम्बिताम्॥

५. ध्वनि का आरोह-अवरोह, उच्चारण की विशुद्धता और कालावधि का परिसीमन 'शिक्षा' का मुख्य विषय है। सामान्यतः वर्ण, स्वर, मात्रा बल, साम और संतान ये छः बातें शिक्षाशास्त्र का वर्ण्य विषय हैं अ से लेकर ह तक

जितने भी वर्ण हैं, विविध स्थानीय होने के कारण उनका पूरा ज्ञान होना आवश्यक है। वर्णों के स्थान हैं : कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ। जो वर्ण जिस स्थान का है उसका उच्चारण वैसा ही होना चाहिए। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद में कितने ही मन्त्र ऐसे मिलते हैं। जिनमें शब्दों की व्युत्पत्ति स्पष्ट रूप से की गई है। ऋग्वेद के निम्नलिखित मन्त्रों का पतञ्जलि ने (म॰ भा॰ आ॰ १) व्याकरण विषयक अर्थ किया है।

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा, द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति, महो देवो मर्त्याँ आ विवेश॥ (ऋ॰ ४-५८-३)

शब्द (व्याकरण) रूपी वृषभ के चार सींग हैं—नाम, आख्यात (क्रिया), उपसर्ग और निपात। इसके तीन पैर हैं—भूत, वर्तमान और भविष्य। इसके दो सिर हैं—सुप् और तिङ्। इसके सात हाथ हैं—प्रथमा आदि सात विभक्तियाँ। यह तीन स्थानों पर बँधा हुआ है—उर (छाती) कण्ठ और सिर। यह शब्द महादेव है और मनुष्यों में व्याप्त है।

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।

उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥ (ऋ॰ १०-७१-४)

जो व्याकरण को नहीं जानता और अनभिज्ञ है, वह वाक्तत्त्व को देखते हुए भी नहीं देखता है उसे सुनते हुए भी नहीं सुनता है, परन्तु जो वाक्तत्त्व को जानता है और शब्दवित् है, उसके लिए वाणी अपने स्वरूप को इसी प्रकार प्रकट करती है, जैसे स्त्री अपने स्वरूप को अपने पति के लिए। अथर्ववेद व्याकरण प्रधान ग्रन्थ है। उसने सर्वप्रथम सत्य और अनृत का व्याकरण (विवेचन, विश्लेषण) किया। व्याकरण का जो सूत्रपात वैदिक युग में हुआ था, उसका पर्याप्त विकास ब्राह्मण-युग में हुआ।

गोपथ ब्राह्मण में एक प्रसंग मिलता है—ओंकारं पृच्छामः, को धातुः, किं प्रातिपदिकम्, किं नामाख्यातम्, किं लिङ्गम्, किं वचनम्, का विभक्तिः, कः प्रत्ययः, कः स्वर उपसर्गो निपातः, किं वै व्याकरणम्, को विकारः, को विकारी, कति मात्राः, कति वर्णाः, कत्यक्षराः, कति पदाः, कः संयोगः, किं स्थानानुप्रदानकरणम्, शिक्षकाः किमुच्चारयन्ति, किं छन्दः, को वर्णः इति पूर्वे प्रश्नाः। इसमें धातु, प्रातिपदिक, नाम, लिंग, वचन, विभक्ति, प्रत्यय और स्वर शब्द व्याकरण में संबद्ध हैं। गोपथ-ब्राह्मण तथा अन्य ग्रन्थों के निर्माण से बहुत पूर्व ही शिक्षा के अतिरिक्त वेद के अनेक व्यवस्थित, प्रामाणिक और पूर्ण व्याकरणों का निर्माण हो चुका था।

जिस संयत, सूक्ष्म और व्यापक क्रम से आर्य ऋषियों ने वाणी की उत्पत्ति, शब्दों के निर्माण, उनकी उत्पत्ति तथा व्युत्पत्ति उनका अर्थ , वाक्यों में उनके प्रयोग, एक-एक शब्द के भिन्न अर्थ, शब्दों की शक्ति के अनुसार अर्थ में
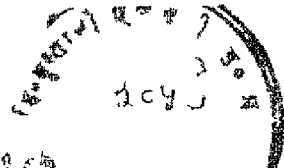
चमत्कार, शब्दों का इतिहास, भाषा के गुण और संस्कार, उच्चारण के सूक्ष्म रूप और उनकी प्रक्रिया सब का जितना साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया उतना वर्तमान काल के विश्व भर के भाषा शास्त्रियों ने नहीं किया। अपौरुषेय वेद की दैवीवाणी को लोकवाणी की प्रगल्भता और बहुरूपता से बचाने के लिए आर्य ऋषियों ने अष्टविकृति जैसी ऐसी-ऐसी पद्धतियों का विकास कर लिया था कि उनके कारण आज भी उसी प्रकार वेद-मन्त्रों का उच्चारण और पाठ होता है जैसे आज से सहस्रों वर्ष पहले हुआ करता था—

जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ता क्रमपूर्वा महर्षिभिः॥

वेद मन्त्रों के उच्चारण की शिक्षा के लिए शब्दों के उदात्त, अनुदात्त और स्वरित उच्चारण तथा आरोह-अवरोह का बहुत ध्यान रखा जाता था, जिसका विवरण पाणिनीय और याज्ञवल्क्य के शिक्षा-ग्रन्थों में मिलता है

वाणी या भाषा की शुद्धता:—(Purity of Speech) सर्वजनिक जीवन में भाषा का अत्यधिक महत्व है क्योंकि भाषा ही मानव के हृदयगत भाव, विचार, अनुभव और प्रतिक्रियादि को अभिव्यक्त करता है। वाणी से केवल भाव, विचार और संवेदनाओं का ही आदान-प्रदान नहीं होता अपितु उसका समाज की भावना को सन्तुष्ट करने, व्यक्ति की अहं भावना को उद्दीप्त करने तथा मानव को एकता के सूत्र में बाँधने के लिये भी प्रयोग होता है। सुसंस्कृत वाणी ही मनुष्य का सबसे बड़ा आभूषण है :—

केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वलाः,
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालङ्कृता मूर्धजाः।
वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते,
क्षीयन्ते खलुभूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम्॥

वाणी में सौन्दर्य का समावेश सर्वदा ऋत और सत्य के संयोजन से होता है ऋत तत्व के कारण ही ब्रह्माण्ड के समस्त पिण्ड और पदार्थ एक दूसरे से अलग होते हुए भी शाश्वत रूप से अविच्छिन्नतः एक दूसरे से सम्बद्ध है। मन और इन्द्रियों के माध्यम से जो कुछ कार्य किये जाते हैं वे सब सत्य या प्रत्यक्ष सत्य है। मन्त्र-द्रष्टा मनीषियों ने ऋतम्भरा वाणी के दर्शन मन्त्रों के रूप में किए और वेदों को सबके हित के लिये प्रकट किया। महाकवि दण्डी ने वाणी (भाषा) की महत्ता को इस प्रकार प्रतिपादित किया है :—

इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते॥

वाणी के विषय में सभी देशों का प्राचीन मत यही है कि ईश्वर ने इसे मानव को दिया [illegible] व्याकरण का मत है कि शङ्कर भगवान ने १४ बार डमरू [illegible]

में परिवर्तन करती है तथा उदात्त, अनुदात्त स्वरित स्वर समाहारकों को भी व्यक्त करती है। ग्रन्थकार के अनुसार इस कुण्डली से शक्ति, शक्ति से ध्वनि, ध्वनि से नाद, नाद से निरोधिका, निरोधिका से अर्धेन्दु, अर्धेन्दु से बिन्दु तथा बिन्दु से अन्य पचास वर्णों की वर्णमाला उत्पन्न होती है। वह चित् शक्ति जब सत्व से संयुक्त होती है, तब वह शब्द, पद और वाक्य का रूप धारण कर लेती है। वही सत्व से युक्त चित् शक्ति जब आकाश में पहुँचकर रजो गुण से मिलती है, तब जो ध्वनि उत्पन्न होती है, वह शब्द कहलाती है। जब वह ध्वनि अक्षर-व्यवस्था में तमोगुण से मिलती है तब वह पद और वाक्य का रूप धारण कर लेती है। योगशास्त्र के अनुसार जब मूलाधार से पहले पहले नाद रूप में वर्णों की उत्पत्ति होती है तब उसे परा कहते हैं। वह वर्ण जब नाद रूप में मूलाधार से उठकर धीरे-धीरे हृदय में पहुँचता है, तब वह पश्यन्ती कहलाता है। जब वह हृदय से उठकर क्रमशः बुद्धि और संकल्प के साथ सम्पर्क कर लेता है तब उसे मध्यमा कहते हैं। उसके पश्चात् जब वह बुद्धि से उठकर कंठ में पहुँचकर मुख से प्रकट होता है तब वह वैखरी कहलाता है।

वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड में 'पश्यन्त्या मध्यमायाः च' नामक कारिका की भाव प्रदीप-टीका में पण्डित सूर्य नारायण शुक्ल ने लिखा है कि वास्तव में पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नाम की तीन ही प्रकार की वाणी होती है और ये तीनों स्थूला, सूक्ष्मा और परा भेद से तीन-तीन प्रकार की होती हैं। उनके अनुसार वाणी के नौ भेद होते हैं।

'वर्ण के व्यक्त रूपों से रहित केवल स्वरयुक्त संगीत-रूपी वाणी ही स्थूला पश्यन्ती है। वही जब जिज्ञासा-रूपिणी हो जाती है, तब सूक्ष्मा पश्यन्ती या सिद्धा परा पश्यन्ती कहलाती है। चमड़े से मढ़े हुए मृदंग आदि पर हाथ के आघात से उत्पन्न होकर प्रकट होने वाली ध्वनि रूपी वाणी ही स्थूला मध्यमा कहलाती है। वही जब विवक्षिषा अर्थात् बोलने की इच्छा को प्रेरित करने वाली होती है तब सूक्ष्मा मध्यमा कहलाती है। वही जब बोलने की इच्छा से रहित निश्चयात्मिका बनी रहती है, तब परा मध्यमा कहलाती है। इसी प्रकार अपने-अपने नियत स्थानों के कारण अलग-अलग वर्णों के रूप में प्रकट होने वाली वाणी स्थूला वैखरी कहलाती है। बोलने की इच्छा का रूप धारण करने वाली वाणी सूक्ष्मा वैखरी कहलाती है और बोलने की इच्छा से रहित केवल ज्ञानरूपा या बुद्धि रूपा वाणी परा वैखरी कहलाती है। पश्यन्ती वाणी ही सूक्ष्म होकर परा कहलाती है। अभिनवगुप्त के मतानुसार सृष्टि के सम्पूर्ण प्राणियों का सृजन कर तथा उन्हीं के मूलाधार में कुण्डलिनी रूप में विराजमान होती हुई चित् शक्ति भी परा वाणी कहलाती है

आत्मा, बुद्धि तथा मन के संयोग से मुख-विवर से वर्णों के रूप में निःसृत वाणी ही वैखरी है। श्री भागवत में लिखा है :—

स एष जीवो विवरप्रसूतिः
प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः
मनो मयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपम्
मात्रास्वरो वर्ण इति स्थाविष्ठः।
यथाऽनलः खेऽनिलबन्धुरुष्मा
बलेन दारुण्यधिमथ्यमानः।
अणुः प्रजातो हविषा समिध्यते
तथैव मे व्यक्तिरियं हि वाणी ॥ इति

तान्त्रिकों के मतानुसार भी चित् शक्तिरूपा परावाणी ही जगत् रूप को प्राप्त होती है। इस वैखरी वाणी का ही प्रातिशाख्य आदि में विवेचन मिलता है, यही वाणी संसार में व्यावहारिक रूप से सर्वत्र प्रयुक्त होती है।

नाद-ब्रह्म का सिद्धान्त:—भारतवर्ष के मनीषियों, शब्दशास्त्रियों और दार्शनिकों ने भाषा को केवल साधन ही नहीं, साध्य भी माना है। उन्होंने बताया कि सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति ही प्रणव (ॐ) या नाद ब्रह्म से हुई और यह नाद ब्रह्म ही सबके लिये ज्ञेय, प्राप्य या साध्य है जिसे प्राप्त कर चुकने पर मनुष्य पूर्णतः मुक्त और आनन्दमय हो जाता है और उसे कुछ अधिक जानना शेष नहीं रह जाता है। इतना ही नहीं—

एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यग्ज्ञातः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति।

"एक भी शब्द यदि भली प्रकार से जान लिया जाय और उसका समुचित प्रयोग करना किसी को आ जाय तो स्वर्गलोक में वह इच्छित फल देने वाला सिद्ध होता है।"

योगशास्त्र में नाद ब्रह्म के परिज्ञान के लिये अष्टांग-योग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) साधने का विधान किया गया है। जिन साधकों ने इस अष्टांग-योग की सिद्धि की है उनका कथन है कि शरीर के भीतर समावस्थित षट्चक्र (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा) का भेदन करके मनुष्य जब उस सहस्रार चक्र में प्राण को प्रतिष्ठित कर लेता है जहाँ परम ज्योति का प्रकाश फैला रहता है तब उसे वहाँ परावाणी अर्थात् अनाहत नाद का दिव्य संगीत सुनाई पड़ने लगता है। यह सिद्धान्त यदि हम वैज्ञानिक दृष्टि से मान्य न भी करें और यह न भी मानें कि नाद ब्रह्म या प्रणव से विश्व की उत्पत्ति हुई है तथापि व्यावहारिक रूप में यह मानना पड़ेगा कि यदि वाणी न होती तो संसार के अस्तित्व

का विवेचन किया ही नहीं जा सकता था। अतः संसार के शास्त्रतत्व की सिद्धि का आधार माया ही है।

शैवागम सिद्धान्त में भी जगज्जननी शक्ति को ही समस्त[illegible] कही गई है। भगवान् शंकर को इस संसार का अधिष्ठाता तथा नियामक माना गया है। इन्हीं की आदि-शक्ति संकुचित एवं प्रसरण शील है। यद्यपि परम शिव एकरस है उनमें कोई विकृति नहीं होती फिर भी उनकी यह [illegible] इस संसार रूपी पट का प्रसार और संकोच करती रहती है। इन्हीं दोनों को शब्दार्थ के रूप में अभिव्यक्त किया है। स्वयं कालिदास ने भी अपने रघुवंश महाकाव्य में इसी तथ्य का उल्लेख करते हुए भगवान् शंकर तथा पार्वती की वन्दना की है—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।

जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

तुलसीदास ने भी कहा है :—

"गिरा अर्थ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।"

सांख्य एवं योग में भी इसी शक्ति को मूलप्रकृति अव्यक्त तथा वेदान्त में माया कहा गया है, इसी नित्य शक्ति से प्रथम बिन्दु नाद प्रवर्त होता है। इसी बिन्दु को त्रिगुणात्मक अव्यक्त (सांख्य, योग की मूलप्रकृति) कहा जाता है। उसी बिन्दु का बीज अचित् अंश है। चित् और अचित् का मिश्रित रूप ही नाद है। इसी अचित् अंश के द्वारा शब्दार्थ [illegible] माया या अविद्या उत्पन्न हुई। उसी बिन्दु का शब्द ब्रह्म नाम पड़ा। इसी को 'स्व' यहाँ 'परा' कहा गया जो सृष्टि का उपादान कारण है :—

बिन्दोस्तस्माद् भिद्यमानाद्रवोऽव्यक्तात्मकोऽभवत्।

स एव श्रुति संपन्नैः शब्दब्रह्मेति गीयते॥

वाक्यपदीय :—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।

विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥

'अक्षर' की व्याख्या भी इसी संकेत को करती है "न क्षरतीति", "अक्षर,"—जिसका कभी नाश न हो अर्थात् जो स्वयं प्रकाश ब्रह्म रूप ही है।

मनुस्मृति में भी शब्द ही सृष्टि का मूल कारण कहा गया है :—

सर्वेषां तु नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।

वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥

अतः वैयाकरणों ने शब्द को नित्य माना है। इसी शब्द-ब्रह्म की पवित्रता को अक्षुण्ण रखने हेतु ही व्याकरण का सृजन हुआ। उच्चारण की शुद्धता एवं पावनता पर विशेष बल दिया गया क्योंकि उच्चारण की असावधानी ही शब्द ब्रह्म का अपमान है और वह अनर्थ का कारण बन जाती है।

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्र शत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥

महाभाष्य में भी लिखा है :—

उदात्ते कर्त्तव्ये योऽनुदात्तः करोति,
खडिकोऽपाध्यायः तस्मै चपेटां ददाति ।

जो उदात्त स्वर के बदले अनुदात्त का प्रयोग करता है उसे गुरू जी चाँटा मार देते हैं । अतः भाषण की पवित्रता, मधुरता, सरसता की ओर भारतीय मनीषियों का सर्वदा ध्यान रहा । उसे ब्रह्म का स्वरूप माना । अतः भाषा-शास्त्र का विवेचन निःसंदेह भारतीयों की ही देन है क्योंकि सृष्टि का विकास ही शब्द ब्रह्म से हुआ है । भाषण-शैली की सरसता मनुष्य के अन्तःकरण को किस प्रकार परिवर्तित कर देती है :—

मान्धाता च महीपति कृतयुगालंकार भूतो गतः,
सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वसौ दशास्यान्तकः ।
अन्ये चापि युधिष्ठरप्रभृतयो याता दिवं भूपते,
नैकेनापि समं गता वसुमती नून त्वया यास्यति ।

आगे इसी का अधिक विस्तृत वर्णन करते हुए शब्द ब्रह्म (ॐ) का प्रतिपादन करते हैं :—

गीता के श्लोक 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् । ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना ॥' (४-२४) का समुचित अर्थ—खं ब्रह्म य शब्दप्रकृति ही नहीं अपितु पुरुष भी है दोनों अभिन्न सहचर हैं । हमारा पंच भौतिक शरीर उसी खं ब्रह्म की विकास परम्परा का परिणाम है । अतः यह शरीर रूप विकृत ख ब्रह्म जिस वस्तु को अर्पण करता है वह भले ही समझे कि मैं पुरुष ब्रह्म को अर्पण कर रहा हूँ पर वास्तविकतया वह समस्त समर्पण खं ब्रह्म को ही होता है, समर्पण स्वयं खं ब्रह्म ही है, उसी की विकृतावस्था द्वारा समर्पण किया जाता है । उसी की विकृतावस्था की हवि दी जाती है । जो हवि है वह भी खं ब्रह्म ही है, उसका हवन भी खं ब्रह्म रूप की विकृतावस्था तेज या अग्नि में होता है हवन भी ब्रह्म का ही है हवनकर्ता भी तो खं ब्रह्म ही है इन सब प्रक्रियायों का अन्तिम परिणाम भी खं ब्रह्म में हो जाता है । समाधि तो बिना ख ब्रह्म के ज्ञान और प्रयोग के हो ही नहीं सकती क्योंकि समाधि साधना के लिए प्रणव की परमावश्यकता है । प्रणव भी खं ब्रह्म ही है । इसको एकाक्षर ब्रह्म भी कहते हैं 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् । यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥' (गीता ८ १३) ओम् का अर्थ इस ब्रह्माण्ड के व्यक्ताव्यक्त ब्र

समाहार रूप में विद्यमान है और स्वर का वैज्ञानिक क्रम अ ऋ इ उ लृ ए ऐ ओ औ है) उत्पन्न हुए। ये ६ स्वर १४४ ध्वनियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। अ=६, आ=६, ऋ=३०, लृ=१२, इ=१८, उ=१८, ए=१८, ऐ=१८, ओ=१८, औ=१८ कुल योग १४४ ध्वनियाँ हैं। यही ऋकारादि ऋचः है।

प्रत्येक ब्राह्मण, उपनिषद्, आरण्यक, अथर्वणादि ने शब्द ब्रह्म को अपनाकर प्रणव ओंकार और अन्य ध्वनियों के बारे में कुछ न कुछ अवश्य लिखा। कर्मकाण्डियों ने इसे भूत सिद्धि के रूप में सुरक्षित बनाये रखा तथा योगियों ने उक्त एकाक्षर ब्रह्म की साधना को मुख्य रूप दिया। पर इसके पहलुओं पर वैज्ञानिक ढंग से लिखना प्रातिशाख्यों ने आरम्भ किया। प्रातिशाख्यों में अब थोड़े उपलब्ध होते हैं। गर्ग शाकटायन और व्याडि का केवल नामोल्लेख मिलता है उनके ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं पर ऋक्प्रातिशाख्यों तैत्तिरीय प्रातिशाख्य प्रभृति कई ग्रन्थ उपलब्ध हैं इनमें अधिकतर ध्वनि विचार हैं। औदुम्बरायण वार्तक्षि और यास्क के ग्रन्थों में स्फोटवाद की ओर भाषा-तत्व शास्त्र की विवेचना है।

कोई प्राणी सजीव है या निर्जीव इस बात का बोध हमें शब्द से होता है। इस बीज का आधार चाहे प्राणवायुओं की श्वास-प्रश्वास क्रिया हो या हृदय या नाड़ी की धड़कन। इन दोनों का बोध उनके शब्द से होता है। अतः शब्द हमारी सज्ञा है चेतना है। व्याकरण ने प्राणियों का नाम संज्ञा इसलिए रखा है कि शब्द ब्रह्म चेतना रूप में विद्यमान रहता है। वार्ष्यायणि जी सर्वोच्च कोटि के प्रतिभा दर्शन वेत्ता हुए हैं। वे 'नामाख्यातोपसर्गनिपात' इन चार भेदों के स्थान में केवल 'भाव' शब्द सत्ता या निरन्तर क्रियाशीलता से शब्द सत्ता मानते हैं। अतः परम वैयाकरण भर्त्तृहरि जी लिखते हैं :—'सैषा संसारिणां संज्ञा बहिरन्तश्च वर्तते। तन्मात्र मव्यति क्रान्तेऽचैतन्यं सर्व जन्तुषु॥ अर्थ क्रियासु वाक् सर्वान् समीहयति देहिनः। तदुत्क्रान्तौ विसं ज्ञोऽयं दृश्यते काष्ठ कुड्यवत्॥ (ब्रह्मकाण्ड-वाक्य पदीय १२७, १२८)॥ वाणी या शब्द संसार के प्राणियों की चेतना है। यह शरीर के भीतर और बाहर (क्रम से परा और वैखरी रूप से) विद्यमान रहता है शब्द की सत्ता तक चेतना है या शब्द तत्व निकला नहीं कि प्राणी अचेतन हो जाता है। शब्द जीवनाधार मूल तत्व है। शब्द ही प्राणी को अपने-अपने कार्य में संलग्न कराता है।

शिवाथर्वशीर्ष (शिरः उपनिषद्) 'प्रणव' का वर्णन इस प्रकार किया है'—'यः उत्तरतः स ओंकारः य ओंकार स प्रणवः यः प्रणवः स सर्वव्यापी यः सर्वव्यापी सोऽनन्तः योऽनन्तस्तत्तारं, यत्तारं तच्छुक्लं यच्छुक्लं तत्सूक्ष्मं, यत्सूक्ष्म तद्वैद्युतं यद्वैद्युतं तत्परंब्रह्म. यत्परं ब्रह्म स एकः यः एकः स रुद्रः यो रुद्रः स ईशानः यः ईशानः सः भगवान् महेश्वरः" ।

यहाँ पर उपनिषदकार ने जो जो विशेषतायें ओंकार की बतलाई हैं वे सब तत्वतः या मूलतः शब्द की हैं क्योंकि ओंकार भी शब्द ही है। यह सर्वतो-मुखी प्रवाही तत्व है जिस स्थान पर शब्द होता है चाहे बोलने में गति क्रिया से या संघर्ष से हो, वह उस केन्द्र बिन्दु से सहस्रधारा या अनन्त धाराओं में सर्वतः प्रवाहित होता है। इसीलिए शब्द ब्रह्म को सहस्रार या सहस्रदल कमल कहते हैं।

द्वितीय उल्लास :-

भाषा-विज्ञान का लक्षण
भाषा तत्व-शास्त्र तथा व्याकरण
भाषा तत्व-शास्त्र—साहित्य
भाषा तत्व-शास्त्र—भूगोल
भाषा तत्व-शास्त्र—इतिहास
भाषा तत्व-शास्त्र—मनोविज्ञान
भाषा तत्व-शास्त्र—समाजशास्त्र
भाषा तत्व-शास्त्र—शरीर विज्ञान
भाषा तत्व-शास्त्र—मानव-विज्ञान
भाषा तत्व-शास्त्र—अन्य विज्ञान
भाषा तत्व-शास्त्र की प्रक्रिया एवं क्षेत्र
भाषा-विज्ञान सम्बन्धी विभिन्न विद्वानों की
परिभाषाओं का संकलन ।

मानव समाज-सापेक्ष प्राणी है। अतः समाजप्रिय होने के कारण वह कभी भी सहयोग और विचार-विनिमय के बिना जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। उसके विचारों के आदान-प्रदान का सर्वश्रेष्ठ उत्कृष्ट साधन भाषा है जो ध्वनि में प्रकट होती है। भाषा वक्ता और श्रोता दोनों के विचार विनिमय का साधन है। अतः भाषा का स्वरूप समझने के लिए भाषा विज्ञान का आश्रय लेना पड़ता है। शब्द और अर्थ दोनों का विचार इसमें अन्तर्भुक्त है। भाषा इस सम्पूर्ण अर्थमय जगत को व्यक्त करती है। अतः संक्षेप में हम इस प्रकार कह सकते हैं कि "भाषा उन व्यक्त ध्वनि संकेतों का समूह है जिनका प्रयोग मनुष्य अपने विचार-विनिमय तथा इच्छा के आदान-प्रदान के लिए समाज में करता है।" अतः भाषा पूर्णरूपेण सामाजिक वस्तु है और भाषा विज्ञान में भाषा के सम्पूर्ण अवयवों पर विचार किया जाता है।

भाषा-विज्ञान की परिभाषा :—भाषा का वैज्ञानिक अनुशीलन ही भाषा विज्ञान कहलाता है। वैज्ञानिक अनुशीलन का तात्पर्य यही कि जिस प्रकार विज्ञान कार्यों की देख-रेख तथा परीक्षण करके उनके लिए नियम उपनियम बनाता है उसी प्रकार भाषा-विज्ञान भी पूर्णरूप से भाषा के आन्तरिक और बाह्य रूप एवं विकास पर प्रकाश डालता है और जिन भाषा विषयक तथ्यों को मानव बुद्धि ने ग्रहण किया है वे ही इस भाषा के अनुशीलन को विज्ञान की श्रेणी में स्थान पाने के योग्य बनाते हैं। इसलिए इस अध्ययन का नाम भाषा शास्त्र न रखकर भाषा विज्ञान ही उपयुक्त समझा गया। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि तुलनात्मक अध्ययन के सहारे भाषा-विज्ञान भाषा की उत्पत्ति, उसकी बनावट, उसके विकास की वैज्ञानिक व्याख्या करता है। दूसरे प्रकार से हम यों भी कह सकते हैं कि साधारण भाषा-विज्ञान अथवा तुलनात्मक भाषा विज्ञान भाषा का वह वैज्ञानिक अनुशीलन है, जिसमें साहित्यिक दृष्टिकोण से भाषा का पूर्ण अध्ययन होता है। इस प्रकार उपर्युक्त परिभाषाओं के अनुसार भाषा-विज्ञान का क्षेत्र बड़ा विस्तीर्ण हो जाता है और मानवीय भाषा के सभी रूप उसके अन्तर्गत समाविष्ट हो जाते हैं। साहित्य सम्पन्न भाषायें ग्रामीण बोलियां, प्राचीन भाषायें शिलालेखों की भाषायें सभी उसकी सामग्री हो जाती हैं। इसका क्षेत्र देश, काल अथवा जाति से सीमित नहीं रहता। समस्त संसार की भाषायें इसके अध्ययन का विषय बन जाती हैं। जीवित और मृत भाषाओं की तो बात ही क्या है, काल्पनिक मूल भाषाओं तक का विचार भाषा विज्ञान में होता है।

भाषा विज्ञान से तात्पर्य है भाषा सम्बन्धी विकासात्मक ज्ञान। इसका क्षेत्र अत्यन्त विस्तीर्ण और व्यापक है। उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व भाषा विज्ञान और व्याकरण में कोई विशेष अन्तर नहीं था। किन्तु वास्तव में व्याकरण वह

शास्त्र है जिसमें सामान्यत: किसी एक विशेष भाषा का विवेचन मिलता है किन्तु भाषा विज्ञान में संसार की विभिन्न भाषाओं का तुलनात्मक एवं प्रक्रियात्मक अध्ययन किया जाता है। अतः इसको तुलनात्मक व्याकरण के नाम से भी विभूषित किया जाता है। फ्रांस में इसका नाम लिग्विस्टिक (Linguestique) पड़ा किन्तु भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन अत्यावश्यक है जो इस नाम से व्यक्त नहीं हो पाता। अत: इस शब्द के पूर्व विद्वानों ने (Comparative) तुलनात्मक शब्द लगाकर Comparative Lingustique नामकरण किया। श्री टकर साहब ने इसका नामकरण-संस्कार Science of tounge वाणी-विज्ञान रखा किन्तु यह नाम भी उपयुक्त नहीं समझा गया। सामान्यत: संसार के सभी देशों में इस शास्त्र के निम्नलिखित दो ही नाम सर्वमान्य हैं—Linguestique और Philology. भाषा-विज्ञान के नाम से ही यह बात साधारणतय: स्पष्ट हो जाती है कि इसमें भाषा सम्बन्धी प्रक्रियात्मक ज्ञान होगा। अत: भाषा का आदि काल से ही मानव जाति से अविच्छिन्न सम्बन्ध है। सृष्टि के अन्य जीवधारियों से मनुष्य को उच्चकोटि में लाने के लिए भाषा ही है। काव्यादर्श में दण्डिन ने स्पष्ट लिखा है कि "वाचामेव प्रसादेन लोक यात्रा प्रवर्तते इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायते भुवनत्रयम्। यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरा संसार न दीप्यते।"

"भाषा विज्ञान वह विज्ञान है जिसमें सामान्य रूप से विभिन्न भाषाओं, उनके उद्गम एवं ह्रास की तुलनात्मक व्याख्या की जाय।"

भाषा विज्ञान के द्वारा ही शब्दों और उनके अर्थों के विषय में उनके इतिहास का पता लगाने से अनेक रहस्य स्पष्ट हो जाते हैं। व्याकरण किसी भाषा के ज्ञान के लिए ही सीखा जाता है। भाषा विज्ञान कई विज्ञानों और शास्त्रों से अन्योन्याश्रित है। विशेषकर व्याकरण का तो यह मार्गदृष्टा ही है। इसके अतिरिक्त इतिहास, पुरातत्व, मनोविज्ञान, भूगोल, समाज-शास्त्र, मानव शास्त्र आदि से भी भाषा विज्ञान का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से सम्बन्ध है। भाषा-विज्ञान की उत्पत्ति का मूल कारण व्याकरण नहीं है। दोनों का सम्बन्ध भाषा से है। भाषा विज्ञान और व्याकरण का परस्पर अँगांगी भाव है। भाषा विज्ञान यदि शरीर है तो व्याकरण उसका एक अंग है किन्तु इतना होते हुए भी इन दोनों में पर्याप्त अन्तर भी है।

इसके पश्चात हम भाषा विज्ञान का अन्य विज्ञानों या शास्त्रों से क्या सम्बन्ध है, इस पर क्रमश: निम्नांकित विचार प्रकट करते हैं।

भाषा विज्ञान तथा व्याकरण :— व्याकरण से उस कला का बोध होता है जो किसी भाषा और उसके शब्दों की शुद्धि और अशुद्धि का विचार करती है। सामान्य रूप से भाषा की वैज्ञानिक व्याख्या कर सिद्धांतों का प्रतिपादन

करना भाषा विज्ञान का कार्य है। अतः अब वर्णनात्मक व्याकरण माना जाता है और व्याख्यात्मक व्याकरण भाषा-विज्ञान में अन्तर्भुक्त हो जाता है। लक्ष्य और लक्षणों के सुव्यवस्थित वर्णन का ही नाम व्याकरण है। यदि व्याकरण केवल 'क्या' का उत्तर देता है तो भाषा विज्ञान व्याख्या प्रधान होने के कारण उस 'क्या' के सम्बन्ध में क्यों, कब और कैसे की जिज्ञासा शान्त करता है। उदाहरणार्थ व्याकरण हमें बतलाता है कि धातु के अन्त में 'आ' जोड़ने से भूत कालिक कृदंत बन जाता है—कहना=कहा, मरना=मरा। परन्तु भाषा-विज्ञान इस बात का अनुशीलन करता है कि कहना से कहा और मरना से मरा 'कब', 'क्यों' और 'कैसे' प्रयोग में आया। इस प्रकार व्याकरण के आधार पर ही अपनी पूर्ण भित्ति उठाता है। पर भाषा विज्ञान का क्षेत्र इससे भिन्न रहता है। वह उसका भाष्य करता है। वह ऐतिहासिक, तुलनात्मक अथवा भाषा मात्र की प्रवृत्ति सम्बन्धी खोजों द्वारा व्याकरण की साधारण बातों की व्याख्या करता है। व्याख्यात्मक व्याकरण जो कि भाषा विज्ञान में अन्तर्भुक्त हो जाता है। उसके प्रमुख तीन अंग माने जाते हैं।

(१) ऐतिहासिक व्याकरण :—इसके अनुसार किसी भाषा के अध्ययन में उसकी पूर्ववर्ती भाषा तथा उसके पूर्व रूपों व विकास के जीवन का अध्ययन किया जाता है।

(२) तुलनात्मक व्याकरण :—इसके अनुसार भाषा के अध्ययन में उसकी सजातीय भाषाओं तथा उसकी पूर्वज भाषा की सजातीय भाषाओं की तुलनात्मक परीक्षा होती है। यथा हिन्दी का 'दम्पति' शब्द सर्वदा पुल्लिंग बहु वचन में प्रयुक्त होता है, परन्तु इसका कारण जानने के लिए ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक क्रिया का सहारा लेना पड़ता है। संस्कृत में 'दम्पती' नित्य द्विवचन में आने वाला और नियम-विरुद्ध बनने वाला समास माना जाता है। पर थोड़ा और पीछे की वैदिक संस्कृत, लैटिन, ग्रीक आदि भाषाओं की तुलना से उसकी व्युत्पत्ति निश्चित हो जाती है और यह पता लगता है कि उसका प्रयोग एक वचन में भी होता था। ऋग्वेद में दम्पति गृहपति के अर्थ में आया है। इस प्रकार 'दम्' (Damas) का अर्थ घर था किन्तु उसे भूलकर जाया का अर्थ समझने लगे और तब से दम्पति पति-पत्नी के अर्थ में रूढ़ हो गया। इस प्रकार तुलनात्मक व्याख्या सब स्पष्ट कर देती है।

सामान्य व्याकरण :—साधारणतया यह सभी भाषाओं में पाये जाने वाले नियम और सिद्धान्तों की खोज करता है और उनके व्यापक तत्वों की मीमांसा करता है। सामान्य व्याकरण सजातीय और विजातीय सभी भाषाओं की तुलना करता है और तब उनकी साधारण प्रवृत्ति की व्याख्या करता है। हिन्दी के 'जाता है' 'गया' आदि रूपों को अंग्रेजी के go और went संस्कृत के 'एति' और 'याइ'

आदि रूपों से तुलना करके यह निश्चित किया जाता है कि क्रियाओं के रूप में प्रायः परिवर्तन होता रहता है, परन्तु इसके विपरीत यह सामान्य नियम बना लिया गया है कि संख्या सम्बन्धी और गृहस्थी के वाचक शब्द भाषा के अधिक स्थिर अंग होते हैं और इसी कारण इनका लोप प्रायः कम होता है। इसी प्रकार वर्णनात्मक व्याकरणों से भाषाओं के ध्वनि और रूपों के विकारों को जानकर सामान्य व्याकरण एक व्यापक नियम बनाता है। सादृश्य उसी प्रकार का नियम है। यथा वर्णनात्मक व्याकरण बतलाता है कि 'करिन्' की तृतीया 'करिणा' होती है और 'हरि' की तृतीया 'हरिणा' ऐसा नियम विरुद्ध रूप क्यों बनता है ? सामान्य व्याकरण इसका शीघ्र उत्तर देगा। मिथ्या सादृश्य के कारण ऐसा रूप बना। भाषा के विकास में 'सादृश्य' अथवा 'औपम्य' का बड़ा हाथ रहता है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्याकरण साधारणतया किसी एक काल की किसी एक भाषा से सम्बन्ध रखता है। इसके विपरीत भाषा विज्ञान का क्षेत्र अधिक व्यापक है। वह अनेक भाषाओं के साम्य और वैषम्य की परीक्षा करता है। उनकी सामान्य प्रवृत्तियों की मीमांसा करता है। व्याकरण सिद्ध और निष्पन्न रूपों को लेकर काम करता है। उनके नियम-उपनियम और अपवादों का विस्तारपूर्वक विवेचन करता है, किन्तु भाषा विज्ञान एक-एक शब्द का इतिहास प्रस्तुत करता है। उनके कारणों की खोज करता है। संक्षेप में यह कहा जाता है कि व्याकरण एक कला है। भाषा-विज्ञान, विज्ञान है। एक का क्षेत्र संकुचित है दूसरे का विस्तृत। व्याकरण वर्णन प्रधान है भाषा-विज्ञान व्याख्या प्रधान।

व्याकरण का क्षेत्र एक ही भाषा के संस्कार एवं अध्ययन तक सीमित है परन्तु भाषा विज्ञान के अध्ययन के लिए विभिन्न भाषाओं का ज्ञान अनिवार्य है। किसी एक विशेष भाषा का व्याकरण अलग हो सकता है किन्तु भाषा विज्ञान नहीं। किसी एक भाषा का व्याकरण दूसरी के लिए उपयोगी नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि व्याकरण एक शास्त्र है और भाषा विज्ञान एक विज्ञान। भाषा की सिद्धावस्था का नाम ही व्याकरण है किन्तु सिद्धावस्था की शोध करना भाषा विज्ञान का ही कार्य है। व्याकरण के सम्बन्ध में महाभाष्य में लिखा है "लक्ष्य लक्षणे व्याकरणम्" भाषा की शुद्धता और अशुद्धता का विचार करना ही व्याकरण है।

भाषाविज्ञान और साहित्य :—साहित्य समाज का दर्पण है। वह मानवी-भावों का अक्षय भंडार है। मानव अपने अन्तः भावों को भाषा के द्वारा ही व्यक्त करता है और भाषा विज्ञान का भी सम्बन्ध भाषा से ही है। अत भाषा जहाँ साहित्यकार के भावों को व्यक्त करने का साधन है- वहाँ भाषा वैज्ञानिक के लिए वह सध्य अपाल विश्लषण का विषय है भाषा विज्ञान

साहित्य के अध्ययन से ही शब्दों के रूप और अर्थ दोनों के इतिहास का परिचय पता है। इसके द्वारा हमें प्राचीन भाषाओं का ज्ञान होता है और भाषा के ऐतिहासिक तुलनात्मक अध्ययन में सहायता मिलती है। आधुनिक युग में भी भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन हो रहा है। यह संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, अवेस्ता आदि भाषाओं के साहित्य के आधार पर ही हो रहा है। संस्कृत के विशाल वाङ्मय ने भाषा विज्ञान के विकास में एक प्रकार का चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। इसी प्रकार यदि आदिकाल से अब तक हिन्दी भाषा का साहित्य हमारे पास न होता तो हम हिन्दी भाषा के ऐतिहासिक विकास का अध्ययन किसी प्रकार भी न कर पाते। भाषा-विज्ञान को अपने अध्ययन को अग्रसर करने के लिए पग-पग पर साहित्य का आश्रय लेना पड़ता है। मृत भाषाओं को ही नहीं अपितु जीवित भाषाओं के अध्ययन में भी उसे उस भाषा के पूर्व के साहित्य को पढ़ना पड़ेगा। जिस प्रकार भोजपुरी में 'बाटे' शब्द है परन्तु इसकी कैसे उत्पत्ति हुई इसके लिए भाषा विज्ञान को संस्कृत साहित्य को देखना पड़ेगा। वही बतायेगा कि इसका मूल शब्द संस्कृत 'वर्तते' है। इस वाङ्मय के बिना भाषा-विज्ञान की टाँग टूटी रहती है। भाषा-विज्ञान में वाक्य-विचार और अर्थ-विचार पर भी अध्ययन होने लगा है, जिसका सम्बन्ध साहित्य से ही है। साहित्य का सम्बन्ध भाषा में निहित भावों और विचारों से रहता है, परन्तु भाषा-विज्ञान एक पग आगे बढ़कर भाव के साधन की मीमांसा करता है। दूसरी ओर भाषा-विज्ञान साहित्य के विकट अर्थों, विभिन्न प्रयोगों आदि समस्याओं पर पूर्ण प्रकाश डालता है। इस प्रकार दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। एक बिना दूसरे के कार्य सुचारु रूप से किसी प्रकार नहीं चल सकता।

भाषा-विज्ञान तथा भूगोल :—भाषा-विज्ञान के द्वारा हम प्रत्येक भाषा के उच्चारण सम्बन्धी भेदों का अध्ययन करते हैं। इस अध्ययन की पूर्ति के लिए हमें भूगोल का आश्रय लेना पड़ता है। भूगोल के द्वारा हम यह जान पाते हैं कि किस प्रकार पर्वतीय देशों में भाषा थोड़ी-थोड़ी दूर पर परिवर्तित हो जाती है, किन्तु मैदानी भागों में नहीं हो पाती। कभी-कभी शब्दों के उच्चारण में सर्वथा भेद दिखलाई पड़ता है। यह भौगोलिक परिस्थितियों के कारण ही है। पश्चिमी प्रदेशों में 'स' का उच्चारण 'ह' होता है जैसे 'सप्ताह' का 'हप्ताह'। भाषा-विज्ञान का अध्ययन करने में भूगोल का आश्रय लेना भी अनिवार्य हो जाता है। स्थानीय भौगोलिक परिस्थितियों का भाषा पर बहुत प्रभाव पड़ता है। किसी भाषा में विकास न होना अथवा उसका अधिक प्रसार न होना, बोलियों की अधिकता होना आदि बातों पर तत्सम्बन्धी भूगोल के अध्ययन से ही यथेष्ट प्रकाश पड़ सकता है। पर्वत मरुभूमि समुद्रादि दुर्गम वस्तुओं के आ जाने से भाषा के प्रसार में कितनी कठिनाइयाँ होती हैं इसी कारण पहाड़

प्रदेशों में मनुष्यों का सम्पर्क न होने के कारण भिन्न-भिन्न बोलियों का विकास हो जाता है। देश-भेद से अनेक ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। अनेक नये शब्दों को भाषा कोष में स्थान मिल जाता है। उदाहरणार्थ वैदिक 'ळ' का प्रयोग मराठी, उड़िया, राजस्थानी आदि में क्यों रह गया है हिन्दी आदि अन्य भारतीय भाषाओं में क्यों नहीं है। ऐसे अनेक प्रश्नों का उत्तर भूगोल के अध्ययन से ही मिल सकता है। भूगोल देशों, नगरों, नदियों तथा प्रान्तों आदि के नामों के रूप में भाषा-विज्ञान के अध्ययन की बड़ी रोचक सामिग्री प्रदान करता है।

भाषा-विज्ञान तथा इतिहास :— भाषा-विज्ञान और इतिहास का स्वाभाविक सम्बन्ध है। भाषा में विकार कैसे उत्पन्न होते हैं। यह हम इतिहास से ही जान पाते हैं। भाषा-विज्ञान से इतिहास और पुरानी संस्कृति के बड़े रोचक तत्वों का ज्ञान होता है। जिस स्थान में इतिहास पहुँचने के लिए पंगु है वहाँ भाषा-विज्ञान अनुमान के द्वारा पहुँचने का प्रयत्न करता है। यथा प्राचीन काल की आर्य सभ्यता के विषय में कोई ऐतिहासिक प्रभाव नहीं मिलता किन्तु प्राचीन शब्दों के अनुशीलन द्वारा भाषा-विज्ञान ने आर्यों की उस प्राचीन संस्कृति पर यथेष्ट प्रकाश डालने का अथक प्रयास किया है। विदेशी प्रभाव के कारण ही भाषा में शीघ्र ही विकृतावस्था आ जाती है। प्राचीन काल में प्राकृतिक भाषाओं के विकास में द्रविड़ों और अन्य वर्ग के आर्यों के प्रभाव ने बड़ा योग दिया था। अपभ्रंश को देश व्यापी बनाने का प्रमुख कारण देश पर अमीरों का राजनैतिक अधिकार ही था। भारतीय आर्य भाषाओं में अधिकता से अरबी फारसी और तुर्की आदि के शब्दों का अधिकार भी देश की परतंत्रता का ही प्रमुख कारण है। हिन्दी, उर्दू की समस्या भी पिछले दो तीन सौ वर्ष की राजनीतिक विषमता की उपज है। बंगाली, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं में ब्रज भाषा के शब्दों का मिश्रण भी वैष्णव धर्म के देशव्यापी होने का प्रतीक है। सामाजिक व्यवस्था एवं परम्पराओं का भी भाषा पर प्रभाव पड़ता है। प्राचीन साहित्य में पतिविहीन स्त्री के लिए विधवा शब्द है। पर पत्नी विहीन पति के लिए कोई शब्द नहीं है, क्योंकि पत्नी के मरने के पश्चात् पति दूसरा विवाह कर सकता था किन्तु पत्नी नहीं कर सकती थी। अतः उसके लिए समाज ने विधवा नाम रख दिया है। भारतीय आर्य भाषाओं में सभी सम्बन्धियों के पृथक्-पृथक् नाम हैं। यथा माता, पिता, भाई, बहिन, मौसी, मौसा, दादा आदि परन्तु यूरोप की भाषाओं में इनके लिए अलग-अलग शब्द नहीं हैं। वहाँ in-law शब्द को जोड़ कर प्रत्येक के लिए शब्द बनाये जाते हैं। पिता के लिए वहाँ Father शब्द का प्रयोग होता है किन्तु श्वसुर के लिए in-law शब्द जोड़ कर father-in-law बन जायगा। इसी प्रकार हिन्दी में साले और बहनोई के लिए अलग-अलग शब्द हैं किन्तु वहाँ पर Brother शब्द में in law लगाकर दोनों का काम सम्पन्न कर लिया जाता है। इस प्रकार

हम देखते हैं राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक इतिहास से भाषा-विज्ञान का घनिष्ट सम्बन्ध है।

भाषा-विज्ञान तथा मनोविज्ञान :—मन प्रेरणा का ही परिणाम है और मन तथा मानसिक मनोवृत्तियों के अध्ययन का नाम ही मनोविज्ञान है। मनोविज्ञान भाषा की कुछ आधारभूत शंकाओं का समाधान करता है। अतः भाषा विज्ञान तथा मनोविज्ञान दोनों का परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। भाषा की उत्पत्ति मानव की प्रबल उत्कण्ठा के कारण हुई। वह मानव भाषा के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता था। अतः भाषा विचारों को वहन करने का एकमात्र साधन है। जबकि विचारों का सीधा सम्बन्ध मस्तिष्क अथवा मनोविज्ञान से है, क्योंकि जिस प्रकार विचार मन में पैदा होते हैं और फिर मस्तिष्क में प्रकाशित होते रहते हैं। कभी-कभी एक ही शब्द विभिन्न अर्थ रखता हुआ भी एक विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होता है। शब्दों के अर्थों में परिवर्तन क्यों और किस प्रकार हो जाते हैं। इन सबका हल भाषा-विज्ञान मनोविज्ञान के आश्रय में ही पाता है। विशेषतः अर्थ-विचार तो मनोविज्ञान पर पूर्णतयः निर्भर है। मनोविज्ञान को भी विचारों के विश्लेषण अनुभव की सम्पूर्णता, अपूर्णता आदि के अध्ययन में भाषा विज्ञान का सहारा लेना पड़ता है।

भाषा-विज्ञान तथा अन्य विज्ञान :—समाज शास्त्र मानव की सामाजिक प्रवृत्ति का अध्ययन और उसके इतिहास का अवलोकन कराता है। भाषा का समाज में उपयोग किस प्रकार होता है इसका पता समाज शास्त्र से ही चलता है। समाज में भाषा के एक ही शब्द को भी विभिन्न व्यवहार के द्वारा प्रयोग मिलते हैं उसका पता समाज शास्त्र से ही चलता है।

भाषा का उच्चारण मुँह से होता है कानों द्वारा उसका ग्रहण होता है। अतः ध्वनि किस प्रकार बनती है और अन्दर से निःसृत होती हुई वह किस प्रकार प्राण वायु, स्वर यन्त्र, तालु, दाँत, ओष्ठ आदि से स्पर्श करती हुई बाहर को आती है। इन सब बातों के ज्ञान के लिए भाषा-विज्ञान को शरीर-विज्ञान का आश्रय लेना पड़ता है। विभिन्न भाषा का ज्ञान भी कर्णेन्द्रिय द्वारा होता है। अतः भाषा विज्ञान शरीर विज्ञान का भी ऋणी है। मनुष्य जब कुछ कहता है उसकी पद-ध्वनि मुख से निकलने के बाद किस प्रकार आकाश में तरंगों के साथ गूँजती हुई दूसरे के कान तक पहुँचती है ये बातें हमें भौतिक विज्ञान से ही ज्ञात होती हैं। वह यह बतलाता है कि शब्द आकाश में लहरें किस प्रकार भरता है। भाषा की ध्वनियों और अन्य ध्वनियों में क्या अन्तर है। प्रयोगात्मक ध्वनि विज्ञान में भौतिक शास्त्र से आधुनिक काल में पर्याप्त सहायता मिल रही है। भाषा-विज्ञान का मानव-विज्ञान से भी सम्बन्ध है। भाषा विचार-विनिमय का साधन है यह विचार विनिमय मनुष्य समाज में ही होता है समाज के द्वारा ही

व्यक्ति पर भाषा का भार लादा जाता है। वह अपनी इच्छा के अनुकूल उसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। उसे उसके लिए समाज की आज्ञा लेनी पड़ती है। मानव-विज्ञान के अध्ययन से ही भाषा-विज्ञान मानव की सामाजिकता का पता चलाता है कि किन-किन अवस्थाओं में भाषा का समाज में विकास होता है। किस प्रकार स्त्रियाँ अपने पति का नाम न लेकर उसे घुमा-फिरा कर एक दूसरे ढंग से सम्बोधित करती हैं। प्रमुखतया: अन्धविश्वासों के कारण भाषा में अधिक परिवर्तन होते रहते हैं, यथा साँपों को कीड़ा, लाश को मिट्टी, चेचक को माता, शीतला आदि कहकर पुकारते हैं। प्राचीनकाल में अशोक ने अपना नाम 'देवानां प्रिय' रखा। वही शिलालेखों में भी मिलता है, किन्तु उसके बाद वाले संस्कृत ग्रन्थों में उसका अर्थ 'मूर्ख' है। इन सभी के कारण जानने के लिये भाषा-विज्ञान को मानव-विज्ञान (समाज-शास्त्र) का सहारा लेना पड़ेगा। इनके अतिरिक्त भाषा-विज्ञान का तर्क-शास्त्र से भी अप्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

भाषा-विज्ञान की प्रक्रिया :—भाषा-विज्ञान के अध्ययन में तुलनात्मक पद्धति और ऐतिहासिक पद्धति का प्रमुख सहारा लेना पड़ता है। इसी कारण व्याख्यात्मक व्याकरण भाषा-शास्त्र का प्रधान अंग बन जाता है और वह उसी में अन्तर्भूत हो जाता है। भाषाओं की प्रवृत्ति को समझने के लिए उनके विभिन्न इतिहासों का ज्ञान परम वाँछनीय है। किसी भी शब्द की रचना और व्युत्पत्ति के लिए उसके अतीत का अनुशीलन करना परमावश्यक है। इस ऐतिहासिक प्रक्रिया को पूर्ण बनाने के लिए तुलना की रीति भी अपेक्षित है। भिन्न-भिन्न परिवारों की भाषाओं की तुलना आवश्यक होती है, किन्तु कभी-कभी एक भाषा के अथवा एक शब्द के विशेष ज्ञान के लिए तुलनात्मक व्याख्या का सहारा लेना पड़ता है। होरा के समान अज्ञात और अव्युत्पन्न शब्दों का अर्थ तुलनात्मक व्याख्या से ही स्पष्ट होता है। यह शब्द ग्रीक भाषा से संस्कृत में आया। अंग्रेजी का hour उसी का तद्भव सा है जिसका अर्थ है घंटा। भाषा के ऐतिहासिक अध्ययन में प्राचीन साहित्यों, शिलालेखों और साधारण इतिहासों से भी सहायता मिलती है। यदि किसी भाषा का इतिहास खोजना हो तो उस भाषा के भिन्न-भिन्न कालों के प्राचीन लेखों की आपस में तुलना करके फिर उसके वर्तमान रूप की तुलना करनी चाहिए तथा उसकी सजातीय भाषाओं की तुलना करनी चाहिए। उदाहरणस्वरूप किसी भाषा के उद्भव और विकास को जानने के लिए उसकी प्राचीन अवस्था के रूपों का वर्तमान रूपों से मिलाकर साम्य और वैषम्य का विचार करेंगे। तदनन्तर उसकी भिन्न-भिन्न वर्तमान बोलियों से ही तुलना करेंगे। इसी तुलना के आधार पर ग्रियर्सन जैसे विद्वान ने भारतीय आर्य भाषाओं के अंतरंग और बहिरंग भेदों की कल्पना की है और उसी तुलनात्मक प्रक्रिया द्वारा चटर्जी ने एक दूसरा ही परिणाम निकाला है। इस प्रकार अपने

वग की अन्य भाषाओं की तुलना कर चुकने के बाद हम क्रम के आगे आकर योरोपीय परिवार की ग्रीक, लैटिन आदि अन्य वर्गीय भाषाओं से भी उसकी तुलना करना आवश्यक होता है। अन्त में विचार किया जाय तो ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक पद्धति भाषा-विज्ञान के अध्ययन में महत्वपूर्ण स्थान रखती है और एक प्रकार से उसकी एक अंग बन गई है।

इस प्रकार भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध विभिन्न शास्त्रों एवं विज्ञानों से है, अपने सर्वाङ्गीण विकास के लिये उसे सभी का आश्रय लेना पड़ता है।

भाषा-विज्ञान का क्षेत्र अत्यन्त विशाल एवं व्यापक है। भाषा एक जटिल व्यापार है। उसके गूढ़ तत्वों की जानकारी हमें भाषा-विज्ञान के अध्ययन से ही उपलब्ध होती है। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र को निम्न भागों में विभाजित कर सकते हैं :—

(१) भाषा-विज्ञान का इतिहास, (२) भाषा की उत्पत्ति, (३) भाषाओं का वर्गीकरण, (४) ध्वनि-विज्ञान, (५) शब्द-विज्ञान, (६) वाक्य-विज्ञान, (७) अर्थ-विज्ञान (८), व्युत्पत्ति-विज्ञान, (९) लिपि का विकास, (१०) मनोभाषा-विज्ञान आदि। इन सबका पृथक्-पृथक् रूप से आगे विवेचन किया जायेगा।

यहाँ हम विभिन्न विद्वानों द्वारा दी हुई भाषा-विज्ञान सम्बन्धी परिभाषाओं का उल्लेख करते हैं। जिससे परीक्षार्थियों को उन्हें समझने में विशेष सुविधा होगी :—

1. For a small group of specialists, knowing about language is an end in itself. These specialists call themselves linguists, and the organized body of information about language which their investigations produce is called linguistics.

—*Charles—F. Hockett—"A Course in Modern Linguistics—PP. 2.*

२. "——————भाषाविदों की खोजों के उपरान्त प्राप्त भाषा-सम्बन्धी व्यवस्थित सूचनाओं का उपयोग-प्रयोग भाषा-विज्ञान में होता है।"

3. When he (linguist) has described the facts of speech in such a way as to account for all the utterances used by the members of a social group, his description is what we call the system or the grammar of the language.

—*Bernard Block, George L. Trager "Out line of Linguistic Analysis"—PP. 8.*

४. "जब भाषाविद् वाणी के सभी समाजगत रूपों का विश्वस्त विवरण प्रस्तुत करता है, तब उसे भाषा का व्याकरण अथवा भाषा की व्यवस्था कहते हैं।"

५. "भाषा-विज्ञान उस शास्त्र को कहते हैं, जिसमें भाषामात्र के भिन्न-भिन्न अंगों और स्वरूपों का विवेचन तथा निरूपण किया जाता है।"...... सारांश यह है कि भाषा-विज्ञान की सहायता से हम किसी भाषा का वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन, अध्ययन-अनुशीलन करना सीखते हैं।"

६. "भाषा-विज्ञान उस विज्ञान को कहते हैं, जिसमें सामान्य रूप से मानवीय भाषा का, किसी विशेष भाषा की रचना और इतिहास का और अन्ततः भाषाओं, प्रादेशिक भाषाओं या बोलियों के वर्गों की पारस्परिक समानताओं और विशेषताओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है।"

—डा० मंगलदेव शास्त्री
"तुलनात्मक भाषाशास्त्र अथवा भाषाविज्ञान"

७. "भाषा-शास्त्र का विषय भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करना है। उस अध्ययन की सीमा के अन्तर्गत मानव-कण्ठ से निःसृत वाणी, प्राचीन तथा अर्वाचीन संस्कृत एवं असंस्कृत, विद्वान एवं निरक्षर सभी की भाषा के रूपों का समावेश होता है।"

—डा० उदयनारायण तिवारी-"भाषा-शास्त्र की रूपरेखा"

"भाषा-विज्ञान वह विज्ञान है, जिसमें भाषा-विशिष्ट, कई और सामान्य-का समकालिक, ऐतिहासिक, तुलनात्मक और प्रायोगिक दृष्टि से अध्ययन और तद्विषयक सिद्धान्तों का निर्धारण किया जाता है।

—डॉ० भोलानाथ तिवारी—"भाषा-विज्ञान" षष्ठम् संस्करण

8. "General linguistics is concerned with human languages as a universal and recognizable part of human behaviour and of the human faculties, perhaps one of the most essential to human life as we know it, and one of the most far reaching of human capabilities in relation to the whole span of mankind's achievements."

R. H. Robind—"General Linguistics And Introductory Survey." PP. 1-2.

९. "सामान्य भाषा-विज्ञान का सम्बंध मानवीय भाषाओं से है। ये मानवीय आचरण और क्षमता के सर्व-स्वीकृत एवं सर्व-मान्य अंग तथा सर्वाधिक प्रभावशाली है।

तृतीय उल्लास

भाषा-तत्व शास्त्र का इतिहास
भाषा-तत्व शास्त्र सम्बन्धी भारतीयों का कार्य
भाषा-तत्व शास्त्र सम्बन्धी यूरोपीयों का कार्य

भाषा विज्ञान एक नवीनतम विषय है प्राचीन काल के शास्त्रों में उसका कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है। जैसे-जैसे विज्ञान का क्षेत्र उत्तरोत्तर उन्नति की ओर अग्रसर हुआ, वैसे-वैसे ही अध्ययन का लक्ष्य भी बदलता गया जिसके फलस्वरूप कला और साहित्य में भी विज्ञान ने हस्तक्षेप किया। भाषा-विज्ञान का विकास इसी का परिणाम है। अन्य वैज्ञानिक आविष्कारों की भाँति भाषा-विज्ञान का प्रादुर्भाव भी योरोप से ही १९ वीं शताब्दी में हुआ किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि भाषा-विज्ञान का अध्ययन प्राचीन काल में था ही नहीं। यह बात अवश्य है कि इस रूप में भाषा-विज्ञान का अनुशीलन उस समय नहीं था। वैसे भाषा के अध्ययन और अनुशीलन का कार्य संसार के सभी देशों में प्राचीन काल से चला आ रहा है। उसके उद्भव और विकास की कहानी बड़ी अपूर्व है। इसकी परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है। सभी देशों में इसके ऊपर विश्लेषणात्मक कार्य होता रहा है।

वस्तुतः विचार कर देखा जाय तो भाषा-विज्ञान के अध्ययन और विश्लेषण का कार्य सर्वप्रथम भारतवर्ष में ही प्रारम्भ हुआ। वैदिक-काल में भी इसका विकास किसी न किसी रूप में मिलता है। ऋग्वेद से हमें ज्ञात होता है कि उस समय की वैदिक भाषा का शुद्ध उच्चारण करने के लिए ध्वनियों का उचित विभक्तीकरण किया गया था। वेदों में मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण परमावश्यक था जो निर्धारित नियमानुसार वेदमंत्रों का उच्चारण नहीं करता था वह पापी समझा जाता था। कृष्ण-यजुर्वेद संहिता में स्वयं देवताओं ने इन्द्र से कथन को खंडों में विभाजित करने की प्रार्थना की है परन्तु भाषा सम्बन्धी अध्ययन का व्यावहारिक रूप हमें ब्राह्मण और प्रातिशाख्यों में ही मिलता है। ब्राह्मण ग्रंथों में शब्दों की व्याख्या कई स्थानों पर की गई है। पद-पाठ में वेदों की संहिताओं को पद रूप प्रदान किया गया है। पद पाठ का मुख्य विषय वाक्य-विच्छेद है। इस विच्छेद का आधार समास और सन्धि था। इस काल में संहिताओं का अध्ययन विभिन्न ऋषियों की परिषदों, चरणों और शाखाओं में हुआ करता था। यज्ञादि के अवसरों पर वेदमंत्रों का पाठ हुआ करता था। अतः पद पाठ के लिए सन्धि, समास और उदात्त आदि स्वरों का शुद्ध उच्चारण होना आवश्यक था। जैसे-जैसे वेद की भाषा साहित्यिक और संस्कृत होती गई वैसे-वैसे उसके स्वर-बल, मात्रा आदि की शिक्षा आवश्यक समझी जाने लगी। ब्राह्मण ग्रन्थों में जहाँ-तहाँ शिक्षा (ध्वनि) और व्याकरण के सम्बन्ध-शब्द उदाहरण स्वरूप मिलते हैं। कुछ दिन बाद ध्वनि की दृष्टि से वेदों का अध्ययन करने के लिए प्रातिशाख्यों की रचना हुई। वेदों की बहुत सी शाखायें बनीं। प्रत्येक शाखा के मंत्रों के उच्चारण को यथावत रखने के लिए उनके उच्चारण सम्बन्धी अध्ययन पर विवेचन किया गया और प्रत्येक शाखा को लेकर अध्ययन आरम्भ

हुआ। इन प्रातिशाख्यों में मात्रा, काल, स्वराघात और ध्वनियों का विभाजन किया गया। पद के चार भाग किये गये (१) नाम, (२) आख्यात, (३) उपसर्ग, (४) निपात। पदों के प्रारम्भिक विश्लेषण तथा शब्द मूलधातु तक पहुँचने का कार्य भी इनमें पर्याप्त मात्रा में हुआ था, ऐसी भी कुछ धारणा की जाती है। निघंटु ग्रन्थों में वैदिक भाषा के क्लिष्ट शब्दों का संग्रह किया है। यह एक प्रकार के वैदिक शब्द-कोष थे। इनमें वेदों के शब्दों के पर्यायवाची शब्दों का सग्रह किया गया है। इन पर्यायों के द्वारा वेदों के क्लिष्ट शब्दों के अर्थ स्पष्ट किये गये हैं। यास्क द्वारा रचित निरुक्त (१-१७) में लिखा है 'पद प्रकृतीनि सर्व-साधारणानां-पार्षदानि" पार्षद ग्रन्थ (प्रातिशाख्य) पद पाठ के आधार पर ही चलते हैं। यास्क समय ई० पूर्व ८००–७०० माना जाता है। यास्क ने अपने पूर्वजों की परीक्षा कर निरुक्त शास्त्र की रचना की जिसमें शब्दों की व्युत्पत्ति के अतिरिक्त भाषा की उत्पत्ति, गठन, वृद्धि आदि पर भी विचार किया है। यास्क ने भाषा की उत्पत्ति धातुओं से मानी है। अर्थ-विचार की दृष्टि से यह ग्रन्थ संसार का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। इसमें निघण्टु के प्रत्येक शब्द का विश्लेषण किया गया है। प्रत्येक शब्द को समझाने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है। इसमें शब्दों के इतिहास का सूक्ष्म निरीक्षण किया गया है। भाषा के क्रमिक विकास, उसकी उत्पत्ति गठन पर विशेष विवेचना की गई है। वस्तुओं का नामकरण क्यों और कैसे हुआ इस पर भी यास्क ने सुन्दर विवेचन किया है। शब्दों के ऐतिहासिक खोज के लिए निरुक्त से पर्याप्त सहायता मिलती है। यास्क ने भाषा के कई ऐसे कार्यों का वर्णन किया है, जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि भाषा का वैज्ञानिक अनुशीलन उस समय भी किया जाता था। आज जो प्रातिशाख्य मिलते हैं; वे प्राचीनतम प्रातिशाख्य तो नहीं हैं पर उन्हीं पर आधारित हैं।

यास्क के बाद अनेक वैयाकरणों का उल्लेख तो अवश्य मिलता है किन्तु उनकी कोई भी रचना उपलब्ध न होने के कारण उनके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता है। यास्क के अनन्तर वेद का महत्व घटने लगा। देश और समाज में पाणिनि, कात्यायन पतञ्जलि की भाषा का अधिकार हो चुका था। इन मुनित्रय ने सूत्र, वार्तिक और भाष्य में भी अनेक भाषा सम्बन्धी बातों का प्रतिपादन किया। पाणिनि के पूर्व व्याकरण सम्प्रदायों में एण्द्र सम्प्रदाय विशेष उल्लेखनीय है। इसके प्रवर्तक इन्द्र नाम के ऋषि थे। एण्द्र सम्प्रदाय का प्रभाव दक्षिण में अधिक था। यह सम्प्रदाय पाणिनि के बाद भी चलता रहा। कात्यायन भी इसी सम्प्रदाय के थे। पाणिनि की रचना अष्टाध्यायी है। इसके आठ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में चार पद हैं। इसमें लगभग ४००० सूत्र हैं। पूर्ण पुस्तक १४ महेश्वर सूत्रों पर आश्रित है। उनको प्रत्याहार की भी संज्ञा

दी गई है। इन्हीं सूत्रों ने सम्पूर्ण संस्कृत-भाषा को अटिल बन्धनों में बाँध दिया है जो अद्यावधि तक भी विकृति को प्राप्त न हो सकी है। इस अष्टाध्यायी को हम भाषा-विज्ञान की आधारशिला मान सकते हैं। इसमें पाणिनि ने सूत्र प्रणाली के द्वारा व्याकरण जैसे नीरस विषय को भी सरस एवं सरल बना दिया है। भाषा का चरमावयव वाक्य है, शब्द नहीं। इस पर भी प्रकाश डाला है। इसके अतिरिक्त पाणिनि ने धातु पाठ, गणपाठ और उणादि सूत्रों की भी रचना की है। इन्होंने अपनी अष्टाध्यायी में वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत का तुलनात्मक अध्ययन किया है। उन्होंने शब्दों के विषय में यास्क मुनि के किये गये ४ भेदों को स्वीकार नहीं किया और उनके तीन भेद किये सुबन्त, तिङन्त और अव्यय। एकाक्षर धातुओं का आश्रय लेकर पाणिनि ने सभी शब्दों की योजना की है। धातुओं में उपसर्ग लगाने से उनके १३ अर्थों में परिवर्तन दिखाया है। ध्वनि-विज्ञान के विचार से देखा जाय तो ध्वनियों का प्रयत्न और स्थान की दृष्टि से बड़ा ही सुन्दर और वैज्ञानिक वर्गीकरण किया है। उसमें उन्होंने अर्थ-विचार और वाक्य-विचार पर भी पूर्ण प्रकाश डाला है। प्रत्येक शब्द की उत्पत्ति धातु से मानी गई है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से देखा जाय तो आज जिस कार्य को पाश्चात्य विद्वानों ने १६ वीं शताब्दी में प्रारम्भ किया है, उसको पाणिनि ने ई० पू० ५००, ६०० वर्ष पहिले ही दिखा दिया था। उनकी प्रतिभा अत्यन्त विलक्षण थी। उनकी अष्टाध्यायी भाषा वैज्ञानिकों के लिए पथप्रदर्शक बनी हुई है।

पाणिनि के उपरान्त कोई भी इतना महान वैयाकरण नहीं हुआ जिसने अष्टाध्यायी के समकक्ष कोई व्याकरण-ग्रन्थ की स्वतन्त्र रचना की हो। सभी ने उसी के ऊपर टीका-टिप्पणियाँ कीं। पाणिनि के बाद कात्यायन का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने पाणिनि के सूत्रों पर वार्तिक लिखे हैं। समयानुसार भाषा में भी परिवर्तन हुआ और पाणिनि के सूत्र तत्कालीन जनता के लिए क्लिष्ट प्रतीत हुए और कात्यायन ने अपनी वार्तिक लिखकर पाणिनि के सूत्रों में परिवर्तन ही नहीं किया अपितु पारिभाषिक शब्दों में भी परिवर्तन किया है। लगभग ४००० सूत्रों की संख्या है। इसके कुछ गद्य में गद्य हैं और कुछ पद्य में। कात्यायन के बाद पतञ्जलि हुए उन्होंने अष्टाध्यायी का महाभाष्य प्रस्तुत किया। अष्टाध्यायी में जहाँ सूत्र हैं, वहाँ इसमें आह्निक हैं। इसमें भी आठ अध्याय हैं और अष्टाध्यायी की भाँति प्रत्येक अध्याय चार पादों में विभक्त है। कात्यायन ने जो पाणिनि की आलोचना प्रस्तुत की है उन सबका पतञ्जलि ने सम्यक् रूप से समाधान किया है। उनके विचार से कात्यायन पाणिनि की अष्टाध्यायी को समझ नहीं पाये। इसलिए उन्होंने जो त्रुटियाँ कीं उनको पतञ्जलि ने दूर किया तथा कात्यायन के बनाये हुए नियमों में दोष सिद्ध किए

व पाणिनि का समर्थन करते हुए उन्होंने भाषा के लिए अन्य नियमों की रचना की। इन्होंने भाषा का दार्शनिक दृष्टि से विवेचन किया है। भाष्यकार को शब्द के दो रूप स्वीकृत थे—प्रथम भौतिक और द्वितीय मानसिक। "शब्द ध्वनि" और "स्फोट:" शब्द दोनों बातों को स्वीकार किया जिसका आधुनिक भाषा-विज्ञान से यत् किञ्चित् संयोग है। संस्कृत भाषा को वास्तविक रूप प्रदान करने के कारण पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि को संस्कृत व्याकरण के "मुनित्रय" के नाम से पुकारा जाता है।

तदनन्तर संस्कृत भाषा पूर्णरूपेण नियमबद्ध हो गई और उसमे परिवर्तन की कोई आवश्यकता न रही। उसका वैदिक संस्कृत मे पूर्णरूपेण विच्छेद हो गया। वैदिक संस्कृत में लचीलापन था, वह परिवर्तनशील थी किन्तु इन मुनित्रय ने वैदिक संस्कृत को जटिल बना दिया। अत: परिणाम यह हुआ कि इसका वैज्ञानिक अनुशीलन न होकर दार्शनिक अध्ययन होने लगा और शब्द- शक्ति, अर्थ-शक्ति तथा व्याकरण के मूल तत्वों का सुन्दर विवेचन इन मुनियों के बाद होने वाले टीकाकारों ने किया जिनमें से वामन और जयादित्य की बनाई हुई 'काशिका" टीका प्रसिद्ध है, परन्तु भाषा के दार्शनिक विवेचन और मूलतत्वों के स्थापन के लिए 'वाक्य-पदीय' का विशिष्ट स्थान है। इसके रचयिता भर्तृहरि थे। नागेश भट्ट का 'वैयाकरण सिद्धांत मजूषा' भाषा के तात्विक विश्लेषण के लिए अपूर्व ग्रन्थ है। टीकाकारों के बाद कौमुदीकारों का समय आता है। इनकी रचना यद्यपि 'अष्टाध्यायी' के सूत्रों पर आधारित है किन्तु इन्होंने विषयानुसार क्रमबद्ध रचना की। इन सब कौमुदीकारों में भट्टोजी दीक्षित का नाम विशेषोल्लेखनीय है। उनका निर्मित ग्रन्थ 'सिद्धान्त-कौमुदी' है जो सर्वमान्य है और वह इतनी विख्यात हुई कि धीरे-धीरे 'अष्टाध्यायी' और 'काशिका' को विस्मृत सा कर दिया गया। इसमें व्याकरण के सूत्रों का नवीन क्रम निर्धारित किया गया है। पाणिनि-शाखा के अतिरिक्त भी व्याकरणकारों की अन्य कई शाखायें हुई जिनमें चन्द्र, जैनेन्द्र, शकटायन का तन्त्र और सारस्वत विशेष प्रचलित हैं। इन शाखाओं में 'शब्दानुशासन' के लेखक हेमचन्द्र और 'मुग्धबोध' के कर्त्ता बोपदेव के नाम उल्लेखनीय है। इसके बाद प्राकृत, पाली अपभ्रंश आदि विभिन्न भाषाओं के व्याकरण बने और उनका संस्कृत से जन्म-जनक सम्बन्ध दिखाने का प्रयत्न किया गया। इनमें 'प्राकृत-प्रकाश' प्रसिद्ध है। इसमें बारह परिच्छेद हैं जिनमें संस्कृत को आधार मानकर महाराष्ट्री, शौरसेनी, पैशाची तथा मागधी प्राकृत का विवरण दिया गया है। पाली भाषा में व्याकरण की तीन शाखाएँ है (१) कच्चायन, (२) मोग्गल्लान (३) अग्गवश। ये तीनों शाखाएँ संस्कृत से प्रभावित है और विषय की दृष्टि से अपूर्ण हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन काल में भारतवर्ष में भाषा विज्ञान

का पर्याप्त कार्य हो चुका था और वह संसार के अन्य देशों से बहुत आगे था। यद्यपि इसका दृष्टिकोण आधुनिक नहीं था।

भारतवर्ष में भाषा-विज्ञान का जो आधुनिक अध्ययन हो रहा है उस पर पाश्चात्य प्रभाव अधिक है, उसका प्रमुख कारण यह है कि अपने देश में सर्व-प्रथम इस युग में भाषा-विज्ञान का अध्ययन पश्चिमी विद्वानों ने ही आरम्भ किया। उनका दृष्टिकोण पूर्णतः पाश्चात्य ही रहा। सबसे पहले बिशप काल्डवेल ने द्राविड़ भाषाओं का अध्ययन किया और इन भाषाओं के तुलनात्मक व्याकरण की रचना की जिसका आज भी महत्व है। बीम्स ने भारतीय आर्य भाषाओं का अध्ययन किया। इनका भारतीय आर्य भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके तीन भागों में ध्वनि संज्ञा, सर्वनाम तथा क्रिया आदि की दृष्टि से भारतीय आर्य भाषाओं के व्याकरण का तुलनात्मक अध्ययन किया है। भाषा विज्ञान के क्षेत्र में डा० सर रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर आधुनिक युग में सर्वप्रथम भारतीय थे जिन्होंने भारतीय आर्य भाषाओं का पूर्णरूपेण अध्ययन किया। भाषा-विज्ञान के ऊपर इन्होंने जो व्याख्यान दिये थे वे १९१४ में पुस्तकाकार हुए। साथ ही साथ इन्होंने योरोप की भाषाओं का भी अध्ययन किया। इस पुस्तक में भाषा-विज्ञान सम्बन्धी सभी बातों पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। हार्नली का पूर्वी हिन्दी का तुलनात्मक व्याकरण विशेष महत्व का है। सबसे महत्वपूर्ण कार्य इस क्षेत्र में श्री ग्रियर्सन ने किया है। भाषा-विषयक ज्ञान इनका अगाध था। इनको बहुत सी भाषाओं का ज्ञान था। भाषा तत्व विश्लेषण सम्बन्धी इनकी कई पुस्तकें हैं। इनमें "भारतीय भाषाओं का सर्वे" (The Linguistic Survey of Indian Languages) सर्वप्रमुख है जिसको इन्होंने ३३ वर्ष कठिन परिश्रम करके तथा सम्पूर्ण भारत में भ्रमण करके लिखा। इसके ११ विभाग हैं। इसमें सभी भारतीय भाषाओं तथा उनकी बोलियों के व्याकरण का यथातथ्य निरूपण है। इसके अतिरिक्त हिन्दी भाषा और उसकी विभिन्न बोलियों पर कार्य करने वाले प्रमुख विद्वान् डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, डा० श्याम सुन्दरदास, श्री पद्मसिंह शर्मा, डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० बाबूराम-सक्सेना, श्री कामता प्रसाद गुरु तथा डा० उदय नारायण तिवारी, डा० सीताराम जी, श्री हरिशंकर जोशी आदि हैं।

भारतवर्ष की अपेक्षा योरोप में भाषा-विज्ञान-विषयक कार्य बहुत बाद हुआ। प्राचीनकाल में योरोप के सभी देशों में यूनान सभ्य देश रहा था। संस्कृति का मूलस्रोत यहीं था और यहीं से सारे योरोप में विस्तार को प्राप्त हुआ। भाषा-शास्त्र के सम्बन्ध में सर्वप्रथम सुकरात (४६९-३९९) ई० पू० विचार किया कि वस्तु और उसके नाम का शब्द और अर्थ में कोई स्वाभाविक सम्बन्ध है अथवा यह माना हुआ है। — उनका यह भी विचार था कि ऐसी भाषा

की भी सृष्टि हो सकती है जिसमें ऐसा सम्बन्ध स्वाभाविक हो। प्लेटो भी दार्शनिक थे। इन्होंने सर्वप्रथम योरोप में ध्वनियों के वर्गीकरण की ओर ध्यान दिया और ग्रीक ध्वनियों को इन्होंने दो भागों में विभाजित किया जिनके नाम सघोष और अघोष थे। सबसे प्रथम वर्ग में स्वर रखे तथा दूसरे में अन्य ध्वनियों को स्थान दिया, विचार और भाषा का विश्लेषण करते हुए इन्होंने उनकी एकता पर विचार प्रकट किये। उनका कहना था कि भाषा और विचार वास्तव में एक ही है, क्योंकि विचार आत्मा की मूक बातचीत है, वही जब ओठों से बाहर आकर प्रकट होता है, तब उसे भाषा के नाम से पुकारते हैं। एक अध्वन्यात्मक है और दूसरा ध्वन्यात्मक। अरस्तू ने प्लेटो के कार्य को कुछ आगे बढ़ाया और भाषा का विश्लेषण करने में विभाजन किया तथा संज्ञा और काल का भी विचार किया, इसके तीन भेद किये स्वर, अन्तस्थः और स्पर्श। स्वर की परिभाषा देते हुए अरस्तू ने कहा है कि स्वर वह है जिसकी ध्वनि बिना जिह्वा, ओठ के उच्चारण से हो यह परिभाषा बहुत ही वैज्ञानिक है। ग्रीक भाषा में सबसे पहले व्याकरण की रचना थ्रैक्स महोदय ने (ई० पू० २ सदी) की। इन्होंने कर्ता और क्रिया के साथ-साथ लिङ्ग, वचन, विभक्ति तथा काल पर भी अपने विचार प्रकट किये। धीरे-धीरे जब ग्रीस के स्थान पर रोम सभ्यता का केन्द्र हुआ तो ग्रीक के साथ-साथ भाषा-तत्व विशारदों ने लैटिन का भी अध्ययन प्रारम्भ किया और ग्रीक व्याकरण के आधार पर लैटिन का भी व्याकरण बनाया गया। इसी समय ईसाई धर्म का भी विस्तार हुआ और उसकी भाषा हिब्रू का भी इन दोनों के साथ तुलनात्मक अध्ययन होने लगा। हिब्रू को ईसाई लोग परमेश्वर की भाषा मानते थे। जिस प्रकार कि वेदों की भाषा को हिन्दू धर्म मतावलम्बी अपौरुषेय मानते हैं। समीपवर्ती तथा साम्राज्य में स्थित होने के कारण अरब तथा सीरिया आदि साहित्यिक भाषाओं का भी थोड़ा बहुत अध्ययन हुआ परन्तु लैटिन के अध्ययन की ओर विद्वानों का अधिक ध्यान रहा, वही धर्म और सभ्यता की एक-मात्र भाषा मानी जाने लगी और सारे योरोप में इसी का अध्ययन कार्य भी विद्यालयों में होने लगा तथा मातृ-भाषाओं की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। इस प्रकार अठारहवीं सदी के पूर्व भाषा सम्बन्धी जो कुछ भी कार्य हुआ उस पर लैटिन का प्रभाव पूर्ण रूप से लक्षित था। अठारहवीं सदी में कई योरोपीय विद्वानों का ध्यान भाषा की उत्पत्ति की ओर आकर्षित हुआ। रूसो ने भाषा के उद्गम में निर्णय-सिद्धान्त को ठीक माना था। इस प्रश्न पर सर्वोत्तम खोज जे० जी० हर्डर की है। उन्होंने अपने 'भाषा की उत्पत्ति' नामक निबन्ध में भाषा के दैवी-उत्पत्ति सिद्धान्त का पूर्ण रूप से खण्डन किया। उनका कहना था भाषा को मनुष्य ने ही बनाया है और आवश्यकता के कारण ही भाषा का स्वाभाविक विकास हुआ है इनके अतिरिक्त एक और जर्मन विद्वान जेनिश ने आदर्श भाषा

ध्वनि-शास्त्र का इनको पूर्ण ज्ञान था। इस सम्बन्ध में एक वृहदाकार पुस्तक की भी रचना की। इनके अतिरिक्त दूसरे विद्वान ब्रेड स्डार्प थे जिनका नाम विशेपोल्लेखनीय है। इनका महत्वपूर्ण कार्य भाषा की परिवर्तनशीलता की ओर था कि किन कारणों से भाषा मे परिवर्तन हुआ करते हैं। इसके लिए इन्होंने इस ग्रन्थ की भी रचना की। अगस्ट-श्लाइावर (१८२१-६८) भाषा-विज्ञान के प्रकाण्ड विद्वान थे। इनको कई भाषाओं का ज्ञान था। इन्होंने लिथुएनी, रूसी आदि कुछ भाषाओं का महत्वपूर्ण विवेचन किया और भाषा-विज्ञान के मूल सिद्धान्त निर्धारित किए। इनका कहना था कि मनुष्य जाति का वर्गीकरण उसके शारीरिक आधारों पर न करके भाषा की निर्मलता के आधार पर करना चाहिए। इन्होंने भाषाओं का वर्गीकरण, अयोगात्मक, आश्लिष्ट, योगात्मक तथा अयोगात्मक तीनों भागों में किया। योरोप में भाषा-विज्ञान के अध्ययन का आधुनिक युग इन्हीं के बाद आरम्भ होता है। ये प्राचीन युग और नवीन युग को मिलाते है। इस समय तक भाषा-विज्ञान का पर्याप्त अध्ययन हुआ पर अभी तक इसका ज्ञान विद्वद्वर्ग में ही सीमित था। अन्य साधारण लोग इससे पूर्ण अपरिचित थे क्योंकि अब तक विद्वानों ने भाषाओं का अध्ययन करके उनके मूल तत्वों की व्यख्या की परन्तु उनको सर्व साधारण के सम्मुख रखने का कार्य इन्होंने भी नहीं किया। इस कार्य का श्रेय मैक्समूलर को ही दिया जाता है। इन्होंने सन् १८६१ में जो व्याख्यान दिये थे वे पुस्तक के रूप मे छपे थे। इनकी शैली इतनी रोचक थी कि भाषा-विज्ञान जैसे नीरस विषय को भी सरस बना दिया और सामान्य शिक्षित जनता भी भाषा-विज्ञान की ओर आकर्षित हुई। भाषा के उद्गम, भाषा की प्रवृति, भाषा का विकास, और उसके कारण आदि विषयों पर किये गये कार्यों को संग्रहीत किया। प्रधान रूप से ये साहित्यिक ही थे। संस्कृत भाषा के ये प्रकाण्ड पण्डित थे। सायण भाषा के साथ इनका जो ऋग्वेद का संस्करण है वह अब तक प्रामाणिक माना जाता है। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में अमेरिकन विद्वानों के प्रविष्ट होने वालों में सर्व-प्रथम नाम ह्विटनी का ही आता है। ये सस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे और प्रधान रूप से वैयाकरण थे। इन्होंने भाषा-विज्ञान सम्बन्धी कई पुस्तकें की रचना को। मैक्समूलर से इनकी बड़ी प्रतिद्वन्द्विता थी। विद्वता की दृष्टि से ये मैक्समूलर से अधिक विद्वान थे परन्तु अंग्रेजों का आधिपत्य होने के कारण भारतवर्ष में इनको मैक्समूलर की अपेक्षा अधिक ख्याति नही मिली इन्होंने मैक्समूलर के काल्पनिक विचारों की कड़ी आलोचना की। इतना स कुछ होते हुए भी भाषा-विज्ञान के अध्ययन का जो नवीन युग आरम्भ हुआ। इन्होंने प्राचीन विद्वानों के दृष्टिकोण को जो व्याकरण के नियमों पर आधारित शब्द की व्युत्पत्ति मानते थे बदल दिया और सिद्ध किया कि भाषा के अ-

बोलने वाला संसर्ग से सीखता है। व्याकरण की तरह उसके सामने धातु एवं प्रत्यय नहीं होते। वह पहले सीखे हुए शब्दों के आधार पर सादृश्य से नवीन शब्दों को ढालता रहता है और उनका प्रयोग करता चलता है। इस शाखा के विद्वानों में कार्ल ब्रुगमन, ग्रासमैन, वर्नर तथा अस्कोली आदि प्रसिद्ध हैं। ब्रुगमन का सबसे बड़ा कार्य योरोपीय भाषा के व्याकरण से सम्बन्धित था। इस व्याकरण के चार भाग हैं। इनका अनुनासिक सिद्धान्त भी प्रसिद्ध है। ग्रास-मेन वर्नर तथा आस्कोली इन तीनों ने ध्वनि के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में विभिन्न प्रकार से भाषा सम्बन्धी अनुशीलन हुआ। जिसमें निम्नांकित कार्य मुख्य हैं। भाषा की उत्पत्ति, भाषा का वर्गीकरण, भाषा के प्रधान भेद यथा वाक्य-विज्ञान, रूप-विज्ञान, ध्वनि-विज्ञान, अर्थ-विज्ञान, भाषा-विज्ञान के सामान्य सिद्धांत, भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन, मनोविज्ञान तथा मानव विज्ञान पर आधारित अध्ययन, लिपियों का अध्ययन आदि है। इन क्षेत्रों में विभिन्न विद्वानों ने महत्वपूर्ण खोजें की है। भारतवर्ष में अभी कुछ समय तक हो सकता है कि भाषा-विज्ञान के मूल सिद्धांतों पर कोई मौलिक कार्य न हो सकेगा।

भाषा का विकास और उसकी स्थिरता :—परिवर्तनशीलता सृष्टि का प्रधान गुण है। अतः इसकी प्रत्येक वस्तु में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। कोई भी वस्तु नित्य नहीं है। सृष्टि के विकास का मूल कारण परिवर्तन ही है। परिवर्तन चक्र के समाप्त होने से ही महाप्रलय हो जाती है। प्रसाद के शब्दों में 'शान्ति ही मृत्यु का दूसरा नाम है और परिवर्तन ही जीवन है'। इस संसार में कुछ वस्तुयें ऐसी हैं, जिनमें परिवर्तन बहुत ही शीघ्र हो जाता है जो हमें प्रत्यक्ष रूप से दिखायी देता है, किन्तु कुछ-कुछ वस्तुयें ऐसी भी हैं, जिनमें परिवर्तन तो होता रहता है, किन्तु वह इतने धीमे रूप में होता है कि उसमें वह स्पष्ट रूप से प्रतीत नहीं होता, किन्तु अधिक काल के व्यतीत हो जाने पर स्पष्ट रूप से प्रतीत हो जाता है। कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है। इसी प्रकार भाषा भी परिवर्तनशील है परन्तु भाषण की क्रिया के समान उसमें इतनी अस्थिरता नहीं है जो शीघ्र ही परिवर्तित होती रहे तथा प्रत्येक नई पीढ़ी के आने के साथ ही परिवर्तित होती जाती हो। उसकी एक धारा बहती है जो निरन्तर परिवर्तनशील होने पर भी स्थायी और नित्य होती है। जिस प्रकार सागर में लहरें उठती हैं और विलीन होती रहती हैं उसी प्रकार भाषा में भी असंख्य शब्द नये नित्य बनते रहते हैं और नष्ट होते हैं। भाषा की रचना का आधार उसकी ऐतिहासिक परम्परा पर ही होता है। इसी कारण उसे बालक पूर्वजों से सीखता आता है। संसर्ग और अनुकरण से ही बोलने वाला उसको सीखता है। जब एक शब्द चल पड़ता है तब उसे अन्य लोग उसकी परीक्षा के लिए तर्क-वितर्क नहीं करते किन्तु संसर्ग से सीखकर प्रयोग करने लगते हैं। अतएव प्रत्येक पीढ़ी अपनी नई भाषा नहीं उत्पन्न करती। वह उसे कुछ परिवर्तन के साथ सीखकर ही चलती है परन्तु भाषा की यह परम्परागत अविच्छिन्न धारा नदी की धारा के समान आगे बढ़ने के साथ-साथ बदलती भी रहती है। इसी प्रकार भाषा की परम्परा एक रहने पर भी धीरे धीरे अस्पष्ट रूप से बदलती जाती है। कालान्तर में वही भाषा इतनी परिवर्तित हो जाती है कि उसके रूप को जानने वाला उसके दूसरे रूप को सरलता से नहीं समझ पाता। किसी जाति के इतिहास के भिन्न-भिन्न कालों के प्राचीन ग्रन्थों को देखने से यह बात तुरन्त स्पष्ट हो जाती है कि भाषा में अनेक प्रकार के परिवर्तन धीरे-धीरे होते रहते हैं। व्याकरण, वाक्य-विन्यास, शब्दों का स्वरूप, शब्दों का अर्थ बहुत कुछ बदल जाता है। प्राचीन शब्द प्रयोग में आने बन्द हो जाते हैं। नवीन शब्दों की रचना होती रहती है। प्राचीन शब्दों में योग्यतमावशेष न्याय से योग्य शब्द ही जीवित रहते हैं। इस प्रकार से परिवर्तन को कोई उन्नति, कोई अवनति और कोई उसको निरा ह्रास मानते हैं। सर्वदा परिवर्तन चक्र में ही घूमते रहने में उसका विकास है। भाषा-विज्ञान में विकास **से तात्पर्य परिवर्तन से ही है परिवर्तन से भाषा उन्नति की ओर भी अग्रसर हो**

चलती है और अवनति की ओर भी। जैसे सत्यदेव का रूप परिवर्तित होकर सतदेव और सत्तो हो जाय तो भाषा-वैज्ञानिक इसको अवनति न कहकर विकास ही कहेगा और नवजात शब्द शृंखला को उपयोगी सिद्ध करेगा। ऐसे अन्य भी उदाहरण दिये जा सकते हैं। इस उपर्युक्त विवेचन से हम अन्त में इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भाषा की धारा पारस्परिक और अविच्छिन्न होने पर भी सतत् विकसित होती रहती है। वह कोई कुलक्रमागत अथवा पैतृक वस्तु नहीं है जिस पर जन्मसिद्ध अधिकार हो वह तो अन्य कलाओं की भाँति सीखी जाती है। आद्यन्त वह एक सामाजिक वस्तु है समाज से ही व्यक्ति उसका अर्जन करता है। संसर्ग और अनुकरण द्वारा ही हम भाषा को सीखते हैं। अनुकरण मनुष्य का प्रधान गुण है, परन्तु फिर भी वह पूर्ण रूप से अनुकरण नहीं कर पाता और उसमें कुछ परिवर्तन हो जाता है। यही उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति है। सारांश में यही भाषा की स्थिरता और गतिशीलता की रहस्यात्मकता है जिसको स्पष्ट रूप में हम न देख सकते हैं और न हम समझ सकते है।

भाषा की वृद्धि व ह्रास—यहा पर दो बातें विचारणीय हैं प्रथम यह है कि जो भाषा की उत्पत्ति दैवी मानते हैं उनके अनुसार भाषा निरन्तर ह्रास की ओर अग्रसर हो रही है और जो शब्दानुकृति आदि से भाषा की उत्पत्ति मानते हैं उनके लिए भाषा वृद्धि को प्राप्त हो रही है। यहाँ पर हम दोनों मत पर विचार प्रकट करते हैं। भाषा-वैज्ञानिक फ्रेज वाय ने जो कि अर्थों में परिवर्तन प्रकट हुए हैं उनको भाषा का विकास माना है। कीथ ने वेदों की भाषा की अपेक्षा कहीं लौकिक संस्कृत भाषा को सुव्यवस्थित और विकासपूर्ण माना है, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। वेदों की भाषा, कहीं अधिक समृद्ध है। उसमें एक भाव को व्यक्त करने वाले कई शब्द है किन्तु लौकिक संस्कृत में एक ही शब्द रह गया है। उदाहरणार्थ 'मनु' तथा 'मनुष' और 'द्रविण' और 'द्रविणस्' दो-दो शब्द एक अर्थ को प्रकट करते है किन्तु लौकिक में मनु और द्रविण शब्द ही रह गये हैं ऐसे अनेक उदाहरण मिलते है। संस्कृत तथा ग्रीक आदि भाषाओं में उदात्त स्वरों का लोप हो गया है जो भाषा का ह्रास ही कहलायेगा विकास नहीं। जोन्स ने संस्कृत भाषा के विषय में लिखा है—"The Sanskrit language, whatever by its antiquity is of a wonderful structure more perfect than the Greek more copious than the Latin and more enquisitely refined than either." संस्कृत भाषा, इसकी प्राचीनता कितनी ही हो, आश्चर्यजनक बनावट वाली है, ग्रीक की अपेक्षा अधिक विस्तार वाली और दोनों की अपेक्षा अधिक परिमार्जित है। आर्य भाषाओं की अवनति के विषय में मैक्समूलर ने लिखा है कि "On the whole, the History of all the Aryan Languages is nothing but a gradual process of decay." संस्कृत भाषा की प्राकृत आदि में उत्तरोत्तर अवनति ही हुई है। संसार की विभिन्न भाषाओं

में विभक्तियों का लोप हुआ है जैसा मैंने लिखा है। इस ह्रास का मुख्य कारण आलस्य और प्रयत्न लाघव है।

बोली और भाषा—विकासवाद के अनुसार शब्दों से बोली और बोलियों के सहयोग से भाषा की उत्पत्ति हुई। बोली की परिभाषा देते हुए [illegible] ने लिखा है—"A dialect is a body of speech which does not contain within itself any differences that are commonly perceived as such by its users." अपने देश में बोली के लिए प्राचीन ग्रन्थों में देशान्तर भाषा देश भाषा अथवा देशी भाषा शब्दों का प्रयोग हुआ है। कहावत भी है कि—

"चार कोस पर पानी बदले आठ कोस पर बानी।"

भाषा की परिभाषा देते हुए वैण्ड्रयाज लिखता है—"A number of dialects grouped together on the bases of certain similarities which they possess as against other dialects is called a language." विकासवादियों का यह कहना है कि बोलियों से भाषा बनी किन्तु इसके विपरीत यह भी देखा जाता है कि भाषाओं ने धीरे-धीरे बोलियों का रूप धारण किया। भारतवर्ष में जो कई आधुनिक बोलियाँ हैं वे विकृत संस्कृत भाषा की अपभ्रंश ही हैं। इसी प्रकार मध्य एशिया के वर्तमान देश में प्राचीन ईरानी भाषा ग्रामीण बोली में परिवर्तित हो गयी। व्यावहारिक और साहित्यिक भाषा एक ही है, उनमें विशेष अन्तर नहीं होता। अरविन्द ने १९०८ कहा है कि पुरानी भाषायें निम्नावस्था को प्राप्त हुईं फिर उसी निम्नावस्था से नए रूप की बोलियाँ तथा भाषायें बनीं।

संस्कृत भाषा किस प्रकार उत्तरोत्तर ह्रास को प्राप्त हुई इस विषय पर विचार प्रकट करते हैं। वैदिक काल से पाणिनी तक हमें संस्कृत के पाँच रूप मिलते हैं। वैदिक संस्कृत जो आदि भाषा मानी जाती है द्वितीय इन्द्र आदि के व्याकरणों की भाषा तृतीय प्राचीन आर्यभाषा जो शालिहोत्र भारद्वाज आदि के ग्रंथों की भाषा थी। चौथी भाषा व्यास के महाभारत आदि पुराणों की है। अन्तिम पाँचवी भाषा वह है जिसे पाणिनि ने सूत्रबद्ध कर सीमित कर दिया और इस प्रकार संस्कृत भाषा के इन पाँच रूपों में ह्रास धातु और उनके रूपों में, नाम रूपों में, लिंग व वाक्य विन्यास में हुआ। जैसे "भी" धातु के योग में पहले पञ्चमी और षष्ठी दोनों का ही प्रयोग होता था किन्तु बाद में केवल पञ्चमी विभक्ति ही शेष रह गयी जैसे वाल्मीकि रामायण में "कस्य बिभ्यति देवाश्च जात रोषस्य संयुग" यह आरम्भ का वाक्य है किन्तु बाद में पाणिनि के समय में इसका रूपान्तर "संग्रामे कस्मात् देवता अपि बिभ्यति" हो गया। अंग्रेजी, जर्मन, अरबी आदि आधुनिक भाषाओं के शब्द संस्कृत भाषा के अपभ्रंश मात्र ही हैं। संसार की आदि भाषा एकमात्र संस्कृत ही है। भाषा के विकास पक्ष का स्वीकार करने वाले टीकरो ने भी इस बात को मान

है कि जो रूपों की विविधता प्राचीनतम भाषाओं में थी वह कालिदास आदि की लौकिक संस्कृत में कम रह गयी है। वैण्ड्रियस ने भाषाओं के विकास का प्रमुख कारण समाज माना है। उसका कहना है कि—"It (Language) owes its development to the existence of the social group" अन्त में हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जो आदिकाल मे वैदिक भाषा थी उसका धीरे-धीरे ह्रास हुआ और उसी से पश्चिम और पूर्व की यवन भाषाओं की उत्पत्ति हुई एवं भारत में प्राकृत, मागधी, अपभ्रंश, पालि आदि भाषाओं की उत्पत्ति हुई हिन्दी जो आज राष्ट्रभाषा है वह अपभ्रंश से विकसित हुई। पहले भाषाओं से बोलियां बनी पुनः बोलियों ने भाषाओं का रूप धारण किया।

भाषा परिवर्तन

एक पाश्चात्य विद्वान का कथन है कि—"सजीव भाषा परिवर्तित होती है और यह परिवर्तन समाज में ही होता है।" Where a language lives, it changes It changes in society. महाभाष्यकार पतञ्जलि का भी यही विचार है कि शिष्ट व्यवहार और साहित्य में आर्य संस्कृत ही रही किन्तु साधारण जनता मे कुछ परिवर्तन हुआ और अशुद्ध पदों की उत्पत्ति हुई और उसी से धीरे-धीरे प्राकृत और अपभ्रंश बनी। भाषा की गति नदी के समान है, जिस प्रकार नदी उत्तरोत्तर अपना मार्ग बदलती रहती है, किन्तु पर्वतीय स्थानों में नहीं बदल पाती उसी प्रकार नियंत्रित भाषा में अधिक परिवर्तन नही होता, किन्तु उसके विपरीत अनियंत्रित मे हो जाता है, जैसे वैदिक भाषा मे परिवर्तन नहीं हुआ किन्तु लोकभाषा संस्कृत मे जनसाधारण के सम्पर्क के कारण स्पष्ट रूप से परिवर्तन हो गया।

भाषा मे परिवर्तन अदृश्य रूप से होता रहता है जो कालान्तर के बाद स्पष्ट होता है। एक विद्वान का इस विषय में कथन है—"Language changes as human being do, but the changes are spread over periods of centuries instead of years."

भाषा मे परिवर्तन की दिशायें तथा कारण—

(१) **उच्चारण की अशक्ति**—कभी-कभी किसी व्यक्ति विशेष के स्वर यन्त्रों मे स्वाभाविक अशक्ति होती है। अतः वह शब्द का शुद्ध उच्चारण नहीं कर पाता।

(२) **स्वर यन्त्रों में विकार**—देश, काल अथवा अनुचित उपयोग का भी मानव के स्वरयंत्रों पर दूषित प्रभाव पड़ता है। भारतीय मनीषियों ने इन शरीर सम्बन्धी कारणों का विवेचन किया है—"न करालो न लम्बोष्ठो नाव्यक्तो नानुनासिकः। गद्गदो बद्धजिह्वश्च न वर्णान् वक्तु अर्हति।" अर्थात् विस्तृत मुख वाला, लम्बे ओठ वाला, अस्पष्ट भाषी, नासिका विवर से उच्चारण करने वाला, बद्ध जीभ वाला, वर्णों का कभी भी शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकता।

(३) **अज्ञानता**।

(४) **संस्कारहीनता**—अपढ़ साधारण जनता शब्दों का ठीक-ठीक उच्चारण न जानने के कारण उनका अशुद्ध उच्चारण करती है। जैसे भाषा का भाखा, सासनी का शासनी, यज्ञ का जग आदि उच्चारण करते हैं।

(५) **अयोग्य शिक्षक**—अशिक्षित शिक्षक अथवा जो अध्यापक स्वयं शब्दों का ठीक उच्चारण नहीं कर सकते उनसे शिक्षा ग्रहण करने वाले भी कभी शुद्ध उच्चारण नहीं कर पाते।

(६) **मानसिक**।

(७) **प्रमाद**।

(८) **प्रयत्नलाघव**।

(९) **यथेच्छा**—कभी-कभी शब्दों के शुद्ध और अशुद्ध भेद को जानते हुए भी अपनी इच्छा से अशुद्ध उच्चारण करते हैं। जैसा आनन्दवश छोटे-छोटे बच्चों के साथ प्रेम की बोली में किया जाता है तथा माता, पिता, भाई आदि लोग भी बोली में छोटे-छोटे बच्चों से कहते हैं मुन्ना ओनी ला आदि। इन्हीं कारणों से अशुद्ध शब्दों का अनुकरण जब शिक्षित बालक करता है और उस पर उसके गुरुजन अथवा माता-पिता ध्यान नहीं देते तो नई पीढ़ी में भी अपशब्दों का प्रचलन होता है और कालान्तर के बाद भाषा में बहुत कुछ परिवर्तन हो जाता है। लिपि दोष के कारण भी भाषा में परिवर्तन होता पाया जाता है।

प्रयत्न लाघव आठ प्रकार का होता है—

(क) **वर्ण विपर्यय**—चाकू=काचू, [illegible], लखनऊ=नखलऊ।

(ख) **वर्ण लोप**—[illegible], [illegible], [illegible], सतनाज=सतनजा, यष्टिक=Stick (अंग्रेजी)।

(ग) **समीकरण**—यस्य=जस्स (प्राकृत), दुग्ध=दुद्ध (पंजाबी)।

(घ) **विषमता**—मुकुट=मुउट, मुकुल=मुउल। इसमें वर्णों के साथ लगा स्वर शेष रह जाता है।

(ङ) **स्वरभक्ति**—इसके द्वारा संयुक्ताक्षर इत्यादि स्वर अधिक हो जाता है। भवति=बवदति (अवेस्ता), कृष्ण=करसन, सकृत्=हकरत् (अवेस्ता)।

(च) **अग्रागम**—इसके शब्द के पूर्व कोई नया अक्षर लग जाता है। स्कूल=इस्कूल, स्त्री=इस्त्री (पंजाबी)।

(छ) **उभय सामिश्रण**—हमने देखा=हम देख।

(ज) **स्थान विपर्यय**—सिगनल=सिगल, स्नान=नहान।

विपर्यय विषयक प्राचीन मत—"वर्णागमो वर्ण विपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्ण विकार नाशौ।" निरुक्तकार यास्क ने इन परिवर्तनों को दस भागों में विभक्त किया है

(१) **आदि लोप**—अस् धातु के अ का लोप स्तः, सन्ति ।

(२) **अन्त लोप**—गम् के म् का लोप गत्वा, गतम्, गतवान् ।

(३) **उपधा**—अन्त्य वर्ण से पूर्व वर्ण का लोप—गम् के म् से पूर्व अ का लोप जग्मतुः, जग्मुः ।

(४) **उपधा विकार**—राजन् के न् से पूर्व अ को दीर्घ राजा ।

(५) **वर्ण लोप**—याचामि च का लोप यामि ।

(६) **द्विवर्ण लोप**—चि + ऋच् में र, इ दो वर्णों का लोप होकर तृच ।

(७) **आदि विपर्यय**—हन् धातु के ह को घ घ्नन्ति ।

(८) **आद्यन्त विपर्यय**—कृत् से कर्तु बनकर तर्कु (चाकू) ।

(९) **अन्त विपर्यय**—मिह् से अन्त्य अक्षर ह् का घ होकर मेघ ।

(१०) **वर्णोपाजन**—(वर्णागम) यथा वृ से बने वार के आरम्भ में द् का उपजन होकर द्वार बना ।

विकासवादी वैण्ड्रियज ने सादृश्य की महत्ता प्रकट करते हुए कहा है कि—"Analogy, indeed, the foundation of all morphology" किन्तु ब्लूम फील्ड ने कहा है कि—"The task of tracing analogy in word, composition has scarcely been undertaken." शब्दो की रचना में सादृश्य की खोज का काम अभी आरम्भ ही नहीं हुआ । प्राचीन वैदिक सस्कृत में सादृश्य के कारण कहीं भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ क्योंकि प्राचीन महर्षि व्याकरण के उद्भट विद्वान थे और शुद्ध उच्चारण करते थे । अतः उन्होंने सस्कृत भाषा में परिवर्तन के लिए सादृश को स्थान ही नहीं दिया, किन्तु उसके बाद विद्या की कमी के कारण प्राकृत और अपभ्रशो में सादृश्य का प्रभाव दिखाई देता है ।

भाषा में परिवर्तन के कारण—भाषा के विकास और परिवर्तन पर भी स्वाभाविक कारणों के अतिरिक्त आगन्तुक या आनुषङ्गिक कारणों का भी प्रभाव पड़ता है । इन दोनों कारणों का विवेचन हम निम्नांकित करेंगे । इस प्रकार भाषा के परिवर्तन में प्रमुख दो कारण हुए—

(१) स्वाभाविक कारण अथवा मौलिक कारण ।

(२) आनुषङ्गिक कारण अथवा बाह्य कारण ।

१—स्वाभाविक कारण अथवा मौलिक कारण

भाषा के स्वाभाविक कारणों (आभ्यन्तर कारणों) को हम मुख्यतया तीन भागों में विभाजित कर सकते है । इन चारों का ही हम संक्षेप में निम्नांकित वर्णन करते है—

(१) **प्रयत्न लाघव की प्रकृति**—मानवमात्र स्वभाव से ही कम से कम प्रयत्न कर उद्देश्य की पूर्ति करना चाहता है । इसके लिए कई प्रकार के उदाहरण दिये जाते है । जैसे कि एक विद्यार्थी परीक्षा मे पास होने के लिए यही प्रयत्न करता है कि

कम से कम परिश्रम करके उच्च श्रेणी में वह उत्तीर्ण हो जाये और मनोरथ की सिद्धि के लिए वह महत्वपूर्ण अंशों को ही अच्छी तरह से बारम्बार देखता है। उन पर विचार करता है और शेष साधारण अंशों को छोड़ देता है। इसी प्रकार जल भी नीचे को सरलता से ही बहता है क्योंकि नीचे को वह सरलतापूर्वक जा सकता है। ठीक इसी प्रकार भाषा के विकास और परिवर्तन की धारा भी प्रयत्न-लाघव या सरलता के 'निम्न' मार्ग पर ही चलती है। संस्कृत वैयाकरणों की इसके विषय में एक लोकोक्ति है—"अर्धमात्रा लाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः।" अर्थात् आधी मात्रा की बचत को भी वैयाकरण पुत्रोत्सव के समान मानते हैं। यह प्रयत्न लाघव की प्रवृत्ति की ही एक अतिशयोक्तिपूर्ण व्याख्या है। भाषा के विकास में प्रयत्न लाघव का सिद्धान्त कई प्रकार से कार्य करता हुआ दिखाई देता है। अधिक प्रयोग के कारण शब्दों का रूप एक प्रकार से घिस जाता है और बड़े-बड़े शब्दों को सरलता के लिए छोटा बना लिया जाता है। कृष्ण का कान्हा, गुरु का गिरु, मगेन्द्र का मगो, Know का नो, Knife का नाइफ, Knowledge का नालिज आदि सरलता या लाघव की दृष्टि से कुछ शब्द छोड़कर लिये जाते हैं। जैसे उपाध्याय का झा, Railway Mail Service का R. M. S. आदि। बलाघात और भावातिरेक से भी भाषा में परिवर्तन होता है। इसके मूल में भी सुविधाजन्य प्रयत्न लाघव ही है। जैसे प्रेमातिरेक के कारण बहू का बहुरिया, चाचा का चचिया, सच्चिदानन्द का सत्तो आदि। प्रयत्न लाघव को हम मुख सुख भी कहते हैं। इसके प्रयोग करने के लिए कई भेद हैं। जिनका ऊपर वर्णन कर चुके हैं।

(२) **अनुकरण की अपूर्णता**—भाषा को मनुष्य अनुकरण द्वारा ही सीखता है, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति दूसरे का अनुकरण कुछ कारणों के कारण पूर्ण रूप से नहीं कर पाता। इसके प्रमुख कारण तीन हैं जिनसे श्रोता वक्ता का पूर्ण अनुकरण नहीं कर पाता है। प्रथम शारीरिक संगठन विभिन्न होता है। प्रत्येक व्यक्ति के अवयव एक से नहीं होते जिस कारण उच्चारण करने में भेद हो जाता है। इसी से शरीर के भेद के कारण भाषा-भेद होता है, परन्तु यह भेद सामान्यतः कई पीढ़ियों के बाद स्पष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त दूसरा ध्यान की कमी के कारण भी अनुकरण अपूर्ण रह जाता है। तीसरी दशा अशिक्षा तथा अज्ञान है। जैसे दश से दस यहाँ श का स तथा ष का स (तृष्णा से तिसना) ण का न (गुण, गुन) क्ष का छ। शिक्षा का सिच्छा। आदि विदेशी शब्द भी इस अशिक्षा और अज्ञान के कारण जनता में एक और ही नवीन रूप धारण कर लेते हैं। लैफ्टीनेन्ट का लफटंट, कानूनगो का कानीगोह, रिपोर्ट का रपट आदि।

(३) **मानसिक अवस्था भेद**—मानसिक स्तर में परिवर्तन होने से विचारों में परिवर्तन होता है क्योंकि विभिन्न भाषा परिवारों से सम्बन्ध रखने वाली विभिन्न जातियों की मानसिक अवस्था एक दूसरे से नहीं मिलती और इससे भाषा में भेद उत्पन्न हो जाता है।

२—बाह्य कारण अथवा आगन्तुक या आनुषङ्गिक

(१) **भौतिक वातावरण**—भाषा पर इसका सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। एक परिवार में कई भाषाओं का होना और उन भाषाओं में भी कई विभाषा एवं बोलियों का होना इसी का ही कारण है। इसमें जलवायु का अधिक प्रभाव पड़ता है क्योंकि इसके कारण मनुष्यों के रहन-सहन में बहुत परिवर्तन हो जाता है। भौगोलिक परिस्थितियाँ भी भाषा के परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं क्योंकि जहा समतल भूमि होती है वहाँ की भाषा में एक समता रहती है किन्तु जहाँ जमीन पहाड़ी होती है वहाँ थोड़ी-थोड़ी दूर पर बोली बदल जाती है क्योंकि वहाँ के निवासियों में मैदान में रहने वाले निवासियों के समान सम्पर्क नहीं हो पाता।

(२) **सांस्कृतिक प्रभाव**—संस्कृति समाज का सर्वस्व है। इसलिए संस्कृति का भाषा से भी घनिष्ट सम्पर्क रहता है। विभिन्न जातियों की संस्कृति के मेल से ही भाषा का रूप परिवर्तित होता रहता है। उदाहरण के लिए भारत में यवन आय, अंग्रेज आये इन दोनों की सभ्यता के सम्पर्क से इनकी भाषाओं के अनेक शब्द हिन्दी मे आये और वे ऐसे घुलमिल गये हैं कि उनको अब हिन्दी से अलग नहीं किया जा सकता। वे पूर्ण रूप से उनके अंग बन गये हैं जैसे पाजामा, कागज, कलम, बाजार, रेल, चाय, फैशन, डिग्री, साइकिल, मोटर आदि अनेकों शब्द हैं। इनके अतिरिक्त आपस के विचार विनिमय का भी प्रभाव पड़ता है। महान् व्यक्तियों का भी भाषा पर प्रभाव पड़ता है।

(३) **समाज की व्यवस्था**—जिस समय समाज में शान्त वातावरण रहता है उस समय मनुष्य का मस्तिष्क उन्नति की ओर अग्रसर होता है। इससे उस समय की भाषा भी उन्नतिशील और शुद्ध तथा परिष्कृत होती है किन्तु, इसके विरोध में जबकि समाज में युद्ध तथा क्रान्ति का समय है तब संकेतों से ही काम लिया जाता है, और इस प्रकार समाज की शान्ति और अशान्तिपूर्ण तथा सुख और दुःखपूर्ण अवस्था का भाषा के ऊपर पूर्ण प्रभाव पड़ता है।

(४) **सादृश्य या मिथ्या सादृश्य** :—शब्दों के अन्दर भी कुछ रूप ऐसे होते है जो वर्ण विकार संबधी नियमों में नहीं आते। उनकी उत्पत्ति का कारण सादृश्य ही होता है। शब्द अथवा काव्य भाषा में सादृश्य के आधार पर बन जाते हैं जैसे करिन् शब्द मे तृतीया के एक वचन में करिणा रूप बना है परन्तु 'हरि' शब्द से हरिणा कैसे बना ? क्योंकि इसके अन्त में 'न' नहीं है। इसका कारण सादृश्य ही है। अंगरेजी शब्द Cow (गौ) शब्द का बहुवचन पहले Kine था पर अब Dogs के सादृश्य पर Cows प्रयुक्त होता है। अभिप्राय यह है कि भाषा के विकास और परिवर्तन मे सादृश्य के सिद्धान्त का भी विशेष महत्व है।

भाषा के विविध रूप—भाषा शब्द के अनेक रूप हैं। भाषा के द्वारा मनुष्य के मनोभाव और विचार व्यक्त होते हैं भाषा के उन विविध रूपों में जो प्रमुख हैं

उनका हम नीचे वर्णन करते हैं। समस्त संसार की भाषाओं को कई परिवारों में पृथक-पृथक विभाजित कर दिया गया है। उनमें से प्रत्येक परिवार में कुछ भाषा वर्ग होते हैं। उनमें से प्रत्येक वर्ग में कई समकालीन भाषायें होती हैं। उनमें भी एक भाषा में कई विभाषायें होती हैं। विभाषाओं की पृथक-पृथक बोलियां होती हैं। इस प्रकार भाषा के प्रमुख रूपों को हम इन नाम से पुकार सकते हैं—(१) भाषा, (२) राष्ट्रभाषा (३) बोली, (४) आदर्श भाषा, (५) विशिष्ट भाषा, (६) कृत्रिम भाषा।

बोली—बोली से हमारा तात्पर्य उस स्थानीय ग्रामीण बोली से है जो साहित्यिक भाषा से अशुद्ध रूप में होती है। यह केवल बोलने वालों के मुख में ही प्रयुक्त होती है। इसकी रूप रचना, वाक्य रचना आदि में महत्वपूर्ण भिन्नता नहीं होती। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से इस भाषा का मूल्य साहित्यिक भाषा से कहीं अधिक है। साहित्यिक भाषा की कृत्रिमता, आंशिक-स्थिरता उसको बोलचाल की भाषा से पृथक करती है। एक विभाषा के अन्तर्गत कई बोलियां (उपभाषायें) होती हैं। बोलियों की उत्पत्ति का कारण प्रमुख रूप से भौगोलिक परिस्थिति ही है। जब कोई बोली अपनी अन्य साथ की बोलियों के नष्ट हो जाने पर अकेली रह जाती है तो उसे भाषा की संज्ञा मिल जाती है। 'खड़ी' इसी प्रकार भाषा के रूप को प्राप्त हुई। साहित्य तथा धार्मिक दृष्टि से भी बोलियों का महत्व बढ़ जाता है और वह भाषा का रूप धारण कर लेती है। जैसे मथुरा और अयोध्या के आसपास की भाषा तीर्थ स्थान होने के कारण ब्रज और अवधी कहलायीं और कई शताब्दियों तक साहित्य की भाषा बनी रहीं। बोली के प्रभाव एवं महत्वपूर्ण होने का कारण सबसे बड़ा राजनीति है। बोली और भाषा में मुख्य अन्तर यही है कि एक का क्षेत्र सीमित है और दूसरी का विस्तृत। बोली भाषा के अन्तर्गत आती है।

विभाषा अथवा साहित्यिक भाषा—एक प्रान्त तथा उपप्रान्त की भाषा को विभाषा कहते हैं। इसमें साहित्यिक रचना होने के कारण इसका नाम साहित्यिक भाषा भी है। साहित्यिक भाषा के लिए प्राचीन शब्द शिष्ट-भाषा और सर्वसाधारण की भाषा के लिए प्राकृत भाषा है। इसको हम आदर्श भाषा भी कह सकते हैं। जब बोली विकसित होकर आदर्श भाषा का रूप धारण कर लेती है तब आसपास की अन्य बोलियों की सभी विशेषतायें खो जाती हैं। जिस प्रकार अवधी और ब्रजभाषा बहुत काल से साहित्यिक भाषा के रूप में चली आ रही थीं किन्तु खड़ी बोली ने विकसित हो हिन्दी का रूप धारण कर लिया और आज के साहित्य की भाषा बनी हुई है, ब्रज और अवधी दोनों उसकी बोलियां मात्र रह गई हैं। यद्यपि खड़ी बोली जो कि उत्तरी भारत में आदर्श भाषा बनी हुई है, आपसी व्यवहार का साधन है फिर भी इसका साहित्यिक रूप विशुद्ध हिन्दी है, जो व्यवहार की भाषा हिन्दुस्तानी (हिन्दी उर्दू मिश्रित) से भिन्न है। इस प्रकार आदर्श भाषा के दो रूप हुए (१) लिखित, (२) मौखिक। लेखबद्ध साहित्यिक भाषा विशिष्ट भाषा होती है। यह भाषा मौखिक भाषा से अधिक सुसंस्कृत होती है। यह एक भाषा क्षेत्र की [illegible] मात्र

है। मौखिक रूप इतना शुद्ध नहीं होता उसमें विभिन्न स्थानों की प्रादेशिक छाप रहती है।

राष्ट्रभाषा अथवा टकसाली भाषा :—राष्ट्रभाषा अथवा टकसाली भाषा आदर्श भाषा का ही विकसित रूप हैं। जब आदर्श भाषा का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है, उसमें कई विभाषाएँ व्यवहृत होने लगती हैं। ऐसी शिष्ट परिगृहीत आदर्श भाषा ही राष्ट्रभाषा अथवा टकसाली भाषा कहलाती है। अन्य विभाषाओं के क्षेत्र में भी इसका प्रयोग सार्वजनिक कार्यों मे होने लगता है, और इसका अन्य विभाषाओं पर प्रभाव पड़ता रहता है। साहित्यिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक आन्दोलनो मे ही कोई विभाषा राष्ट्रभाषा के पद को प्राप्त करती है। आजकल हिन्दी ने धीरे-धीरे सम्पूर्ण भारतवर्ष में यही स्थान प्राप्त कर लिया है। वह अब हिन्दी भाषा क्षेत्रों में भी व्यवहार मे आ रही है। व्यापार आदि के क्षेत्रों भी आज अंग्रेजी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा बनी हुई है।

विशिष्ट भाषा :—विभिन्न वर्गों की व्यवसाय अथवा कार्यों के अनुसार बोली अथवा साहित्यिक भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाएँ भी होती है जिनको हम विशिष्ट भाषा कहते हैं। उदाहरणार्थ व्यापारियों की भाषा, कानूनी भाषा, पंडितों की भाषा, छात्रों की भाषा आदि। इस प्रकार की विशिष्ट भाषा किसी न किसी जीवित लोक-भाषा पर ही आश्रित रहती है। उससे अन्तर अधिकांश में केवल शब्दावली का ही रहता है। एक उदाहरण देते हैं।

(१) **अध्यापकों की भाषा**—इस विषय का विवेचन करने के पश्चात् आगामी प्रश्न का स्पष्टीकरण करते है।

(२) **डाक्टरों की भाषा**—आप अपना ब्लड्, यूरीन आदि टेस्ट करा लीजियेगा।

(३) **वकीलों की भाषा**—मुंसिफ की कोर्ट में मोहन का मुकदमा पेश होगा। इस प्रकार विशिष्ट वर्ग की एक विशिष्ट भाषा बन जाती है।

विद्यार्थियों की सुविधा हेतु हम विभिन्न विद्वानों द्वारा भाषा की परिभाषाएँ देते हैं, तथा बोली आदि से उसका अन्तर सम्बन्धी विचार भी प्रस्तुत करते हैं :—

समरूपतावादी प्लेटो ने भाषा को कुछ इस प्रकार पारिभाषित किया है—

1. "Language was natural and therefore at bottom regular and logical"

—*Bloomfield—Language.*

2. "Language may be defined as an arbitrary system of vocal symbols by means of which human beings as members of a social group and participants in culture interact and communicate."

Encyclopaedia Britannica.

3. "Language is a system of arbitrary vocal symbols by means of which members of a social group co-operate and interact."

—*Strutevant—Linguistic Change*

4. "The most general definition of language that can be given is that it is a system of signs. By signs we understand all those symbols capable of serving as a means of communication between men."

—*Vendreys, J—Language—A Linguistic Introduction to History*

5. "A language is a system of arbitrary vocal symbols by means of which a social group co-operates"

—*Bloch and Trager—Outline of Linguistic Analysis*

६—"भाषा वह साधन है जिसके द्वारा मनुष्य अपने विचार दूसरों पर भली-भाँति प्रकट कर सकता है और दूसरों के विचार आप स्पष्टतया समझ सकता है।"

—कामताप्रसाद गुरु—'हिन्दी व्याकरण' प्रस्तावना, पृष्ठ १

७—'भाषा उच्चारण अवयवों से उच्चरित यादृच्छिक (arbitrary) ध्वनि-प्रतीकों की वह व्यवस्था है, जिसके द्वारा एक समाज के लोग आपस में भावों और विचारों का आदान-प्रदान करते हैं।"

८—"जिसकी सहायता से मनुष्य परस्पर विचार-विनिमय या सहयोग करते हैं, उस यादृच्छिक, रूढ़ ध्वनि संकेत की प्रणाली को भाषा कहते हैं।"

—देवेन्द्रनाथ शर्मा—"भाषा विज्ञान की भूमिका" पृ० [illegible]

९—"शब्दः कारणमर्थस्य स हि तेनोपजन्यते
तथा च बुद्धिविषयादर्थाच्छब्दः प्रतीयते।" ३.३.३.२
"बुद्ध्यर्थादेव बुद्ध्यर्थे जाते तदपि दृश्यते।" ३.३.३.३

उपर्युक्त कथनों से भर्तृहरि का अभिप्राय है—"शब्द-व्यापार या भाषा-प्रक्रिया दो बुद्धियों के बीच आदान-प्रदान कारक माध्यम है।"

लेकिन विश्लेषण आदि की दृष्टि से भाषाएँ और बोलियाँ अध्येता को प्रायः एक ही प्रकार की अध्ययन सामग्री प्रदान करती हैं। कतिपय विदेशी विचारकों की मान्यताएँ द्रष्टव्य हैं—

"To the linguist there is no real difference between a dialect and a language which can be shown to be related however remotely to another language. By

preference the term is restricted to a form of speech which does not differ sufficiently from another form of speech to be uninetelligibli to the speakers of the la'er"

—Selected w,itings of Edward Sapir, Page 83

"There is no intrinsic difference between language and dialect. The former being a dialect which, for some special reason, such as being speech form of the locality which is the seat of the government has acquired pre-eminence over the other dialects of the country. Actually, there is no clear cut reply to the question. Even a linguist shrinks from answering it"

—The Story of Language-Mario Pei Page 26.

"The common definition of speech as the use of articulate sound symbols for the expression of thought A A. Gardiners." विचार की अभिव्यक्ति के लिए व्यक्त ध्वनियों के व्यवहार को भाषा कहते हैं।

भाषा की उत्पत्ति—आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक आलोचकों ने भाषा की उत्पत्ति सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्तों को प्रमुखतया पाँच भागों में विभक्त किया है—

(१) परम्परागत (Traditional)
(२) रहस्यवादी मत (Mystic)
(३) अर्द्ध वैज्ञानिक (Semi-Scientific)
(४) मनोवैज्ञानिक मत (Psychological)
(५) विकासवाद।

भाषा की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न मत वैज्ञानिकों ने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार दिये, किन्तु अभी पूर्णरूपेण कोई भी मत सर्वमान्य नहीं है। इसीलिए कुछ विदेशी विद्वानों ने इस विषय में अपने मत प्रकट किये है जो नीचे दिये जाते हैं। इटली के एक विद्वान मेरियोपाई लिखते हैं—

"If there is one thing on which all linguists are fully agreed, it is that the problem of the origin of human speech is still unsolved."

"यदि कोई एक बात है, जिस पर सभी भाषाविद् पूर्णरूप से सहमत हैं तो वह यह है कि मानव बोली की उत्पत्ति की समस्या अभी तक पूर्ति को प्राप्त नहीं हुई।" दूसरे अमेरिका के विद्वान लिखते हैं-"जे० वैण्ड्रियस"—

"The problem of the origin of language does not admit of any satisfactory solution मानव भाषा की उत्पत्ति

की समस्या का कोई सन्तोषजनक निष्कर्ष नहीं है।" वास्तव में पाश्चात्य विद्वानों ने जबसे डार्विन के विकासवाद को स्वीकार किया है तभी से भाषा की उत्पत्ति के विषय में अंधकार सा छा गया है। यद्यपि जर्मन भाषा वैज्ञानिक श्लाईशर ने डार्विन के मत का खंडन किया और उन्होंने लिखा कि भाषा के सादृश्य पर डार्विन मत असत्य ठहरता है। यूरोप ने श्लाईशर के मत की उपेक्षा की और पाश्चात्य विद्वान अभी तक भाषा की उत्पत्ति के विषय में तमसाच्छादित हैं। फलस्वरूप इसी मत के अनुयायियों ने अनादिकाल की मूल भाषा संस्कृत को अत्यधिक प्राचीनतम मानने में हिचकिचाहट की है। अब यहाँ हम उपर्युक्त विभिन्न मतों पर विचार पृथक करते हैं—

१—दैवी सिद्धान्त परम्परागत :—आर्यों ने वाणी के दो रूप स्वीकार किये हैं प्रथम दैवी तथा दूसरा मानवी। दैवी से तात्पर्य है वह मन्त्रयुक्त भाषा जो देवताओं द्वारा स्वर्ग में उच्चारित हुई और मानवी से तात्पर्य उन मनुष्यों की भाषा से है जो लोक में प्रचलित थी। इस मानवी भाषा का मूल दैवी वाणी ही है; किन्तु [illegible] परिवर्तन के कारण इसने एक नवीन रूप धारण कर लिया था और धीरे-धीरे यह चार रूपों में प्रकट हुई—

(१) आदि भाषा [आदि भाषा जो वैदिक भाषा से बहुत कुछ मिलती जुलती थी जिसमें वैदिक शब्दों का ही अधिक प्रयोग था। द्वितीय आर्य भाषा थी जो उस समय की लोक भाषा थी। तृतीय भाषा महाभारतकालीन जन भाषा संस्कृत थी जो उस समय प्रचलित थी। चौथी पाणिनि के उत्तर काल की संस्कृत जो व्याकरण के नियमों से पूर्ण बद्ध हो गयी है। दैवी वाणी की उत्पत्ति के विषय में ऋग्वेद में उल्लिखित लिखा है कि "दैवी वाचमजनयन्त देवा:" ।८।१००।११।

इस विषय में विदेशी विद्वानों का मत भी यही है मिस्र के विद्वान भी 'पवित्र लेख' को "न्द्रन्त्र" कहते थे, जिसका अर्थ है दैवी भाषण। यूनानी विद्वान होमर का भी यही मत था कि देवों की भाषा और मानव जाति की भाषा पृथक्-पृथक् थी। संसार की प्राचीन और अति प्राचीन जातियों का यही विचार रहा है कि सृष्टि के मूल तत्व देवता ही हैं और ब्रह्म की परम सत्ता प्रकृति में पूर्ण रूपेण व्याप्त है। वायु, जल, सूर्य, अग्नि आदि देव थे। इन देवों के संयोग से जो मूल ध्वनियाँ स्वर्ग लोक अथवा अन्तरिक्ष में उत्पन्न हुई होंगी वही मूल भाषा के शब्द होंगे और ऋषि-मुनियों ने उनको योग शक्ति द्वारा प्राप्त किया, जिससे संसार की भाषा विकास को प्राप्त हुई होगी। इस विषय में पश्चिमी विद्वान हर्डर का कहना है कि यदि भाषा ईश्वर द्वारा उत्पन्न की गयी और उसकी कृपादृष्टि से ही मानव को प्राप्त हुई तो वह अवश्य ही तर्कयुक्त और शुद्ध होनी चाहिये थी; किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। दूसरा आक्षेप उसका यह है कि भाषाओं के नाम आख्यातों द्वारा उत्पन्न हुए हैं यदि वह देव द्वारा रचित होती तो इसका प्रारम्भ आख्यातों से न होकर नामों से ही होता किन्तु ऐसा भी नहीं पाया जाता

इसके अतिरिक्त भारतीय विद्वानों ने भी ईश्वर प्रदत्त भाषा मत की कड़ी आलोचना की है। डा० मंगलदेव ने इस सिद्धान्त के विपक्ष में लिखा है :----"मनुष्य की सृष्टि के साथ ही साथ एकायक दैवी शक्ति के द्वारा एक अनोखे प्रकार से पूर्ण रूप में एक निष्पन्न भाषा की सृष्टि संसार में हुई।" ऐसी धारणा करना पूर्णतया हास्यास्पद ही है और भाषोत्पत्ति विषयक इस मत से भाषा विज्ञान की उत्पत्ति में बड़ी बाधा पड़ती रही है। उनका कहना है कि भाषा के देश कृत और काल कृत भेदों पर दृष्टि डालने से भाषा की परिवर्तनशीलता स्पष्ट हो जाती है। भाषा की उत्पत्ति धीरे-धीरे क्रमिक विकास द्वारा होती है। अतः भाषा भी अन्यान्य कलाओं की भाँति मनुष्य के आश्रय में अनेक परिवर्तनों में भिन्न-भिन्न प्रकार की आवश्यकताओं के अनुसार नये अनुभव और ज्ञान को शब्द द्वारा प्रकट करने के लिये नये-नये रूपों में गुजरती हुई उत्कृष्टता की ओर बढ़ती रही। इस प्रकार हम किसी भी भाषा को ले सकते है कि उसका एक बड़ा भाग ऐसा मिलेगा जिसको मनुष्यों ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए बुद्धि और विचार को काम में लाकर बनाया है। यदि ऐसी परिस्थिति में भाषा का कुछ भाग ऐसा भी मिलता हो जिसका कोई इतिहास न मिलता हो तो केवल इसी आधार पर भाषा को दैवी शक्ति द्वारा उत्पन्न किया हुआ नहीं माना जा सकता है। द्वितीय विद्वान डा० सक्सेना भी लिखते हैं "धर्म ग्रन्थों में श्रद्धा रखने वालों के लिए इस प्रश्न की तह में कोई समस्या मालूम नहीं होती। प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में परमेश्वर ऋषियों को ईश्वरीय ज्ञान (वेदों के स्वरूप में) प्रदान करता है। इन आदि ऋषियों को उस वैदिक भाषा का स्वतः ज्ञान होता है और इस प्रकार देववाणी संस्कृत ही आदि भाषा है।"......

किन्तु आधुनिक विद्वान मनुष्य की सृष्टि को विकासवाद की दृढ़ नींव पर ही स्वीकार करता है। अतः भाषा की उत्पत्ति भी मानव संस्कृति के साथ-साथ विकास से हुई, ईश्वरीय-प्रदत्त मानना अनुचित है। इन विद्वानों पर पूर्णतया हर्डर का प्रभाव है। वास्तव में यदि देखा जाय तो भाषा का भण्डार क्षीणता को प्राप्त होता जा रहा है। शब्दों के रूप घिसते जा रहे है, उसमें उच्चारण सम्बन्धी अनेकों दोष बढ़ते जा रहे हैं। संस्कृत भाषा को छोड़कर संसार की अन्य भाषाओं के व्याकरण प्रायः लुप्त होते जा रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में हम शास्त्री जी के मतानुसार इस बात को कैसे स्वीकार कर सकते हैं कि भाषा उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त हो रही है। हम प्राचीन संस्कृत ग्रंथों की शब्दराशि को देखते है तो विस्मययुक्त हो जाते हैं। इन ग्रंथों में जो शब्द मिलते है वे आधुनिक शब्द-कोशों में मिलते ही नहीं। कुछ भी हो हम लिख चुके हैं कि हर्डर का यह कहना है कि यदि भाषा की उत्पत्ति दैवी होती तो वह अधिक शुद्ध और व्यापक होती तथा आरम्भ उसका नाममात्र से होना चाहिये था, किन्तु हर्डर का खंडन स्मिथ ने किया और उन्होंने इस बात को सिद्ध किया कि नाम और क्रिया पद आरम्भ से ही थे। सभी नाम पदों की उत्पत्ति आख्यातकों से नहीं हुई। इस विषय में महाभाष्यकार पतञ्जलि ने संकेत किया है कि आरम्भ

इत्यादि संकेतों के द्वारा पूर्ण रूप से काम चलते न देखा। अपने विचारों को वे एक दूसरे पर ठीक-ठीक प्रकट नहीं कर सके, तब उसके समुदाय ने एकत्रित होकर समझौते द्वारा विचारपूर्वक निश्चय किया कि विभिन्न वस्तुओं के लिए विभिन्न शब्दों की कल्पना करके उनका नामकरण कर लिया जावे और इस प्रकार भाषा का आरम्भ हुआ।

समालोचना—सर्वप्रथम इसमें सोचने की बात यह है कि जब कोई भाषा ही नहीं थी, तो किस प्रकार मनुष्यों ने एकत्रित होकर समझौता किया होगा और अपने विचार कैसे एक दूसरे पर प्रकट किये होंगे क्योंकि बिना विचार-विनिमय के प्रतीक रूप में नामों का निर्णय होना नितान्त असम्भव है और यदि भाषा के बिना भी मनुष्यों में विचार-विनिमय हो सकता था, तो उसके बाद उनको फिर भाषा ही की क्या आवश्यकता थी। ईश्वरीय सिद्धान्त के समान इस मत का आधार भाषा-उत्पत्ति के विषय में कुछ मिथ्या ही है। अतः यह सिद्धान्त भी निरर्थक सिद्ध हुआ।

४—धातु सिद्धान्त—(Ding dong theory) डिंगडोंगवाद अथवा इस मत के प्रवर्तक जर्मन विद्वान् मैक्समूलर थे। उनके अनुसार प्राचीनकाल में मनुष्य में एक स्वाभाविक विभाविका शक्ति थी जो बाह्य वस्तुओं के लिए वाचक शब्द बनाया करती थी और इस प्रकार ६००, ५०० धातुओं की उत्पत्ति हो सकी और जब उसकी भाषा विकसित हो गयी तब उसकी यह शक्ति नष्ट हो गयी। उसका कहना है कि भाषा जो वर्तमान स्वरूप में स्थित है, उसका प्रारम्भ इन्हीं मूलतत्वों अथवा धातुओं से हुआ है। इन धातुओं से पहली अवस्था की खोज करना असम्भव है। वास्तविक रूप में उसको भाषा का नाम ही नहीं दिया जा सकता। इस मत का सबसे बड़ा आधार भाषा और विचार का परस्पर नित्य सम्बन्ध है क्योंकि जब कोई मनुष्य सोचता है तब यह समझना चाहिये कि वह धीरे-धीरे बोल रहा है और जब बोलता है तब समझना चाहिये कि ऊँचे स्वर से सोच रहा है। दूसरे शब्दों में इसी मत को इस तरह कह सकते हैं कि एक प्रकार की स्वाभाविक आन्तरिक प्रेरणा से जिसका वेग रोका जाना असम्भव है, विचार भाषा में प्रकट हुए बिना रह ही नहीं सकते। कालिदास ने भी लिखा है—"वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये।"

समालोचना—इसके विपरीत बहुत सी आलोचनायें हैं। विचार करने पर यह सिद्धान्त भी दैवी सिद्धान्त की तरह हास्यास्पद ही है क्योंकि संस्कृत, ग्रीक आदि भाषाओं को छोड़कर एकाक्षर तथा अन्य परिवारों की भाषाओं में धातु नाम की कोई वस्तु नहीं है तो क्या वे भाषा नहीं है। यहाँ आश्चर्य की बात यह है कि मैक्समूलर महाशय ने और मतों का खंडन किया और इस मत को प्रतिपादित किया परन्तु इसके समर्थन की पुष्टि पूर्ण रूप से नहीं की क्योंकि विचारों को स्वाभावतः वर्णात्मक स्वरूप देने वाली शक्ति की आदि मनुष्यों में बिना किसी प्रमाण के कल्पना करना ऐसा ही है जैसा कि प्रथम मत में भाषा की उत्पत्ति के लिए ईश्वर की कल्पना करना। स्वाभाविक विभाविका शक्ति सृष्टि के प्रारम्भ में अपना काम करके नष्ट

हो गयी जैसा कि ऊपर कहा गया है, परन्तु भाषा में अब भी नये-नये विचारों के लिए नये-नये शब्द संकेत रूप से नियत किये जाते हैं, परन्तु उनमें उपर्युक्त स्वाभाविक शक्ति कोई काम करती हुई नहीं दिखायी देती है। दूसरी बात यह है कि भाषा और विचार का सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं, किन्तु सांकेतिक है। भाषा पूर्ण रूप से विचारों को प्रकट नहीं कर सकती न दूसरों के विचारों को हम शब्दों के द्वारा पूर्णरूप से समझ ही सकते हैं। हम एक ही विचार को भिन्न-भिन्न प्रकार से भाषा द्वारा प्रकट कर सकते हैं तथा एक ही वस्तु के लिए अनेक शब्द प्रयुक्त कर सकते हैं। इसलिए भाषा और विचार का अनित्य सम्बन्ध है। भाषा की उत्पत्ति में समाज की आवश्यकता ही प्रधान गुण है न कि वैयक्तिकता। इस प्रकार यह मत पूर्ण रूपेण निराधार है।

अनुकरणमूलकतावाद----प्राचीन काल में मनुष्य ने पदार्थों और क्रियाओं के नाम पशु-पक्षियों की अव्यक्त ध्वनियों का ही अनुकरण करके आपने रखे। उदाहरण के लिए पशु-पक्षियों के नाम उनकी विशेष ध्वनियों के आधार पर ही रखे गये होंगे। बिल्ली को म्याऊं कहते सुना तो उसकी संज्ञा म्याऊं बन गयी और चीनी भाषा में आज म्याऊ बिल्ली का नाम है। किसी पक्षी के 'का' 'का' रटने पर 'काक' शब्द की उत्पत्ति हुई। इसी प्रकार प्राकृतिक या जड़ जगत की भिन्न-भिन्न ध्वनियों के अनुसार जैसे बादल का गरजना, पानी का झर-झर गिरना या बहना, वायु का सर सर बहना आदि के नाम अनुकरण से ही रखे गये। पशुओं की ध्वनियों के शब्दों के नामकरण भी इसी अनुकरण के आधार पर ही रखे गये यथा हिनहिनाना (घोड़ा), भों भों करना (कुत्ता), मिं मियाना (भेड़, बकरी) आदि। इस सिद्धान्त का नाम मैक्समूलर ने (Bow-wow theory) रखा।

समालोचना----इस मत के विरुद्ध भी सर्वप्रथम है कि संसार की प्राचीन भाषाओं का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भाषा का विकास शब्दानुकरण द्वारा नहीं हुआ क्योंकि इस प्रकार के शब्दों की संख्या बहुत ही कम है और कुछ ऐसी भी भाषायें हैं जिनमें ऐसे शब्दों का नितान्त अभाव है। अमरीका में मैकजी नदी के किनारे पर बसी हुई जाति की अयनात्मक भाषा इसका उत्तम उदाहरण है। दूसरा विकट आक्षेप इस सिद्धान्त के विरुद्ध यह है कि मानव को अपनी भाषा के लिए पशु-पक्षियों और अन्य निर्जीव पदार्थों की ध्वनियों का अनुकरण करना पड़ा। क्या बुद्धिजीवी मनुष्य किसी प्रकार की स्वयं ध्वनि उत्पन्न नहीं कर सका। यह युक्तिसंगत नहीं है। मैक्स मूलर ने इसकी कड़ी आलोचना की। उसके अनुसार ये शब्द कृत्रिम फूलों की भांति निःसंतान होते हैं। उनसे भाषा की उत्पत्ति मानना असम्भव है। इसीलिए उसने इसका नाम 'बाउ बाउ थियरी' रखा था परन्तु ऐसी भी बात नहीं है कि भाषा के विकास में यह मत सर्वथा त्याज्य हो क्योंकि भाषा में ककक्, घुघ्घु आदि इस प्रकार के शब्द अनुकरण से ही बने होंगे। यह हो सकता है कि इस प्रकार की रचना का विस्तार अधिक न रहा होगा अनुकरणात्मक शब्द बहुत

कुछ यादृच्छिक होते हुए भी उनके द्वारा परस्पर व्यवहार में कोई आपत्ति नहीं आती। जिस प्रकार बच्चों की अटपटी और तोतली बातें सुनकर भी उनकी आवश्यकताओं को समझने में कोई अड़चन नहीं होती।

(६) **मनोभावाभिव्यंजकतावाद**—इस सिद्धान्त के अनुसार भाषा की उत्पत्ति मन के भावों और आवेशों को प्रकट करने वाले शब्दों से ही हुई। जिस प्रकार हर्ष, शोक, आश्चर्य आदि भावों को व्यक्त करने के लिए कुछ ध्वनियाँ सहसा मुख से निःसृत होती है जैसे हा हा, हाय-हाय, छिःछि, वाह वाह आदि। आरम्भ में ये ध्वनियाँ बहुत करके हमारे मनोरागों की ही व्यञ्जक रही होंगी, परन्तु भाषा का मुख्य उद्देश्य हमारे विचारों को प्रकट करना होता है। अतः हो सकता है कि इन ध्वनियों ने भाषा के विकास में जो भाग लिया हो तो मनोरागों के स्थान मे विचार प्रकट करने का कार्य भी किया हो जो धीरे-धीरे इनके बोलने में कुछ परिवर्तन करते हुए मानवी भाषा का विकास किया हो। विकासवाद के प्रवर्तक डार्विन ने भी कुछ शब्दों की उत्पत्ति का यही कारण बताया है।

समालोचना—इस मत के समर्थक इस बात को जानने की चेष्टा नहीं करते हैं कि ये विस्मयादि शब्द कैसे उत्पन्न हुए होंगे। वे इनको स्वयंभू मानकर आगे भाषा का विकास दिखाने का प्रयत्न करते हैं। डार्विन ने इनके उत्पन्न होने मे कुछ शारीरिक कारणों को माना है। जैसे घृणा-उद्वेग के समय मानव यूह, या पिश् कह बैठता है। अद्भुत दृश्य देखकर सहसा मुख से 'ओह' शब्द निकल पड़ता है। वास्तव मे देखा जाय तो इस प्रकार के शब्दों का भाषा में कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं है क्योंकि ये केवल अव्यय मात्र है और मुख्य बात यह है कि मानव इन शब्दों का प्रयोग तभी करता है, जबकि वह भावावेश के कारण अभिभूत हो बोल नहीं सकता। दूसरी बात यह है कि भिन्न-भिन्न देशों में बोली जाने वाली भाषाओं में इनका एक सा रूप नहीं मिलता ये आपसे आप उच्चारित होते तो सभी भाषाओं में लगभग एक से ही होते है। जैसे दुख में जर्मन व्यक्ति 'अरे' कहता है, फ्रेंचमैन 'अहि' कहता है। एक हिन्दुस्तानी 'आह' करके कराहता है। ये शब्द भाषा के प्रधान अंग नहीं है। इनकी संख्या अधिक सीमित है।

(७) **अनुरणनमूलकतावाद**—इसका आधार मैक्समूलर द्वारा प्रतिपादित धातु सिद्धान्त ही है, परन्तु इस मत में व्यापक रूप से यदि मौलिक धातुओं की कल्पना करने की बात को छोड़ दिया जाय और केवल इतना ही कहा जाय कि मानव के अन्दर एक स्वाभाविक प्रक्रिया की ऐसी मनोवृत्ति चली आ रही है जो बाह्य अनुभव अथवा निर्जीव पदार्थों के अनुरणन के आधार पर शब्द बनाती रहती है तो हिन्दी के कलकल, झिलमिल, झगभग, भड़भड़, छलछल, खटपट, गड़गड़ आदि तथा अंग्रेजी के Daggle, Gazz, Thunder आदि शब्दों की उत्पत्ति इस सिद्धान्त के अनुसार मानी जा सकती है।

समालोचना— जहाँ तक इस प्रकार के शब्दों की उत्पत्ति का सवाल है, अवश्य ही अनुरणन के आधार पर बने होंगे, किन्तु इनकी संख्या भी अनुरणनात्मक तथा मनोभावात्मक शब्दों के समान अत्यन्त ही थोड़ी है। अतः भाषा की सम्पूर्ण उत्पत्ति पर इसका कोई प्रकाश नहीं पड़ता है।

(८) **श्रमापहार मूलकतावाद**—इसका नाम यो हे हो (yo, he, ho, Theory) वाद भी है। इसके प्रवर्तक नायर थे। उनका कहना था कि जब मनुष्य शारीरिक परिश्रम करते-करते थक जाता है तो उस श्रम की थकान के परिहरण के लिए कुछ ध्वनि संकेत सहसा उनके मुख से उच्चारित हो उठते हैं। इससे वह अपनी थकान को भूलकर कार्य में संलग्न रहता है। उदाहरणार्थ धोबी छियो या छियो करता है। मल्लाह यो हे हो कहते हैं इसी के आधार पर इसका नाम नायर ने यो, हे हो वाद रखा। इस सिद्धान्त का आधार यह है कि कुछ कार्य करते समय स्वभावतः उस काम का किसी ध्वनि अथवा किन्हीं ध्वनियों के साथ संसर्ग हो जाता है। प्रायः वह ध्वनि उस क्रिया अथवा कार्य की वाचक हो सकती है।

समालोचना—इस मत का कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं है कारण स्पष्ट ही है कि इस प्रकार के शब्दों का भाषा में कोई स्थान नहीं है और न इन शब्दों से किसी अर्थ का बोध होता है। इस वाद को हम मनोभाव-व्यञ्जक-शब्द-मूलकतावाद में शामिल कर सकते हैं क्योंकि इस प्रकार की ध्वनियाँ भी मनोभावों का ही कारण हैं।

(९) **विकासवाद का समन्वित रूप**—विकासवाद के समर्थकों का कहना है कि सृष्टि के आदिकाल में मानव कुछ पशु-पक्षियों के समान अव्यक्त ध्वनियों का उच्चारण करता था, परन्तु धीरे-धीरे वह प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति की ओर अग्रसर हुआ और उसकी भाषा में भी कुछ विकास हुआ, परन्तु इस विषय में विचारने की बात यह है कि सर्वप्रथम मनुष्य द्वारा उच्चारित भी, मों शब्द था अथवा गुह-गुह। इसके लिए विकासवादियों के पास कोई एक उत्तर नहीं है। वास्तव में बात ऐसी है कि आदि काल में मनुष्य की शब्दावली में अव्यक्तानुकरण मूलक, मनोभावाभिव्यंजक तथा कुछ ऐसे भी शब्द थे जो किसी क्रिया अथवा घटना के संकेत अथवा प्रतीक थे। ये संकेत स्वयं कई कारणों से बन जाते थे, इनको बनाते नहीं थे। इसी कारण स्वीट जैसे महावैयाकरण ने इन तीनों सिद्धान्तों का समन्वय किया और उनके अनुसार आदिम भाषा में उपर्युक्त तीन प्रकार के शब्द थे और इन्हीं तीनों के सहयोग तथा आधार पर भाषा की उत्पत्ति हुई। आरम्भिक शब्दावली अधिक सीमित थी। प्रथम प्रकार के शब्द अनुकरणात्मक ही रहे होंगे और इन्हीं बीज-रूप मूलशब्दों से धीरे-धीरे भाषा का विकास हुआ होगा। इस श्रेणी में निम्नांकित शब्द आ जाते हैं— कोकिल, कुक्कुट, काक, घुग्घू। Cuckoo, Cock, Buzz, Pop, भनभन, हँ हँ आदि। इस सम्बन्ध में एक बात अवश्य विचारणीय है कि अनुकरणात्मक शब्दों से यह तात्पर्य न जाना चाहिये कि ये शब्द उन पशु-पक्षियों अथवा निर्जीव पदार्थों

की ध्वनियों का पूर्णरूपेण अनुकरण करके ही बने होंगे। इनमें कुछ शब्द ऐसे भी हैं जिनमें उन ध्वनियों का केवल आभास मात्र ही है। जिस प्रकार पेड़ से पत्ता गिरने में पत् की ध्वनि होती है। अतः उसे पत्र की संज्ञा दी गयी इसमें पूर्ण अनुकरण नहीं है। Sip, Sup अथवा पिव् शब्द भी इसी प्रकार हैं। इस प्रकार अनुकरण के आधार पर शब्दों का प्रचुर कोष बन गया होगा। भाषा के निर्माण में इस सिद्धान्त ने विशेष कार्य किया होगा। दूसरी प्रकार के शब्द वे हैं जो मनोभावों की अभिव्यक्ति के लिए स्वभावतः मानव के मुख से निकलते रहे होंगे। भावावेश में आकर निश्चय ही उसके मुख से विभिन्न भावों के लिए एक विशेष प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न होती रही होंगी। जैसे प्रसववेदना में सी, घृणा में छिः की ध्वनि मुख से अपने आप निकल जाती है। विस्मयादि शब्द आह्, वाह्, ओह भी वैसे ही हैं और इसी से धिक्कारना, दुरदुराना, वाहवाही आदि शब्द बने होंगे। इन दोनों सिद्धान्तों में मूलरूप से कोई विरोध नहीं है क्योंकि प्रथम सिद्धान्त का आधार जड़-चेतनात्मक बाह्य जगत् की ध्वनियों के अनुकरण पर है। इसी प्रकार दूसरे सिद्धान्त का आधार मनुष्य की हर्ष, विस्मय आदि की सूचक ध्वनियों के अनुकरण पर है, दोनों का मूल एक ही है, आधार में थोड़ा सा भेद है। एक का सम्बन्ध बाह्य जगत से है, दूसरे का मानस-जगत् से। वास्तव में अनुकरणमूलक सिद्धान्त की व्याख्या को विस्तृत कर देने से मनोराग-व्यंजक शब्द-मूलक सिद्धान्त भी उसी के अन्तर्गत हो जाता है। इस प्रकार ये दोनों सिद्धान्त एक दूसरे के पूरक हैं। तीसरी श्रेणी में प्रतीकात्मक शब्द आते हैं। इस प्रकार के शब्दों की उत्पत्ति कई प्रकार से हुई होगी। उन दोनों उपर्युक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त जो शब्द है उनकी उत्पत्ति इसी सिद्धान्त के अन्तर्भूत हो जाती है। वास्तव में ये शब्द बड़े ही महत्वपूर्ण और मनोरंजक होते हैं। उदाहरणार्थ संस्कृत की 'पिबति', हिन्दी का पीना लैटिन की बिबेरे, अरबी की 'शरब' (पीना) आदि क्रियाओं में प्रतीकवाद का ही स्पष्ट प्रभाव है क्योंकि आदिकाल में जब मनुष्य पानी पीने में सांस को भीतर खींचता होगा तो उस समय सिप्, सप् आदि कुछ ऐसी ध्वनि होती होगी। इस तरह ब, प के समान ओष्ठ्य वर्ण इस क्रिया के ध्वनि संकेत बन गये। हिन्दी का 'शरबत' अरबी-भाषा 'शरब' से ही बना है। इसी प्रकार दन्त्य वर्णों से आरम्भ होने वाली धातुओं से और शब्दों की उत्पत्ति हुई होगी। जैसे दाँत की ओर संकेत करते हुए मनुष्य अ अ, आ, अत्, आत्, जैसी विकृत ध्वनि करता है। इसी से संस्कृत के 'अद्' और 'दंत' लैटिन के edere (eat) dens (tooth) आदि ऐसी ओष्ठ्य, आँख, हस्तादि के संकेतों को करने के साथ-साथ मानव ध्यान आकृष्ट करने के लिए किसी ध्वनि का भी उच्चारण करता रहा होगा। पर धीरे-धीरे वह ध्वनि प्रधान हो गयी। अनेक सर्वनाम भी इसी प्रकार बने होंगे। उदाहरणार्थ मध्यम पुरुष की ओर निर्देश करने तू (thou) आदि की संवेदनात्मक ध्वनि जिह्वा से अनायास ही निकल पड़ती है। इसी तरह यह, वह के लिए कुछ भाषाओं में 'इ' और 'उ' से निर्देश किया जाता है। जिस प्रकार बच्चा आरम्भ में

अपने आप ओठों को मिलाता है और अलग करता है। ऐसा करने से मा, मा, बा, बा आदि ध्वनियों का होना स्वाभाविक है। अतः फलस्वरूप मामा, मा, पापा बाबा, ताता आदि शब्दों की उत्पत्ति हुई। इस विविध रूप में आदि शब्दकोश की कल्पना की जाती है। धीरे-धीरे इन शब्दों में योग्यतमावशेष के सिद्धान्त के आधार पर कुछ नाश को प्राप्त हुए होंगे और कुछ नवीन शब्दों की रचना हुई होगी। इस प्रकार विकास के साथ-साथ परिवर्तन और परिवर्द्धन होता रहा होगा। इस प्रकार धीरे-धीरे भाषा का भवन बनकर तैयार हुआ होगा. परन्तु प्राचीनकाल के उपलब्ध शब्दकोषों को देखने से पता चलता है कि इनमें भी कुछ इस प्रकार के शब्द हैं जिनकी उत्पत्ति का समाधान इन तीनों सिद्धान्तों से नहीं हो पाता। ऐसी परिस्थिति में इन परम्परा के आये हुए शब्दों का कारण उपचार माना जाता है। भाषा के विकास में उपचार का महत्वपूर्ण हाथ रहा है। जितनी भी सभ्य जातियां संसार में हैं उनकी भाषाओं में उपचार से बने हुए शब्दों की प्रचुरता है। उपचार से तात्पर्य ज्ञात से अज्ञात की व्याख्या करना है अथवा यों कहिये कि किसी ध्वनि के मुख्य अर्थ के अलावा उसके संकेत से अन्य सम्बन्धित अर्थ को प्रकट करना। आस्ट्रेलिया के आदिम वासियों ने सर्वप्रथम पुस्तक को देखा तो वे उसे 'मूयूम' कहने लगे क्योंकि वह भी स्नायु की तरह खुलती और बन्द होती है। स्नायु को वहां की भाषा में 'मूयूम' कहते हैं। इस प्रकार सादृश्य के आधार पर पुस्तक का नाम भी 'मूयूम' हो गया। अंग्रेजी के Pipe शब्द को प्राचीनकाल में गड़रिये के बाजे के लिए प्रयोग करते थे। बाइबिल में भी 'पाइप' वाद्य के अर्थ में ही आया है, किन्तु आज यही नल के अर्थ के रूप में प्रयुक्त होता है, किन्तु नल में भी पानी के कारण एक विशेष प्रकार की आवाज होती रहती है। इसी प्रकार 'पिक्यूलियर' शब्द भी उपचार की कृपा से क्या से क्या हो गया है। वास्तव में इसका मूल आधार लैटिन धातु Paugo है जिसका अर्थ है फाँसना या बाँधना। इसी से पैकस (Pecus) पशु शब्द की उत्पत्ति हुई। प्राचीनकाल में पशु घरेलू या पालतू जानवर को कहते थे। हिन्दी में अब भी यह अर्थ प्रचलित है, परन्तु इसी पैकस शब्द से Pecunia बना जिसका अर्थ हुआ सम्पत्ति। उसी से आज (Pecuniary) साम्पत्तिक बना है। पर उसी पैकुनिया से Peculium पैकूलियम बना जिसका अर्थ दास की निजी सम्पत्ति है। फिर उसके विशेषण फ्रैंच शब्द पैकुलिआरिस Peculiarias से अंग्रेजी का Peculiar पैक्यूलियर शब्द बना है। इसी प्रकार संस्कृत की 'व्यथ्' और 'कुप्' धातुयें ऋग्वेद में कांपने और चलने के अर्थ में आयी हैं। जैसा कि निम्न उदाहरण में स्पष्ट है "य. पृथिवी व्यथमानामदृंहद्यः पर्वतान्प्रकुपितां अरम्णात् ।" यहाँ पर व्यथ् धातु से बने व्यथमाना का अर्थ है कांपती हुई जो कि पृथ्वी का विशेषण है। इसी प्रकार कुप् धातु से बने प्रकुपितां का अर्थ है चलता-फिरता जो कि पर्वत का विशेषण है, परन्तु कुछ समय के बाद लौकिक संस्कृत में उपचार की महिमा से इन धातुओं का अर्थ मानसिक हो गया जैसे 'रम्' धातु का अर्थ ठिकाने आना अथवा स्थिर कर देना

था परन्तु लौकिक संस्कृत में आकर इसका अर्थ 'आनन्द देना', 'रमण करना' हो गया क्योंकि विश्राम के अर्थ के अतिरिक्त इसमें अन्य सुखों का भी आभास आ गया और लाक्षणिकता के कारण उसका पुराना अर्थ बदल गया। वैदिक काल के विक्रम, पाप, प्रयत्न, रत्न, मृग, वर्ण, अर्थ, ईश्वर, पवित्र, तर्पण आदि शब्द हिन्दी में बिलकुल भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। यह उपचार का ही प्रभाव है। काव्य और व्यवहार दोनों ही में उपचार का अखंड राज्य रहता है। जब हमें औपचारिक तथा लाक्षणिक प्रभाव नहीं दिखलाई देता तो हम उन शब्दों को रूढ़ परम्परागत अथवा देशज कहते हैं।

पंचम—उल्लास

भाषाओं का वर्गीकरण
संसार की भाषाओं के वर्गीकरण का आधार
आकृतिमूलक वर्गीकरण
पारिवारिक वर्गीकरण
भारत-ईरानी वर्ग
भारत-ईरानी वर्गों की संस्कृत तथा अवेस्ता की तुलना
भारतीय आर्य भाषा-वर्ग
वैदिक संस्कृत तथा लौकिक संस्कृत
वैदिक संस्कृत तथा पालि
पालि भाषा का विकास और महत्व
संस्कृत पालि और प्राकृत तुलनात्मक
संस्कृत प्राकृत तथा अपभ्रंश
संस्कृत अपभ्रंश तथा हिन्दी तुलनात्मक
भारतीय आधुनिक आर्य भाषा वर्ग

संसार की भाषाओं का वर्गीकरण

भाषा-वैज्ञानिक समस्त संसार की भाषाओं की प्रवृत्तियों का अध्ययन करने जब बैठता है तो उसके समक्ष सर्वप्रथम यही प्रश्न उपस्थित होता है कि इतनी अधिक और वैविध्यपूर्ण भाषाओं का अध्ययन वह कैसे करे क्योंकि समस्त भाषाओं का अध्ययन कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है। अतः सुविधा के लिये भाषा को कुछ वर्गों में विभाजित कर लिया है जिससे वह वर्ग विशेष की सभी भाषाओं का सामान्य अध्ययन एक साथ कर सके। भाषाओं के वर्गीकरण अनेक प्रकार से किये जाते हैं, परन्तु प्रधान रूप से पृथ्वी की विभिन्न भाषाओं का वर्गीकरण दो प्रकार से किया जाता है।

(१) आकृतिमूलक वर्गीकरण।

(२) वंशानुक्रममूलक वर्गीकरण।

आकृतिमूलक वर्गीकरण का आधार—व्यवहार की दृष्टि से भाषा का अन्यतम अंग वाक्य है। किसी वाक्य का अर्थ हम दो बातों से समझते हैं। प्रथम उस वाक्य में प्रयुक्त शब्दों या पदों का क्या अर्थ है। द्वितीय उन पदों का आपस में सम्बन्ध एक दूसरे से कैसे हुआ है। प्रथम तत्व को अर्थ-तत्व व द्वितीय तत्व को सम्बन्ध तत्व कहते हैं। इसी सम्बन्ध तत्व की समता पर निर्भर भाषाओं का वर्गीकरण आकृतिमूलक वर्गीकरण कहलाता है। वाक्य का प्राधान्य होने के कारण इसका नाम वाक्यमूलक भी है। इसमें यह ध्यान रखा जाता है कि किसी वाक्य के पदों का एक दूसरे से सम्बन्ध कैसे प्रकट किया गया। दूसरे शब्दों में यह वर्गीकरण वाक्यों के आकार-प्रकार, गठन एवं स्वभाव के ऊपर आधारित है।

पारिवारिक वर्गीकरण का आधार—आकृतिमूलक वर्गीकरण से भाषाओं के ऐतिहासिक अध्ययन में कोई विशेष सहायता नहीं मिलती। अतः भाषाओं का दूसरा वर्गीकरण अर्थतत्व के आधार पर आधारित होता है। इसमें भाषाओं का वास्तविक ऐतिहासिक सम्बन्ध क्या है, इसकी तुलनात्मक विवेचना पर विचार प्रकट किया जाता है। पारिवारिक वर्गीकरण में भाषाओं की आकृति या सामान्य रचना की समानरूपता पर ही दृष्टि नहीं रहती, अपितु यह भी देखा जाता है कि उन भाषाओं की उत्पत्ति या विकास कुछ समान मूल-शब्दों से हुआ है। एक मूल भाषा से उत्पन्न होने वाली भाषायें एक परिवार में रखी जाती हैं। शब्द समूह, व्याकरण एवं ध्वनि तीनों की तुलना करके उनका वंशानुक्रम निश्चय किया जाता है। इस प्रकार पारिवारिक वर्गीकरण का मूल आधार भाषाओं का तुलनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन ही है।

इतिहास के आधार पर ही उनकी उत्पत्ति की खोज की जाती है। इस वर्गीकरण को अधिक वैज्ञानिक माना जाता है। सर्वप्रथम क्रमशः हम यहां आकृतिमूलक वर्गीकरण पर विचार करते है। वाक्यों की रचना के आधार पर भाषाओं के मुख्यतः दो विभाग किये गये हैं—(१) आकृतिमूलक वर्गीकरण—अयोगात्मक (निरवयव), (२) योगात्मक (सावयव)

(१) **अयोगात्मक**—इन भाषाओं में प्रत्येक शब्द अपनी अलग सत्ता रखता है। इसमे प्रकृति और प्रत्यय के योग की कल्पना नहीं हो सकती। इन भाषाओं की शब्द रचना और सब भाषाओं की अपेक्षा अत्यन्त सरल है। प्रत्येक शब्द की अलग-अलग सम्बन्धतत्व या अर्थतत्व को व्यक्त करने की शक्ति होती है और उन शब्दों का सम्बन्ध केवल वाक्य मे उनके स्थान से व्यक्त होता है। व्याकरण का ठीक सम्बन्ध दिखाने के लिये उनमे कुछ भी विचार नहीं किया जाता। इन भाषाओं को व्यास-प्रधान, एकाक्षर, निरवयव, नियोग, स्थान-प्रधान आदि नामों से व्यक्त किया जा सकता है। इन भाषाओं का सर्वोत्तम उदाहरण चीनी भाषाओं मे मिलता है। इनमें प्रत्येक शब्द का अस्तित्व अलग अलग है और उन शब्दों में किसी प्रकार परिवर्तन नहीं होता, तथा उन शब्दो का परस्पर सम्बन्ध पदक्रम से जान पड़ता है। उदाहरण के लिये एक दो वाक्य हम प्रयुक्त करते है।

गोतानि—मैं मारता हूँ तुमको।

निताङ्गो—तुम मारते हो मुझको।

यहाँ पर दर्शनीय बात यह है कि अर्थ परिवर्तन के लिये जैसे हिन्दी में मैं का मुझको अथवा तुमको का तुम हो गया है उसी प्रकार चीनी भाषा के शब्दों में कोई विकार नहीं आया है। इसी प्रकार चीनी में 'ताजिन' का अर्थ होगा 'बड़ा आदमी' परन्तु 'जिनता' का अर्थ होगा 'आदमी बड़ा है'। स्थान के अतिरिक्त ये सम्बन्ध निपातों अथवा स्वरों की सहायता से भी व्यक्त किये जाते हैं। चीनी भाषा में निपातों का स्थान है, परन्तु सूडान की भाषा में इनका अभाव सा है। चीनी का एक उदाहरण दिया जाता है। 'वाग पाउ मिन' का अर्थ है राजा की रक्षा के लोग परन्तु इसमें 'ची' जोड़ देने से इसका अर्थ बदल जायेगा। 'वांग पाउची मिन' का अर्थ होगा 'राजा के रक्षित लोग'। इसी प्रकार स्वर (बल) से भी अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। जैसे 'बवेइ कवोम' का उच्चारण करने में यदि 'इ' पर उदात्त स्वर रहता है तो उसका अर्थ होता है 'दुष्ट देश' और यदि उसी 'इ' पर अनुदात्त स्वर रहता है तो उसका अर्थ 'मान्य' अथवा 'विशिष्ट' देश होता है।

अतः व्यास प्रधान अथवा अयोगात्मक भाषाओं में सम्बन्ध तत्व का निर्णय शब्दों के स्थान निपात अथवा स्वर के आधार पर ही हो जाता है। उनमें किसी प्रकार का विकार नहीं होता। इस वर्ग की प्रमुख भाषा चीनी है तथा तिब्बती, बर्मी, सूडानी, स्यामी मलय आदि हैं। अनामी जैसे भाषा को रोमन लिपि में लिखना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव है

योगात्मक भाषायें—प्रकृति और प्रत्यय के योग से शब्दों की रचना होती है। इनके शब्द एक से अधिक अंशों के मेल से बनते हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि योगात्मक भाषाओं में सम्बन्धतत्व अर्थतत्व के साथ सम्मिलित कर दिया जाता है और इनको हम सावयव, संयोगी आदि कह सकते है। ये भाषायें तीन प्रकार की मानी हैं

१—प्रश्लिष्ट योगात्मक—(समास प्रधान अथवा बहु संश्लेषात्मक)

२—अश्लिष्ट योगात्मक—(प्रत्यय प्रधान अथवा संचयात्मक)

३—श्लिष्ट योगात्मक—(विभक्ति प्रधान अथवा प्रकृति प्रधान) समास प्रधान भाषाओं के भी पूर्णतः और अंशतः के दो भेद किये जाते हैं। प्रत्यय-प्रधान भाषाओं को चार भागों में बाँटा है। पूर्व-प्रत्यय संयोगी, पर प्रत्यय संयोगी, मध्य प्रत्यय संयोगी, पूर्वान्त प्रत्यय संयोगी। इसका एक भेद आंशिक योगात्मक और है। विभक्ति प्रधान भाषाओं के भी अन्तर्मुख-विभक्ति-प्रधान और बहिर्मुख-विभक्ति-प्रधान दो भेद किये गये हैं। प्रत्यय प्रधान और विभक्ति-प्रधान भाषाओं का एक और सामान्य विभाग किया जाता है—बहु संहति और एक संहति। तुर्की बहु संहति भाषा है और अरबी एक संहति जैसे 'सेव' का अर्थ होता है प्रेम करना उसमें 'मेक्' प्रत्यय जोड़ देने से इस अर्थ कृदन्त का रूप बनता है यदि ऐसे ही शब्दों का तुर्की में बाहुल्य होता तो वह एक-संहति भाषा मानी जाती परन्तु उसमें तो सेव्-इस्-दिट्-इल्-मे-मेक (सेविस्दिरिल्मेमेक) (एक दूसरे से परस्पर प्रेम करवाये जाने के योग्य न होना) जैसे बहु संहति रूप भी बनते हैं। सेमेटिक परिवार की प्रायः सभी भाषायें एक संहति हैं। इस उपर्युक्त वर्गीकरण को हम निम्नांकित चित्र द्वारा पूर्णरूप से व्यक्त कर सकते हैं।

आकृतिमूलक वर्गीकरण का संक्षिप्त वर्णन कर लेने के पश्चात् हम सोदाहरण थोड़ा सा दिग्दर्शन कराते हैं।

(क) **समास प्रधान (प्रश्लिष्ट योगात्मक)**—इस प्रकार की भाषाओं में वाक्य के अनेक शब्द मिलकर एक सा रूप धारण कर लेते है। उन्हें यदि शब्द वाक्य कहा जाय तो उचित ही होगा। इस प्रकार वाक्यों की एक विशेषता होती है कि उनमे अर्थो के सूचक पूर्ण शब्दों का प्रयोग न होकर केवल उनके अंशों का ही योग कर दिया जाता है। समास प्रधान भाषाओं के उदाहरण है— ग्रीनलैंड तथा अमेरिका के मूल निवासियों की भाषायें। जैसे दक्षिणी अमेरिका की चेरो की भाषा में नातेन लाओ, अमोखोल=नाव, निन=हम आदि शब्द है, परन्तु इनका वाक्य बनता है—'नाधो लिनिन' जिसका अर्थ होता है 'हमारे पास नाव लाओ,' इसी प्रकार मैक्सिको की भाषा में 'नेकल', 'नकत्ल' तथा 'क्वा' का क्रमशः अर्थ मैं, मांस, खाना है, इनका एक वाक्य बनता है। 'नी-नका-क्व' जिसका अर्थ है 'मैं मांस खाता हूं' एवं और भी उदाहरण लिये जा सकते हैं।

इन भाषाओं में कुछ तो पूर्णतः समास प्रधान होती है। ऐसी भाषाओं में संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण एवं क्रिया आदि सभी समास हो जाते है। उपर्युक्त उदाहरण इसी प्रकार की भाषाओं के हैं। इसके अतिरिक्त कुछ अंशतः समास प्रधान भाषायें होती है। इनमें स्वतन्त्र शब्द भी रहते हैं और वाक्य मे पृथक् व्यवहृत भी होते है, फिर भी वे समास प्रधान होती हैं क्योंकि उनकी क्रिया अपने में कर्ता एवं कर्म के वाचक सर्वनामों का और कभी कभी अन्य शब्दों का भी समाहार कर लेती है। यूरोप की बास्क भाषा इसका सुन्दर उदाहरण है। उसकी एक क्रिया 'दकर्किआत्'—का अर्थ होता है मैं उसे वहाँ ले जाता हूँ, इसी प्रकार 'नकसु' का अर्थ होता है 'तू मुझे वहाँ ले जाता है। भारोपीय परिवार की भाषाओं में भी कुछ इस प्रकार के उदाहरण मिल जाते है। गुजराती में 'में कह्युं' जेका मकुं जें' मैंने कहा आदि।

(ख) **प्रत्यय प्रधान (अश्लिष्ट योगात्मक)**— प्रत्यय प्रधान भाषाओं में अर्थतत्व एवं सम्बन्धतत्व मिले होने पर भी समस्त भाषाओं मे समान अस्फुट नहीं हो जाते। वे दोनों स्पष्टतः अलग-अलग दिखलाई देते है। संयोग में प्रत्येक अंश अलग दिखलायी देता है और उसका स्वतन्त्र रूप में प्रयोग भी हो सकता है। इन भाषाओं के व्याकरणिक सम्बन्ध प्रत्ययों के द्वारा प्रकट किये जाते हैं। इन प्रत्ययों का संयोग इतना नियमित होता है कि रचना बिल्कुल पारदर्शी होती है और इनका व्याकरण सर्वथा सरल और सुबोध होता है। अन्तर्राष्ट्रीय कृत्रिम भाषा एस्पेरेंटो इसी वर्ग की भाषा है। इसका यहाँ एक उदाहरण पर्याप्त होगा जिसमें बिल्ली को 'काट' स्त्री को 'इन', बच्चे को 'इद' और छोटे को 'एट' कहते है और 'ओ' को संज्ञावाचक चिह्न मानते हैं। अब इन्हीं संकेतों से शब्द बन सकते है। जैसे कारटनो (बिल्ली) काटिदो बिल्ली का बच्चा आदि इसी प्रकार तुर्की का एक शब्द 'एव्' है जिसमें

क्रमशः प्रत्यय जोड़ने पर बड़े-बड़े शब्द बन जाते हैं। जैसे सेव्-इश्-दिट्-इल्-मे मेक्। प्रत्यय प्रधान भाषाओं को पाँच भागों में मुख्यतः विभाजित करते हैं—

(१) **पूर्व प्रत्यय संयोगी**—इन भाषाओं में प्रत्यय के स्थान पर उपसर्ग लगते हैं। अफ्रीका की बांटू भाषायें इसी वर्ग में आती हैं। उदाहरणार्थ न्तु (आदमी), तु (हमारा) (सुन्दर) और यवोनकल (मालूम होना) इनमें पूर्व प्रत्यय जोड़ देने से अनेक रूप बन जाते हैं। यथा उमन्तु वेतु ओमुचिल उयवोनकल अर्थात् हमारा आदमी भला लगता है। इन्हीं पूर्व प्रत्ययों मे परिवर्तन कर देने से वाक्य बहुवचन हो जाता है जैसे अवन्तु वेतु अवचिल वयवोनकल (हमारे आदमी भले लगते है)।

(२) **परप्रत्यय संयोगी**—इस प्रकार की भाषाओं मे सम्बन्ध तत्व अन्त मे जोडा जाता है। यूराल, आल्टिक तथा द्राविड़ परिवार की भाषायें इस वर्ग में आती है। यूराल आल्टिक वर्ग की तुर्की भाषा का एक उदाहरण लीजिये—एव=घर, एवलर=कई घर, एवलेर इम=मेरे घर। इसी तरह द्राविड़ परिवार की कन्नड भाषा में सेवक शब्द के बहुवचन के अनेक रूप देखिये। कर्त्ता–सेवक–रु। कर्म=सेवक–रन्नु आदि।

(३) **मध्य प्रत्यय संयोगी**—इसके उदाहरण भारत की तथा हिन्द महासागर द्वीपों से लेकर अफ्रीका के समीप के मैडागास्कर आदि द्वीपों तक फैली हुयी भाषाओं मे मिलते हैं। इनके शब्द प्रायः दो अक्षरों के होते हैं और सम्बन्ध तत्व इनके मध्य मे रखे जाते है। यथा मुंडा कुल की संथाली भाषा मे मंझि (मुखिया) और 'प' बहुवचन का प्रतीक है। इन दोनों के योग से 'मंपझि' (बहुत से मुखिया लोग) बहुवचन का रूप बना। इसी प्रकार दन् (मारना) से दपन् (परस्पर मारना)।

(४) **पूर्वान्त-प्रत्यय-संयोगी**—इस श्रेणी की भाषाओं में सम्बन्धतत्व अर्थतत्व के आगे और पीछे या पूर्व और अन्त में लगाया जा सकता है। इसीलिये इन्हें पूर्वान्त प्रत्यय संयोगी कहते है। मकोर भाषा इसी प्रकार की है—'म्नफ=सुनना' में 'ज म्नफ इ' का अर्थ होगा मैं तेरी बात सुनता हूँ।

(५) **आंशिक प्रत्यय संयोगी**—इस वर्ग की भाषायें यथार्थतः योगात्मक और अयोगात्मक वर्ग के बीच में पड़ती है। इन भाषाओं में योग अयोग दोनों के चिह्न मिलते हैं। न्यूजीलैंड तथा हवाई द्वीप की भाषायें आंशिक प्रत्यय संयोगी हैं।

विभक्ति प्रधान (श्लिष्ट योगात्मक)—विभक्ति प्रधान भाषाओं में सम्बन्ध तत्व विभक्तियों के द्वारा दिखलाया जाता है। ये विभक्तियाँ शब्द में मिल जाती है और उसमें कुछ विकार पैदा करती हैं। कहीं-कहीं तो शब्द और सम्बन्ध तत्व ऐसे मिल जाते हैं कि उनको अलग-अलग करना कठिन हो जाता है। इसी अर्थ में विभक्तियाँ प्रत्ययों से भिन्न हैं। प्रत्यय प्रतिपादिक या शब्द में मिलकर भी अपना अस्तित्व अलग रखते हैं, परन्तु विभक्तियाँ पूर्णतः शब्द के साथ मिल जाती है। यथार्थ में विभक्तियाँ प्रकृति की अंग होती हैं जैसा कि उनके नाम से स्पष्ट है कि विभक्त कर ली गयी हैं इसके विपरीत प्रत्यय स्वतन्त्र शब्दों से घिसकर बने हैं।

अतः विभक्ति प्रधान भाषा का प्रधान लक्षण प्रकृति एवं प्रत्यय का अभेद है। इसीलिये ये भाषायें विकृति प्रधान भी कहलाती है। इन भाषाओं के व्याकरणिक रूप बहुत जटिल एवं विविध होते है। अतः इनका व्याकरण बहुत विशाल होता है। संस्कृत भाषा इसी वर्ग की भाषा है। इस प्रकार की भाषाओं के दो भेद किये जाते हैं।

(च) अन्तर्मुखी विभक्ति प्रधान—सेमेटिक और हेमेटिक परिवार की भाषा अन्तर्मुखी विभक्ति प्रधान है। इन भाषाओं में पूर्व विभक्तियां, अन्तः विभक्तियां एवं पर विभक्तियां होती है। इनमें विभक्तियों का प्रकृति में पूर्ण लोप हो जाता है। कारकादि व्याकरणिक सम्बन्ध शब्द के भीतर होने वाले स्वर परिवर्तन से सूचित किये जाते है। उदाहरण के लिये कत्ल् एक अरबी धातु है। इससे कतल (उसने मारा), कुतिल (वह मारा गया), कातिल (मारने वाला) आदि रूप बनते हैं। इनमें व्यंजन वही के वही है केवल स्वरों में परिवर्तन हो गया है। इस वर्ग की भाषाओं की धातु बहुधा तीन स्वरहीन व्यंजनों की होती है। सेमेटिक परिवार के अतिरिक्त हेमेटिक परिवार में भी ये लक्षण बहुत घटते है। इन भाषाओं में भी संहति से व्यवहित की ओर प्रवृत्ति देखी जाती है। इसी आधार पर इन भाषाओं के संहित और व्यवहित दो उपभेद किये गये हैं। संहित का उदाहरण अरबी भाषा है। व्यवहित में आधुनिक हिब्रू भाषा आती है।

बहिर्मुखी विभक्ति प्रधान—इस उपभेद में भारोपीय परिवार आता है। इसमें विभक्तियां शब्द के अन्त में लगती है। इसकी धातुयें न तो त्रिवर्णी होती है और न उनके व्याकरणिक सम्बन्ध अन्तरंग स्वर भेद द्वारा ही सूचित होते है। संहित से व्यवहित होने की प्रवृत्ति इनमें भी मिलती है। विभक्तियां प्रायः घिसते घिसते समाप्त होती जा रही है और बाद में इनमें परसर्गों का प्रयोग होने लगा है। हमारी आधुनिक भारतीय आर्य भाषायें तथा वर्तमान फारसी और अंग्रेजी का विकास इसी में हुआ है। इस परिवार की एक विशेषता अक्षरावस्थान भी है। जैसे अंग्रेजी के Sing, Sang, Sung विभक्ति प्रधान भाषा के उदाहरण संस्कृत धातु से गच्छति, गच्छतः, गच्छन्ति आदि रूप है। जिनमें ति, तः एवं अन्ति विभक्तियां है। इनसे ही सम्बन्ध तत्व का बोध होता है। इन भाषाओं के भी दो भेद है।

(ल) संयोगात्मक विभक्ति प्रधान, (य) वियोगात्मक विभक्ति प्रधान।

(ल) संयोगात्मक विभक्ति प्रधान—भारोपीय परिवार की प्राचीन भाषायें संस्कृत, ग्रीक, अवेस्ता, लैटिन आदि इसमें आती है। इनमें सहायक क्रिया परसर्ग आदि की आवश्यकता नहीं होती थी, जैसे संस्कृत में सः पठति—वह पढ़ता है।

(य) वियोगात्मक विभक्ति प्रधान—भारोपीय परिवार की आधुनिक भाषायें वियोगात्मक हो गयी है। इनमें विभक्तियां प्रायः घिसकर लुप्त हो चुकी है और परसर्ग एवं सहायक क्रिया लगाने की आवश्यकता पड़ने लगी है। 'पठति' के लिये 'पढ़ता है', 'गच्छति' के लिये 'जाता है' आदि लिखना पड़ता है

आकृतिमूलक वर्गीकरण में हिन्दी का स्थान—अंग्रेजी और हिन्दी दोनों भाषायें इतनी व्यवहित हो गयी है कि उनमे वियोग और संयोग के भी बहुत से उदाहरण मिलते हैं। स्वीट जैसे विद्वान ने अंग्रेजी को व्यवहित विभक्ति प्रधान भाषा कहना ही उचित समझा है, किन्तु एडमन्डस का कहना है कि अंग्रेजी में विभक्ति और प्रत्यय संयोग के ही अधिक उदाहरण मिलते हैं। इसी प्रकार की अवस्था हिन्दी की है। हिन्दी को पूर्णत: हम किसी भी वर्गीकरण मे नहीं रख सकते क्योंकि इसमें समास प्रधान और प्रत्यय प्रधान एवं विभक्ति प्रधान सभी का समावेश है। यदि हम इसको एक उपभेद में रखना चाहे तो वियोगात्मक बहिर्मुख विभक्ति प्रधान कह सकते हैं।

वर्गीकरण की समालोचना—भाषाओं के आकृतिमूलक वर्गीकरण का कुछ उपयोग है तो केवल यही कि इससे भाषाओं की बनावट का ज्ञान होता है। भाषाओं के अध्ययन में व्याकरण का महत्व भी इससे प्रतिपादित होता है, परन्तु भाषा विज्ञान की दृष्टि से इस वर्गीकरण का कुछ भी महत्व नहीं है। इसके दोषों को हम निम्नलिखित रूप में देख सकते हैं—

(१) यह वर्गीकरण अवैज्ञानिक है। इसमें एक वर्ग में परस्पर कोई सम्बन्ध न रखने वाली अनेकानेक भाषाओं को इकट्ठा कर दिया गया है। उदाहरणार्थ भारोपीय वर्ग की भाषायें सामी एवं हामी परिवार की भाषाओं के साथ विभक्ति प्रधान वर्गीकरण में रखी गयी हैं। उपर्युक्त विभक्तियुक्त भारोपीय तथा सेमेटिक और हेमेटिक परिवारों में भी परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। यही नहीं, उनकी रचना कई अंशों में एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न है।

(२) यह वर्गीकरण स्थूल है। ससार की कोई भी भाषा पूर्णत: समस्त, पूर्णत: प्रत्यय प्रधान अथवा पूर्णतः विभक्ति प्रधान नहीं है। एक ही भाषा में ये सभी विशेषतायें मिल जाती हैं। दूसरे शब्दो में हम कह सकते हैं कि यह सुव्यवस्थित और निश्चित नही है। कुछ भाषायें ऐसी हैं, जिनको किसी एक ही वर्ग में लाना कठिन है। इसी प्रकार एक एक वर्ग की भाषा में ऐसे शब्द पाये जाते हैं जिनकी रचना दूसरे वर्गों के अनुकूल होती है। वस्तुत: भिन्न भिन्न परिवारों की भाषाओं के बीच में निश्चित सीमा बाँधना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव है। एक ही भाषा में देखा जाता है कि अयोगात्मक और योगात्मक लक्षण पाये जाते हैं।

(३) विभक्तियुक्त भाषाओं में भी जो संयोगात्मक और वियोगात्मक भेद ऊपर किया गया है वह भी आपेक्षिक ही है। यद्यपि इन भाषाओं का झुकाव वियोगात्मक की ओर है, तो भी कोई ऐसी आधुनिक भाषा नही पायी जाती जो सर्वांश मे केवल संयोगात्मक या वियोगात्मक कही जा सके।

(४) इस वर्गीकरण के अनुसार भाषायें जिस रूप में विद्यमान हैं उसी रूप में पहले से चली आ रही है परन्तु भाषा वैज्ञानिकों ने आज चीनी जैसी व्यवहित

भाषा के भी कुछ समस्त रूप निकाले हैं। व्यावहारिक दृष्टि से यह विभाजन अपूर्ण है।

(५) इस वर्गीकरण के आधार पर विभिन्न कुलों की भाषाओं को एक ही वर्ग में रखकर भाषाओं के ऐतिहासिक अध्ययन में भी बिल्कुल सहायता नहीं मिलती। यथा चीनी भाषा एवं सूडानी भाषाओं को अयोगात्मक माना गया है, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इनका कोई सम्बन्ध हो सकता है, यह समझ में नहीं आ सकता है। इसी प्रकार अन्य भाषाओं के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि इस विभाजन में भाषाओं पर बाह्य दृष्टि से ही विचार किया गया है, आन्तरिक दृष्टिकोण से नहीं। इसमें अर्थतत्व का कोई महत्व प्रतिपादित नहीं हुआ है, जोकि भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन में विशेष महत्व रखता है। अतः यह वर्गीकरण पूर्ण रूप से उचित नहीं है। इसमें केवल सम्बन्धतत्व को प्रधानता दी गई है जो भाषा शास्त्र का एक विषय है। साथ ही साथ वाक्य-विचार को इसमें पूर्ण प्रमुखता दी गई है।

वंशानुक्रम वर्गीकरण

भाषाओं का अभी पूर्ण रूप से अध्ययन नहीं हुआ है। संसार में बहुत सी ऐसी भाषायें हैं जिनका विद्वानों को परिचय मात्र भी नहीं है। अतः उनका वर्गीकरण करना उनका एक दूसरे से सम्बन्ध स्थापित करना है, जो अत्यन्त दुष्कर है। मेयोपाइ का कथन ठीक ही है—"The world's languages have been in their majority very imperfectly studied and classified. संसार की भाषाओं का अधिकांश में बहुत ही अपूर्ण अध्ययन और वर्गीकरण हुआ है। सर्वप्रथम जब योरोप में भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन शुरू हुआ तो भाषा वैज्ञानिकों ने शब्दों की व्युत्पत्ति (Morphology) पर विशेष ध्यान दिया था, परन्तु तुलनात्मक अध्ययन के लिये ध्वनि, व्याकरण, लिपि तथा शब्दसमूह का ज्ञान अत्यावश्यक है। प्रकृतिमूलक वर्गीकरण के अतिरिक्त इनका ऐतिहासिक वर्गीकरण भी है।

ऐतिहासिक वर्गीकरण का महत्व—चार्ल्स डार्विन ने इसके ऐतिहासिक महत्व का प्रतिपादन किया है—"If we possessed a perfect pedigree of mankind a genalogical arrangement of the races of men would afford the best classification of the various languages how spoken through out the world."—'Origin of species' डार्विन का उक्त कथन सत्य का अंश लिये हुये है। भगवद्दत्त ने अपनी 'भाषा का इतिहास' नामक पुस्तक में भारतीय ऐतिहासिकता के आधार पर संसार की भाषाओं का वर्गीकरण कुछ और ही ढंग से किया है। उनका कहना है कि भारत का अविच्छिन्न इतिहास इस बात का साक्षी है कि कभी संसार में अति

भाषा बोली जाती थी जो लौकिक संस्कृत से कही विस्तृत प्राचीन और समृद्ध थी भारतीय ज्ञान और मिश्र का ज्ञान जो हेरोडोटस ने सुरक्षित किया निम्नलिखित तथ्य को प्रकट करते हैं—

(क) दितिमाता के पुत्र दैत्य थे। सम्पूर्ण पृथ्वी उनके आधीन थी और अदिति के पुत्र १२ आदित्य थे, जिनमें विवस्वान्, इन्द्र, विष्णु (सुरकुलेश) प्रसिद्ध हुये। दनू और दनायू के पुत्र भी दानव थे। प्राचीन काल में ये सभी संस्कृत भाषी थे। मिश्र के इतिहास में उन अंशों के देखने से पता लगता है जोकि हेरोडोटस ने सुरक्षित रखे थे। उसने लिखा है (a) Hercules is one of the gods of the second order who are known as the twelve, (b) and Becchus belongs to the gods of the third order. हेरोडोटस का हरकुलेश निश्चित ही सुरकुलेश विष्णु है। वह बारह देवों में कनिष्ठतम था। वे बारह देव दूसरी श्रेणी के देव थे और बेक्स अथवा Dionysius निश्चित ही विप्र-चित्ति दानवासुर। ग्रीक इतिहास में Titaus को elder gods लिखा है। यहाँ Titaus शब्द और दैत्य शब्द एक ही प्रतीत होते हैं। वे ही संस्कृत ग्रन्थो के पूर्वदेव ग्रीक के elder gods और मिश्र देश के gods of the first order थे। सस्कृत ग्रन्थों में इन पूर्व देवों को असुर भी लिखा है। वे बैबीलोनिया और असुरदेश Assyria के प्राचीनतम निवासी थे। इन्ही असुरो, दैत्यों अथवा Titaus ने योरोप बसाया, उन्हीं के वंशज ट्यूटन अंग्रेजी में Teutons लैटिन मे Teutones, गाथिक में Thinda कहलाये। Danes इस नाम में दनु और उसके पुत्र दानवों की स्मृति निहित है। Denmark में दानव शब्द मर्क पुरोहित का स्मरण करता है। Kelts, Celto कालकेय दानव के वंशज कैल्ट जातियों के मूल पुरुष थे।······इन सबसे प्रतीत होता है कि बाबल के देव युग के समय ही योरोप बस गया था और उस समय वहाँ भी वेद पद-बहुला भाषा का प्रचार था। इस आधार पर वर्गीकरण इस प्रकार है—

प्रत्ययों में से प्रारम्भ के और अन्त के प्रत्यय अंग्रेजी, जर्मन, स्वीडिश में वैसे ही मिलते हैं।

प्रत्यय--Thin, Thinner, thinnest; good, better, best.

जर्मन—dunn, dunner, dunnest.

स्वीडिश—Tunn, Tunnare, Tunnaste.

हेरवस का इस विषय में कथन द्रष्टव्य है—"Hervas was one of the first to recognize the superior importance of grammar to vocabulary for deciding questions of relationship between language" भाषा विज्ञान के आचार्यों ने भाषाओं की विभिन्नता में भी एकता ढूंढ़कर ही उनका पारिवारिक वर्गीकरण किया है और इस प्रकार उन्होंने परस्पर सम्बन्धिनी भाषाओं को एक परिवार में रखा है और एक मूलभाषा से ही इस परिवार की भाषाओं का विकास हुआ। गठन, स्वभाव, आकार, प्रकार के अतिरिक्त भाषाओं का वर्गीकरण उनकी उत्पत्ति एवं इतिहास के आधार पर भी किया जाता है। अतः इस वर्गीकरण को वंशानुक्रमानुसार वर्गीकरण अथवा पारिवारिक वर्गीकरण कहते है। एक मूलस्रोत से उत्पन्न होने वाली भाषायें एक परिवार में रखी जाती हैं। शब्द समूह, व्याकरण एवं ध्वनि तीनों की तुलना करके उनका वंशानुक्रम निश्चित कर लिया जाता है, उनकी इस परिवार की एकता के निर्धारण के लिये निम्न बातों का विचार रखना अत्यावश्यक है—

(१) भाषाओं की धातुओं में समानता।
(२) धातुओं से मूल शब्दों के बनाने में समानता।
(३) मूल शब्दों से व्याकरण के अंशकों को जोड़कर पूर्ण शब्दों की रचना की प्रक्रिया में समानता।
(४) भाषाओं के सर्वनामों में समानता।
(५) वाक्य रचना में समानता।

इस वर्गीकरण से भाषाओं के इतिहास, साहित्य तथा संस्कृति की बहुत सी समस्यायें सुलझायी जा सकती हैं।

प्रधान रूप से संसार की समस्त भाषाओं के अभी तक १७ या १८ परिवार स्वीकार किये गये है, परन्तु उनमे भारोपीय, सैमैटिक, हैमैटिक, यूराल, अल्टाई, चीनी, द्राविड़, मैले-पालीनीशियन, बांटू, मध्य-अफ्रीका, आस्ट्रो-प्रशान्तीय, काकेशस आदि प्रसिद्ध परिवार हैं। भाषाओं के अध्ययन में सुविधा की दृष्टि से हम भौगोलिक आधार पर संसार को खंडों में विभक्त कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त भौगोलिक विभाजन का एक कारण और भी है कि एक भूखण्ड की भाषाओं में आपस में एक दूसरे पर बहुत प्रभाव पड़ता है, चाहे वे अलग अलग भाषा परिवार की ही क्यों न हों इस दृष्टि से विश्व के चार खंड किये गये हैं (१) अमरीका खंड, (२ अफ्रीका

(ख) बांटू परिवार—इस परिवार की भाषाओं को तीन वर्गों में विभक्त किया गया है। दक्षिणी अफ्रीका के अधिकाश भागों में इस परिवार की भाषायें बोली जाती है। ये भाषायें प्रायः पूर्व प्रत्यय संयोगी हैं। इनमें लिंग भेद नहीं होता। इस परिवार की भाषाओं का मधुर और कोमल होना प्रधान गुण है। इनमें संगीत की भी ध्वनि निकलती है। स्वरों के विभिन्न प्रयोग से ही अर्थ में भेद पाया जाता है, जैसे—"हो फिनेल्ला" का अर्थ दांधना है और 'हो-फिनोल्ला' का अर्थ खोलना होता है। जंजीबार की स्वाहिली भाषा को छोड़कर अन्य भाषाओं में साहित्य नहीं मिलता है। भाषाओं में संयुक्त व्यंजन नहीं के समान है। लिंग विचार का अभाव है। संगीतात्मकता इन भाषाओं की प्रधान विशेषता है।

(ग) सूडान परिवार—भूमध्य रेखा के अन्तर में पूर्व से पश्चिम तक सूडान परिवार की भाषायें बोली जाती हैं। इस परिवार में अनेक भाषाये मिलती हैं जो प्रधान रूप से चार वर्गो में विभाजित हैं। इन भाषाओं में से केवल ५ या ६ ही लिपिबद्ध मिलती है। इनकी धातुये एकाक्षर हैं और ये भाषाये व्यास प्रधान (अयोगात्मक) हैं। इन भाषाओं में भी चीनी भाषाओं की तरह कोई व्याकरण नहीं है। चीनी भाषाओं की तरह यहाँ भी अर्थ का भेद स्वरों द्वारा मालूम होता है। इन भाषाओं में बहु वचन स्पष्ट नहीं है। इन भाषाओं में ध्वन्यात्मक शब्द प्रचुर मात्रा में मिलते है और ये अधिकतर क्रिया विशेषणों के रूप में प्रयोग किये जाते हैं। लिंग भेद का अभाव है। वाक्य अधिकतर छोटे छोटे हैं। (१) सैनेगल, (२) ईव भाषा, (३) मध्य अफ्रीका, (४) नीलोत्तरी इसके प्रमुख भाषा वर्ग हैं। सूडान और बांटू दोनों परिवारों में समानता पाई जाती है।

(घ) हैमेटिक परिवार—यह उत्तरी अमरीका के विस्तृत प्रदेश में फैला हुआ है। इस भाषा को बोलने वाली कुछ जातियाँ दक्षिण को भी पहुँच गयी हैं। इनमें से अधिकांश भाषायें नष्ट हो चुकी हैं। इस भाषा परिवार को मुख्य रूप से तीन विभागों में बाँटा जा सकता है। (१) प्राचीन मिश्री भाषा और इससे निकली हुयी काप्टिक भाषा (२) लिबियन या बर्बर नाम की बोलियाँ (३) थियोपिक या एबिसिनियन (हब्शी) इस परिवार की आधुनिक बोलियों पर सैमेटिक परिवार की भाषाओं का अधिक प्रभाव पाया जाता है। इसी कारण इसका सामी परिवार से पारिवारिक सम्बन्ध मानना उचित ही है। आजकल मिश्री और काप्टिक भाषायें नहीं बोली जाती हैं, किन्तु उनके स्थान पर सैमेटिक परिवार की अरबी भाषा का ही प्रयोग है। इस परिवार की भाषायें श्लिष्ट योगात्मक (विभक्ति प्रधान) हैं। पद बनाने के लिये उपसर्ग और प्रत्यय दोनों लगाये जाते है। लिंग भेद सामान्यतः यहाँ शक्ति और निर्बलता पर आधारित है अर्थात् जो वस्तुयें बड़ी और शक्तिसम्पन्न हैं वे पुल्लिंग मानी जाती हैं और जो छोटी और दुर्बल हैं वे स्त्रीलिंग समझी जाती हैं। जैसे तलवार आदि पुल्लिंग और चाकू आदि स्त्रीलिंग। इस परिवार की भाषाओं की एक विशेष बात यह है कि बहु वचन बनाते समय एक वचन में जो लिंग होत

है उसमें परिवर्तन हो जाता है, यथा सामान्य में हामार [illegible], [illegible] है स्त्रीलिंग है किन्तु उसी का बहुवचन हॉर्थो-दून-कि [illegible] पुल्लिंग हो जाता है। स्वर परिवर्तन मात्र से अर्थ बदल जाता है जैसे 'दख्' का अर्थ है भीतर जाना पर 'दॅलि' का अर्थ होता है अन्दर रखना। किसी बात पर जोर देने के लिये शब्द की पुनरावृत्ति करते हैं। जैसे 'गोटि' का अर्थ काटना है किन्तु 'गोगोटि' का अर्थ बार बार काटना हो जायेगा।

(ङ) **सेमेटिक परिवार**—मिश्र में मुसलमानों के आगमन के बाद [illegible] भाषा वर्ग की अरबी भाषा का बड़ा प्रयोग होने लगा था। अफ्रीका में इस परिवार की शाखा मोरक्को से स्वेज नहर तक बोली जाती है। यह परिवार प्रधान रूप से यूरेशिया चक्र का है क्योंकि इसका क्षेत्र वहीं है। अतः इसका विवेचन [illegible] में ही किया जायेगा। इसकी प्रमुख भाषा अरबी का इस परिवार की अन्य भाषाओं पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। हेमेटिक और सेमेटिक परिवारों में समानता मिलती है। इसलिये कुछ विद्वान इन्हें एक ही कुल में रखना चाहते हैं। दोनों की विभक्ति प्रधान भाषायें हैं। इनमें पूर्व और अन्त में विभक्तियाँ जोड़ी जाती हैं। साधारणतया स्वर परिवर्तन से ही अर्थ परिवर्तन हो जाता है। बहुवचन बनाने के लिए [illegible] है। दोनों के परिवारों में लिंग भेद के नियम [illegible] नहीं है। जैसे पशु पुल्लिंग है, पर पशुओं स्त्रीलिंग होगा।

३—**प्रशान्त महासागर खण्ड**—इसे इन्डोनेशियन परिवार भी कहते हैं। इस खण्ड में अनेक भाषा और बोलियाँ हैं। हिन्द महासागर और प्रशान्त महासागर के द्वीपों में इसकी भाषाओं का विस्तार है। इसके पाँच मुख्य परिवार माने जाते हैं। लगभग ये सभी भाषायें प्रत्यय-प्रधान (श्लिष्ट योगात्मक) होती हैं। प्रमुख परिवारों के नाम नीचे दिये जाते हैं और उन पर संक्षेप में कुछ विवेचन भी किया जाता है—
(१) मलयन, (२) मेलानेसिअन, (३) पालीनेसिअन, (४) पापुअन, (५) आस्ट्रेलियन।

(अ) **मलयन**—इसे इन्डोनेशियन परिवार भी कहते हैं, यह परिवार अधिक विकसित नहीं है। यह प्रशान्त महासागर खण्ड का प्रधान भाषा परिवार है। इस परिवार की भाषाओं पर अन्य विदेशी भाषाओं का प्रभाव है। इनमें [illegible] और अरबी का अधिक है जैसे जवाहर-अनिकम् (रत्न) आदि। [illegible], [illegible] और अरबी तीनों लिपियाँ कुछ परिवर्तन के साथ यहाँ प्रयोग में आती हैं। इस परिवार की मुख्य भाषायें—मलय, जावा, सौंड, सुन्दियन, दयक, बटक, फार्मोसियन, [illegible] आदि हैं। ये भाषायें पूर्वी द्वीप समूह में बोली जाती हैं। यहाँ की भाषा के शब्द और धातुओं में विशेष अन्तर नहीं है। एक ही शब्द समय पड़ने पर संज्ञा, क्रिया आदि सभी में प्रयुक्त होता है। जैसे मलय भाषा के 'भकित' का अर्थ बीमार, बीमार होना, बीमार होता है। मलय भाषा के दो रूप मिलते हैं—साहित्यिक और साधारण। जावा की उच्च भाषा का नाम 'क्रामी' और साधारण जन की भाषा का नाम 'न्गोको' है।

केन्टुम और शतम् वर्ग—ध्वनियों के आधार पर भारोपीय परिवार की भाषाओं को 'शतम्' और 'केन्टुम' दो वर्गों में रखा गया है। इस विभाजन का आधार यह है कि उनके नाम शतम् और केन्टुम किस प्रकार बने। इस विषय में भाषा सम्बन्धी खोज करने वाले विद्वानों का विचार है कि प्राचीन काल में भी भारोपीय परिवार में दो विभाषायें रही होंगी। इस कारण भाषाओं में भाषा की ध्वनियों में भी कुछ में अन्तर हो गया होगा। अतः भारोपीय भाषा के कवर्ग ने ग्रीक आदि भाषाओं में कवर्ग का रूप धारण कर लिया है। यही कवर्ग संस्कृत ईरानी आदि में शकार ऊष्म बन गया है। इस प्रकार जिन भाषाओं में कुछ स्थानीय शब्दों के ही रूप में देखे जाते हैं और दूसरे में ऊष्म के रूप में पाये जाते हैं। इसका सबसे अच्छा उदाहरण विभिन्न भाषाओं में सौ के अर्थ में प्रयुक्त शब्द द्वारा मिलता है। जैसे मूल भाषा का *कंतोम्, ग्रीक का 'हेकतोन्', लैटिन 'केन्टुम्', 'केल्टो', 'कैन्ट', जर्मन हुन्ड्र, फारसी 'सद', ईरानी 'सतम्', भारतीय 'शतम्' Satem और Centum क्रम से अवेस्ता और लैटिन भाषा के शब्द हैं। प्राचीन समय में साहित्यिक लैटिन भाषा में C को का उच्चारण सहित 'क' होता था। इन दोनों भागों की एक और विशेषता है। भारोपीय परिवार की भाषा के स्वरात्मक 'न्' या 'म्' (N. M.) के स्थान में साधारणतया केन्टुम वर्ग में पूर्ण अनुनासिक स्वर ('न' आदि) तथा एक स्वर देखा जाता है, किन्तु शतम् वर्ग की भाषाओं में अनुनासिक अंश का साधारणतया लोप हो जाता है केवल अननुनासिक स्वर शेष रहता है, जैसे संस्कृत 'दश', लैटिन 'Decem', गाथिक 'Taihun' मूलभाषा dekru स० सप्त, लैटिन Septem, भारोपीय मूलभाषा Sebtn. इस वर्गीकरण की विशेषता यह है कि किसी भी वर्ग की भाषा में दोनों प्रकार की ध्वनियाँ नहीं मिलती हैं अर्थात् कभी भी नियम का उल्लंघन नहीं पाया है। दोनों वर्गों में भाषा के निम्नलिखित परिवार आते हैं—

केन्टुम् वर्ग—केल्टिक, जर्मन, इटली ग्रीक, हिट्टाइट, तोखारी।

शतम वर्ग—भारतीय, ईरानी, आर्मेनिअन, बाल्टिक-स्लैवॉनिक, इलीरियन।

इसमें प्रथम वर्ग का सम्बन्ध अधिकतर पश्चिमी या यूरोप की भाषाओं से है और द्वितीय का पूर्वीय या एशिया की भाषाओं से। आगे हम संक्षेप में प्रत्येक भाषा वर्ग के ऊपर प्रकाश डालेंगे।

केन्टुम वर्ग

(१) **केल्टिक भाषा वर्ग**—इस वर्ग से सम्बन्धित भाषायें यूरोप के पश्चिमी कोने में पायी जाती हैं। आज से दो सहस्र वर्ष पूर्व इस वर्ग की भाषायें यूरोप के एक विस्तृत क्षेत्र में बोली जाती थीं। इस वर्ग की इटैलियन वर्ग से बहुत समानता है। इस वर्ग से सम्बन्ध रखने वाली भाषायें इस प्रकार हैं—(१) प्राचीन गालिश, (२) आइरिश, (३) वेल्स, (४) मैंक्स, (५) गेलिक, (६) ब्रेटेन भाषा (७) कार्निश।

(२) जर्मन या ट्यूटानिक शाखा वर्ग—यह शाखा यूरोपीय परिवार की महत्वपूर्ण शाखा है। अंग्रेजी जो आज अन्तर्राष्ट्रीय भाषा बनी हुयी है इसी भाषा वर्ग से सम्बन्ध रखती है। इस शाखा के पूर्वी और पश्चिमी दो भाग किये गये हैं पश्चिमी शाखा के भी उच्च जर्मन और निम्न जर्मन। निम्न जर्मन में प्राचीन अंग्रेजी डच, फ्रिजयन, फ्लीमैश आदि भाषायें आती हैं। शेष में डेनिस, मार्थक स्वीडिस, आइस लैण्डिक भाषायें आती हैं।

(३) इटाली (लैटिन)—इस शाखा की सबसे पुरानी भाषा लैटिन है। इस शाखा के भी प वर्गीय एवं क वर्गीय दो भेद किये गये हैं। इटैलियन वर्ग में पाये जाने वाली भाषाओं के नाम प्रमुखतया इटाली, स्पेन, पुर्तगाली, रोमानिअन, फ्रेन्च, आस्कन, सेवाइन आदि हैं।

(४) ग्रीक—इस भाषा का प्राचीनतम रूप होमर की रचना में मिलता है। यह वैदिक संस्कृत से अधिक मिलती है। ग्रीक भाषा में प्राचीन रूप में भारोपीय भाषा के अनेक लक्षण मिलते हैं। आधुनिक ग्रीक भाषा की उत्पत्ति एटिक भाषा से हुयी है जो एटिक और डोरिक दोनों ही प्राचीन काल में प्रधान थीं। भाषा विज्ञान के अध्ययन में इससे बहुत सामग्री मिली।

(५) हिट्टाइट—एशिया माइनर में अंकारा से ९० मील की दूरी पर बोगाजा कोई नामक स्थान की खुदाई से प्राप्त कई सहस्र कीलकाक्षर लेखों में एक ऐसी भाषा मिली जो पद-रचना की दृष्टि से निश्चय ही भारोपीय परिवार की है। प्रो० साइस उसे सैमेटिक परिवार की मानते हैं, किन्तु उसका कारक संज्ञा, क्रिया, सर्वनाम आदि का साम्य संस्कृत लैटिन आदि से ही अधिक है।

तुखारी—पूर्वीय तुर्किस्तान एवं तुर्फान देश में जर्मन विद्वानों ने भ्रमण करके इस भाषा का पता लगाया था। प्राचीन ग्रिक लोगों ने भी तोखारोइ नामक जाति का वर्णन किया है। इस पर यूराल-अल्टाई परिवार की भाषा का विशिष्ट प्रभाव है।

शतम् वर्ग

(१) आर्य—भारोपीय परिवार की यह शाखा बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसी शाखा की संस्कृत भाषा सबसे प्राचीन है। इसका ऋगवेद ग्रन्थ संसार का प्राचीनतम ग्रन्थ है। वास्तव में भाषा-विज्ञान का अध्ययन संस्कृत भाषा पर ही पूर्ण रूप से आधारित है। भारतीय आर्य भाषाओं और ईरानी भाषाओं के प्राचीन रूपों में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि निस्संदेह कहा जा सकता है कि इतिहास में एक समय ऐसा रहा होगा जिस समय इन दोनों का सम्बन्ध एक होगा और उसे हम भारत-ईरानी काल भी कह सकते हैं। इसी से इन दोनों का नाम आर्य भाषा वर्ग या भारत-ईरानी भाषा वर्ग रखा गया है। इस वर्ग के दो उपभेद हैं—(१) भारतीय (२) ईरानी।

न चीन । इस कारण कुछ विद्वानों ने आर्य जाति का मूल स्थान बाल्टिक सागर के किनारे की भूमि को बताया है, किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि इसके प्रमाण में विशेष सामग्री नहीं मिलती। ग्रीक भाषा तथा वैदिक भाषाओं में पाये जाने वाले स्वर अभी तक विद्यमान हैं।

स्लैवोनिक--यह भाषा वर्ग बाल्टिक भाषा वर्ग से अधिक विस्तृत है। इसमे रूस, पोलैंड, बुहेमिया, जुगोस्लैविया, बलोरियन आदि भाषाये सम्मिलित हैं। इसके तीन उपभाग हैं—पूर्वी, पश्चिमी एवं दक्षिणी भाग। साहित्य प्रायः आधुनिक ही है। उनका सबसे प्राचीन स्वरूप स्लोटियन में लिखे हुये ईसाई धर्म से सुरक्षित है।

ऐल्बेनियन—इस भाषा में प्राचीन साहित्य नहीं मिलता है। इस भाषा ने भाषा विज्ञानियों का अच्छा ध्यान आकर्षित किया है, परन्तु प्राचीन साहित्य के न होने से इस भाषा के अध्ययन में बड़ी कठिनता हुयी है। इस भाषा में लैटिन, इटैलियन, ग्रीक, स्लैवोनिक और तुर्की भाषाओं के शब्द सम्मिलित हैं।

भारोपीय परिवार की विशेषतायें—इस परिवार की भाषा विभक्ति प्रधान है। ये विभक्तियाँ प्रायः बहिर्मुखी होती हैं और शब्द के अन्त में जोड़ी जाती है, इस परिवार की आधुनिक भाषायें संयोगात्मक से धीरे-धीरे वियोगात्मक होती जा रही हैं। धातुयें प्रायः एकाक्षर होती हैं और उनमें कृत् एवं तद्धित प्रत्यय लगकर शब्दों की रचना होती है। इनमें जो प्रत्यय जोड़े जाते हैं उनका स्वतन्त्र रूप से कोई अस्तित्व नहीं होता है जैसा कि अन्यान्य भाषाओं में मिलता है, वह प्रकृति में ही अन्तर्भुक्त हो जाते है, जिन प्रत्ययों को धातु में जोड़कर रूप बनाये जाते हैं वे कृत् कहलाते हैं और जो प्रत्यय कृत् प्रत्यय के जोडने के बाद उन बने हुये रूपो मे लगाये जाते हैं उन्हे तद्धित कहते है। यहाँ की भाषाओं के शब्दों में उपसर्ग भी जोडे है। धातुओं में जोड़ने से उनके अर्थ में परिवर्तन हो जाता है—आगच्छति, आदाय, विशेष आदि में आ तथा वि उपसर्ग हैं। इस परिवार की सबसे बड़ी विशेषता समास रचना है। समास रचना में विभक्तियों का लोप हो जाता है और समास बनने से पूर्व जो उन शब्दों का अलग-अलग अर्थ रहता है, वह समास हो जाने के बाद परिवर्तित होकर एक ही अर्थ में समाविष्ट हो जाता है जैसे दश+आनन का अर्थ दसमुख हुआ किन्तु समास होने पर दशानन अर्थात् दस मुख वाला हुआ जो कि रावण के लिये प्रयुक्त होता है। भारोपीय नाम पर आक्षेप लिखता हुआ वाइसर लिखता है—Indeed the family does not peep within the limits indicated by the term indo-European. It is spread out over an enormous belt that stretches almost without interruption form central Asia to the fringes of westernmost Europe, भारोपीय परिवार उन सीमाओं में बन्द नहीं रहा, जिन्हें इन्डो-योरोपियन संज्ञा प्रकट करती है। मध्य एशिया से पश्चिमतम यूरोप के किनारो तक का विस्तृत क्षेत्र अबाध रूप से इस भाषा का स्थान रहा। इस वर्ग में प्रायः

सात विभक्तियां मिलती हैं। नाम विभक्तियों और धातुओं की रूपावली [illegible] एक प्रकार की है। इस समूह की मूल-भाषाओं में द्विवचन भी पाया जाता है। लिपि-दोष के कारण ही इसके शतम् और केन्टुम् दो वर्ग बन गये हैं।

भारत-ईरानी परिवार (Indo-Aryan) की भाषाओं का संक्षिप्त वर्णन

देववाणी तथा लौकिक संस्कृतादि भाषाएं—

हमारे पूर्वज ऋषि, मुनि, पाणिनि, यास्क आदि शास्त्र के नित्य प्रति प्रयोग में आने वाली भाषा को लौकिक वाणी (संस्कृत) भाषा का नाम ही देते थे। काठक संहिता में लिखा है कि ब्राह्मण दो प्रकार की भाषा बोलता है, दैवी और मानुषी। "तस्माद् ब्राह्मण उभे वाचौ वदति, दैवी च मानुषी च" और जो लोकभाषा थी वह वेदपद बहुला आदि भाषा थी। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने यह प्रयत्न किया कि वेदभाषा भी लोकभाषा ही है। उनके विचार हम लिखते हैं। [illegible] लिखता है—The most ancient stage of India is known as Vedic or Vedic sanskrit. The language of the Vedas... possibly. It is as old as 1000 B. C. पाश्चात्य विद्वानों के आधार पर गुणे का कथन है—The Vedic language has preserved to us some of the oldest features of the original Indo-Germanee language—its consonant system has preserved almost infact the old indo Germanee system, although in vowels it has suffered losses. किन्तु भारतीय इतिहास के अनुसार तथागत बुद्ध के काल को जो (विक्रम से १७०० वर्ष पूर्व) में भी वेदपाठी ब्राह्मण सर्वत्र विद्यमान थे और बुद्ध से अनेक वर्षों पूर्व पराशर, व्यास, शौनक आदि ऋषियों ने वेदों का अध्ययन किया और वेदशाखाओं का प्रवचन किया। विवस्वान् पहला मनुष्य था जिसने सोम का प्रयोग किया। अवेस्ता में भी यह लेख मिलता है। योन् ह्वा माम् पयोइर्यो, मश्यो (विवस्वान् या पूर्वो मर्त्यः) सप्तर्षियों को बाबली लेखों में Seven wise men लिखा है। वस्तुतः वेद उस काल से मानव की सम्पत्ति बनता चला आ रहा है। वेदवाणी में वर्तमान व्याकरण के कोई भी नियम पूर्णतया चरितार्थ नहीं हो सकते। वेद मन्त्रों की निम्नांकित विशेषताएं अलौकिक हैं जो अन्य भाषाओं में नहीं मिलतीं। उन मन्त्रों में नियतानुपूर्वी, नियतवाचोयुक्ति, छान्दसी सुप तथा सर्वतोमुखी होना। पाश्चात्य विद्वानों ने वेदमन्त्रों का वास्तविक अर्थ न समझकर उनका संकुचित और हीन अर्थ किया है। वास्तव में देखा जाय तो आधुनिक व्याकरण का कोई भी नियम पूर्ण रूप से वेदवाणी पर लागू नहीं होता। इसी कारण मैकडानल ने अपनी वैदिक व्याकरण नामक पुस्तक में लिखा है कि—(1) The dual number is in regular use and,

generally speaking in strict application. द्वि वचन का प्रयोग नियमित है और प्रायः इसका कड़ा व्यवहार होता है, (2) The rule of concerd in case, person, gender, and number are in general the same as in other in flexional languages कारक, पुरुष, लिंग और वचन की एकरूपता के नियम प्रायः अन्य विभक्ति युक्त भाषाओं के समान ही हैं, (3) When there are more than two subjects the verb is not necessarily in the plural, but may agree with only one of them.

जब वाक्य में दो अथवा अधिक कर्त्ता हों तो आवश्यक नहीं कि क्रिया द्वि वचन अथवा बहुवचन में ही हो। क्रिया उन कर्त्ताओं में से किसी के अनुकूल हो सकती है। वेदो मे अनेक बोलियों का संयोग है। ऐसा पाश्चात्य विद्वानों का तर्क है किन्तु ऐसा उचित नहीं क्योंकि एक ही ऋषि द्वारा प्रतिपादित सूत्रों में मन्त्रों मे रचना के भेद के कारण वाणी में भी विभिन्नता आ जाती है। महामुनि पाणिनि इस बात को भली-भाँति समझते थे, उन्होंने वेदवाणी को साधारण भाषा स्वीकार नहीं किया, और उसके लिये उन्होंने 'बहुल छन्दासि' का ही प्रयोग किया है। लोकभाषा अतिभाषा या आर्यभाषा ही रही। वेद में और ब्राह्मण ग्रन्थों में जो लट् लकार मिलता है, वह लोकभाषा में नहीं है। मैकडानल ने वेदों की और उत्तरकालीन महाकवियों की संस्कृत में भेद बतलाया है। इन शब्दों को केवल भेद उच्चारण के कारण स को द और ह को ज्ञ तथा भ को व और व् को य हो गया है। इसी उच्चारण भेद के कारण उनमें अन्तर हो गया है। संस्कृत ट वर्ग का अवेस्ता में बिल्कुल अभाव है। चवर्ग में च् और ज् दो ही वर्ण अनेक रूप मे पाये जाते हैं। पाँचों वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ महाप्राण अवेस्ता में नहीं मिलते हैं। अवेस्ता में आदि स्वरागम और बाद के अक्षर के स्वर का पूर्व के अक्षर पर अधिक प्रभाव पाया जाता है। जैसे रिणक्ति सं० इरनस्ति अ० भाति सं० बरहति अ०। अवेस्ता में ल् का बिल्कुल अभाव है। घोष महाप्राण घ् ध् भ् अवेस्ता में अल्पप्राण ग् द् ब् हो जाते हैं। अघोष अल्प-प्राण क् त् प् अवेस्ता में ख्, थ्, फ् संघर्षी हो जाते हैं। यथा ऋतुः खतुश सत्य=ह इ थ् यो। आर्य शाखा का विभाजन (१) ईरानी (२) दरद (३) भारतीय।

ईरानी उपशाखा—इस शाखा की भाषाओं के पूर्व विकास और ज्ञान के लिये पर्याप्त प्राचीनतम साहित्यिक सामग्री उपलब्ध नहीं होती है क्योंकि अरब तथा ग्रीक के विजेताओं ने उसे पूर्ण रूप से नष्ट कर दिया था अतः पूर्णरूपेण इन भाषाओं का शृंखलाबद्ध इतिहास नहीं बताया जा सकता। प्राचीन काल की उपलब्ध सामग्री के अनुसार यह भाषा दो रूपों में ही वर्तमान रही है। प्रथम अवेस्ता तथा दूसरी प्राचीन फारसी है। पहली पूर्वी ईरान की भाषा थी, दूसरी पश्चिमी ईरान की भाषा थी। निम्न चित्र द्वारा ईरानी भाषाओं का वंश प्रकट किया जा सकता है—

कुछ परिवर्तन मिलते हैं। व्याकरण की दृष्टि से शब्दों के रूपों का बाहुल्य पहलवी में नहीं मिलता है।

अर्वाचीन फारसी—फारसी भाषा के विकास का अन्तिम स्वरूप आधुनिक फारसी ही है। इसका सबसे प्राचीन रूप आधुनिक फारसी ही है। इसका सबसे प्राचीन रूप फिरदौसी के शाहनामें में देखने को मिलता है। आधुनिक फारसी पर अरबी भाषा का अधिक प्रभाव है। मध्यकालीन और प्राचीन फारसी की अपेक्षा आधुनिक फारसी में होने वाले उच्चारण सम्बन्धी परिवर्तनों में सबसे मुख्य परिवर्तन 'क', 'त', 'प' और च के स्थान में ग, द, व और ज का होना है।

प्रा० फा० या अवेस्ता	पहलवी	आ० फा०
मारन्न	मर्क	मर्ग (मृत्यु)
ह्वतो	ख्वोत	खुद (आप)
आप	आप्	आब् (जल)

इनमें क, त, प को ग, द, व हो गया है। च् को ज् होकर ज़् हो गया है।

रोच	रोज	रोज़् (दिन)

ओसेसेटिक—काकेशस के छोटे प्रदेश में यह बोली बोली जाती है। यद्यपि इसके उच्चारण जार्जियन भाषा से कुछ समान दिखलायी देते हैं, फिर भी यह ईरानी वर्ग की भाषा है। इस पर काकेशस की अनार्य भाषाओं का अधिक प्रभाव पड़ा है।

कुर्दी—इसका सम्बन्ध आधुनिक फारसी से अधिक है, किन्तु फारसी भाषा की अपेक्षा शब्दों का रूप इस भाषा में छोटा हो जाता है, जैसे कुर्दी में वेरा (भाई), फारसी में (बिरादर)।

पामीर की बोलियां या गालचा—ये बोलियाँ बहुत दूर तक उत्तरीय पर्वतीय प्रदेशों की बोलियाँ हैं। जो पामीर के पठारों तक फैली हुयी है। इसकी उत्पत्ति अवेस्ता से ही है।

बिलूची—यह बिलोचिस्तान की भाषा है। अवेस्ता से ही विकसित है, किन्तु आधुनिक फारसी से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

पश्तो—इसे अफगानी भी कहा जाता है। इस पर आसपास की भारतीय भाषाओं का शब्दों के रूपों का वाक्य रचना की दृष्टि से प्रभाव पड़ा है। इसे अवेस्ता से निकली हुई भाषा माना जाता है।

दरद उपशाखा—भारत और ईरानी शाखा के मध्य भाग की भाषायें दरद शाखा की भाषायें कहलाती हैं। पुरानी फारसी के ये अत्यन्त समीप हैं। दरद का अर्थ पर्वत है और सिन्धु नदी के उद्गम स्थान को दरद कहते हैं। दरद पुराने आर्य क्षत्रिय थे किन्तु कालान्तर में ये संस्कारहीन होकर म्लेच्छ हो गये। सिन्धु के उद्गम स्थान से काश्मीर तक सम्पूर्ण प्रदेश में ये भाषायें बोली जाती है। इसका विभाजन हम नीचे देते हैं।
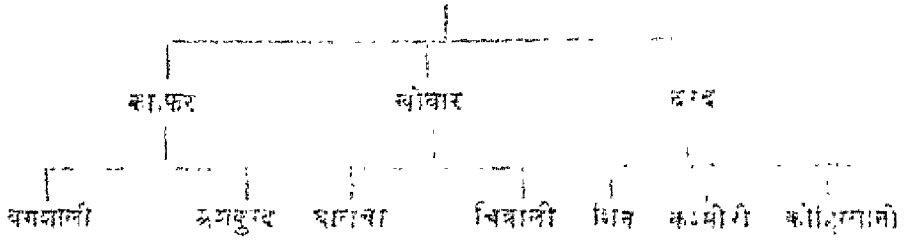
दरद बोलने वालों की संख्या १५ लाख है। खोवार का क्षेत्र ईरान और हिन्दुस्तान के मध्य में है। इसकी अनेक प्रमुख बोलियों में पशाई और शिणा प्रधान हैं। चित्राल के पश्चिमी भाग में काफिर वर्ग की बोलियाँ बोली जाती हैं। कश्मीरी भाषा कश्मीर में बोली जाती है। इसकी लिपि शारदा है। इसमें सुन्दर साहित्य है। भारोपीय परिवार में आर्य शाखा साहित्य और भाषा दोनों की दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह संसार का प्राचीनतम भाषा परिवार है। इस भाषा परिवार की दो प्रमुख शाखायें हैं— एक भारतीय, दूसरी ईरानी। इन दोनों परिवारों की भाषाओं में बहुत कुछ समानता है। इसीलिये इनको आर्य परिवार का नाम दिया गया है। यहाँ हम इनकी समानता और विषमता पर विचार प्रकट करते हैं। ईरानी कुल की सबसे प्राचीन भाषा अवेस्ता है और प्राचीन फारसी है। अवेस्ता भाषा का संस्कृत भाषा के साथ बहुत कुछ साम्य है और इन दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। मूल भारोपीय परिवार की भाषा के ह्रस्व स्वर 'अ', 'ए', 'ओ' तथा दीर्घ स्वर 'आ', 'ए', 'ओ' के स्थान पर इन दोनों भाषाओं में 'अ' और 'आ' ही रह गया है जैसे—

भारोपीय	संस्कृत	अवेस्ता
नेवाम्	नवम्	नवम्
ओस्थ	अस्थि	अस्ति
एपो	आपः	आप

इ, उ, र और क के बाद आने वाला स् इन भाषाओं में ष और श हो गया है।

भारोपीय	संस्कृत	अवेस्ता
स्थिस्थामि	तिष्ठामि	हिश्तौमि

इन दोनों भाषाओं के शब्द भंडार में बहुत साम्य है।

संस्कृत	अवेस्ता	संस्कृत	अवेस्ता
ओजस्	ओजः	गातु	गातु
असुर	अहुर	पुत्र	पुथ्र
सप्त	हप्त	भूमि	भूमी
अश्व	अस्प	सूत्र	सूथ्र
हस्त	ज़स्त	सेना	हएना

संस्कृत	अवेस्ता	संस्कृत	अवेस्ता
होतर	ज़ोतर	हिरण्य	ज़रण्य
अश्व	अस्प	भ्रातर्	ब्रातर्
सव्य	हव्य	सोम	हओमो
सर्व	हर्व	ददर्श	दादरेन्
अप	अप	जीव	जीव्य
मातर	मातर	जरथुश्त्रेम्	जरथ्ोम्
ऋतौ	रतुम्		
उपैत्	उपाइत्		

सेमेटिक परिवार—'सेमेटिक' शब्द 'सेमाइट' शब्द से उत्पन्न हुआ है। सेमाइट शब्द से अभिप्राय यहूदी तथा उनसे सम्बन्ध रखने वाली अन्य कौम अन्य जातियों से है। इस परिवार की भाषायें दक्षिणी पश्चिमी एशिया खण्ड एवं उत्तरी पूर्वी अफ्रीका खण्ड में बोली जाती हैं। इस परिवार की मुख्य विशेषता को हम नीचे प्रदर्शित करते हैं। सर्वप्रथम विशेषता यह है कि इस परिवार की धातुयें त्रैवर्णिक होती हैं। दूसरी विशेषता यह है कि धातुओं से शब्द बनाने में रूप चलाने या प्रत्ययों के सदृश अन्य अंशों के आगे जोड़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती केवल स्वरों के भेद से ही काम चल जाता है यथा जल्म—जुल्म करना एक धातु है। इससे केवल स्वर परिवर्तन के द्वारा निम्नांकित शब्द बना लिये जाते है। जालिम, जुल्म, मजलूम, अजलम आदि। भाषा विज्ञान की दृष्टि से भी आरोपीय परिवार को छोड़कर इस परिवार का अन्य परिवारों से अधिक महत्व है और अपनी रचनाओं की विशेषता के कारण संसार की समस्त भाषाओं से भिन्न है। इस परिवार की भाषा को बोलने वाली जातियों ने आरोपीय आर्य जातियों की तरह संसार की सभ्यता के विकास में बड़ा भाग लिया है। प्रमुखतया इसमे निम्नांकित भाषायें मुख्य हैं—(१) असीरियन, (२) हिब्रू, (३) अरबी।

काकेशस—इसका क्षेत्र कैस्पियन और काले सागर के बीच का पहाड़ी प्रदेश है। इसमें अनेक बोलियाँ विकसित हो गयी हैं। इन भाषाओं में संज्ञा, सर्वनाम, लिंग, क्रिया आदि के रूप बहुत जटिल हैं। इनमें धातुओं का जानना अत्यन्त ही कठिन है। इस परिवार की उत्तरी और दक्खिनी दो शाखायें हैं। इन दोनों में आपस में बहुत अन्तर है। उत्तरी काकेशी में न कोई साहित्य है और न लिपि। दक्खिनी शाखा की अपनी स्वतन्त्र लिपि है और उसमें कुछ साहित्य भी मिलता है। इस परिवार की भाषायें अश्लिष्ट योगात्मक है। इनमें पूर्व और पर प्रत्यय दोनों का प्रयोग मिलता है। बास्क आदि भाषाओं की भांति सर्वनाम और क्रिया का योग भी इनमें होता है। इस योग में भाषा आंशिक प्रश्लिष्ट योगात्मक हो जाती है। क्रिया के रूप भी जटिल है। कभी कभी मूल धातु का भी पता नहीं लगता।

द्राविड़ परिवार—यह परिवार भारत की सीमा में ही सीमित है। इस परिवार की भाषायें अधिकतर दक्षिण भारत में ही पायी जाती है। इस परिवार की

मुख्य भाषायें तामिल, कन्नड़ और मलयालम हैं। इनके अतिरिक्त और भी बोलियां हैं जिनको जंगली जातियाँ बोलती हैं। तामिल भाषा का सबसे अधिक महत्व है। इसमें प्राचीनतम तथा समृद्धितम साहित्य भी है। इस परिवार की भाषाओं पर संस्कृत का पर्याप्त प्रभाव है। सब भाषाओं में संस्कृत शब्दों की संख्या प्रचुर रूप में मिलती है। इस परिवार की भाषायें अन्त योगात्मक हैं। इनमें बड़े-बड़े समास भी बड़ी सरलता से बन जाते हैं, तथा मूर्धन्य वर्णों की अधिक प्रधानता है, इस परिवार ने भारतीय आर्य भाषाओं को बहुत प्रभावित किया है। यह परिवार वाक्य तथा स्वर की समानता की दृष्टि से यूराल अल्टाई परिवार से मिलता है, इस परिवार की भाषाओं का सम्बन्ध आस्ट्रेलिया और मैडागास्कर तथा भारत की भाषाओं से सिद्ध करने की चेष्टा विद्वानों ने की किन्तु वह निष्फल रही। यहां की भाषाओं के मूल शब्द में प्रत्यय लगते हैं—काकाइ (कौआ) का काकायहलू। इस परिवार की भाषाओं में हिन्दी और अंग्रेजी की तरह दो ही वचन होते हैं। इस भाषा में निर्जीव वस्तुयें नपुंसक मानी जाती हैं। बहुवचन बनाने के लिये प्रत्यय लगाये जाते हैं किन्तु उन जोड़े हुये प्रत्ययों की प्रकृति में कोई विकार नहीं होता। यहां कर्मवाच्य का बोध सहायक क्रिया द्वारा कराया जाता है। यहां की भाषाओं में संज्ञा के दो रूप होते हैं—उच्च और निम्न। शब्द के प्रारम्भ में संयुक्त व्यंजन नहीं मिलने पर मध्य में आने वाले अनुनासिक व्यंजन या अकेले व्यंजन के साथ व्यंजन अवश्य रहते हैं। तामिल में यह प्रवृत्ति अधिक है।

एकाक्षर (चीनी) परिवार—इस परिवार में चीनी, स्यामी, तिब्बती, बर्मी आदि भाषायें आती हैं। चीनी भाषा में विश्व का सबसे प्राचीन साहित्य मिलता है। इस परिवार की भाषायें स्थान प्रधान तथा स्वर प्रधान हैं। इनमें व्याकरण नहीं होता। वाक्य में शब्दों के स्थान का ही महत्व रहता है, प्रत्येक शब्द एक अक्षर का होता है। चीनी स्थान प्रधान भाषा का आदर्श उदाहरण मानी जाती है। इस वर्ग की तिब्बती और बर्मी भाषाओं पर भारतीय भाषाओं का अधिक प्रभाव पड़ा है। उनकी लिपि भी भारतीय लिपियों से निकली है। भारोपीय परिवार को छोड़कर चीनी परिवार के बोलने वालों की संख्या संसार में सबसे अधिक है। इस परिवार की कुछ भाषाओं के भारत में होने पर इस परिवार को लोग भारत चीनी भी कहते हैं। चीनी भाषा की लिपि बहुत प्राचीन है, इसमें प्रत्येक शब्द के लिये अलग संकेत होता है। लिपि सम्बन्धी इतनी जटिलताओं के विद्यमान होते हुये भी इस भाषा में विचारों की अभिव्यक्ति की पूर्ण शक्ति है। सम्बन्ध का पता अधिकतर शब्दों के स्थान से ही जाना जाता है, किसी शब्द के संज्ञा, क्रिया या विशेषण होने का बोध उसके वाक्य में प्रयुक्त होने पर होता है, अन्यथा नहीं। इस भाषा के शब्दों में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता वे ज्यों के त्यों बने रहते हैं। उदाहरणार्थ मैं तुम्हें मारता हूँ, तो चीनी भाषा में 'ङो ता नी' कहेंगे जिसका अर्थ क्रमशः ङो (मैं) ता (मारना) नी (तुम्हें) है, किन्तु 'तुम मुझे मारते हो' के लिये शब्दों का परिवर्तन करके 'नी ता

गा कर दिया जायगा। इस भाषा में स्वरों की अधिकता से कार्य सिद्धि होती है। एक शब्द विभिन्न स्वरों में विभिन्न अर्थ देता है। इसी परिवार की भाषाओं में एक ही शब्द के कई अर्थ होते हैं, जैसे 'लू' का अर्थ 'ओस, जवाहर, घुमाव, सड़क, आदि है। इस भाषा के समस्त शब्द दो भागों में विभक्त है—अर्थहीन और अर्थवान्।

यूराल अल्टाई परिवार—इस परिवार का मुख्य स्थान यूराल और अल्टाई पर्वतों के मध्य का प्रदेश ही था और उन्हीं पर्वतों के नाम पर इस परिवार का नामकरण हुआ। इसका विस्तार आर्य परिवार को छोड़कर सबसे अधिक है। ये भाषायें पश्चिम में फिनलैंड, हंगरी, तुर्की से लेकर पूर्व में ओखोटस्क सागर और दक्षिण में भूमध्य सागर से उत्तर में उत्तरी महासागर तक फैली हुयी हैं। इस परिवार में मुख्यतया फिनलैंड, हंगरी, तुर्की तथा मंगोली भाषा समूह हैं। विद्वानों ने इनको भिन्न ही परिवारों में मानने की चेष्टा की है, एक यूराल परिवार दूसरा अल्टाई परिवार, किन्तु इन परिवारों में रचना सम्बन्धी इतनी समानता है कि उसे एक ही परिवार कहा जाता है। इन भाषाओं में स्वर की अनुरूपता मिलती है। इन भाषाओं की रचना योगात्मक है। इन भाषाओं में एक पर एक प्रत्यय जुड़ते जाते हैं।

आग्नेय परिवार—इसे आस्ट्रिक तथा मुंडा परिवार भी कहा जाता है। मुख्यतया ये भाषायें छोटा नागपुर, इसके आस पास बंगाल और बिहार के पहाड़ी और जंगली प्रदेशों में तथा मध्य प्रदेश और उड़ीसा के कुछ जिलों तथा अन्य आस पास के स्थानों में बोली जाती हैं। इस परिवार की भाषायें योगात्मक हैं। इन भाषाओं में किसी प्रकार का साहित्य नहीं है। धातुएँ प्रायः दो अक्षरों की होती हैं। मुंडा भाषा परिवार की मुख्य बोलियाँ संथाली, मुंडारी और शबर हैं। इनकी कुछ विशेषताओं का प्रभाव आर्य और द्राविड़ भाषाओं में भी मिलता है। पद रचना के लिये आदि, अन्त और मध्य तीनों ही स्थानों पर योग होता है। इस परिवार की भाषायें विभिन्न विभिन्न स्थानों पर विकास को प्राप्त होने के कारण एक परिवार की होते हुये भी अपनी अपनी विशेषतायें स्वतन्त्र रूप से रखती हैं। इसकी तीन प्रमुख भाषायें इन्डोनेशियन, मोनख्मेर तथा मुन्डा हैं। इनमें मुंडा आग्नेय परिवार की प्रमुख भाषा है। इसी कारण आग्नेय परिवार का दूसरा नाम मुंडा परिवार भी है। मोनख्मेर भाषा का साहित्य अधिक समृद्धशाली है। इसके चार वर्ग हैं। इस समय इसका व्यवहार ब्रह्मा, स्याम और भारत की कुछ जंगली भाषाओं में ही पाया जाता है, मुंडा में आकर बसे थे। मुंडा शब्द की उत्पत्ति इसी परिवार का मुंडारी भाषा से अनुमानित की जाती है इसका कोल नाम भी था जिसका अर्थ सुअर है और मैक्समूलर ने इसे द्राविड़ भाषा से भिन्न बताया है और इसका नाम मुंडा रखा। इस परिवार की भाषायें अश्लिष्ट योगात्मक हैं। इनका योग सरल और स्पष्ट होता है। इस भाषा के पदान्त व्यंजनों में श्रुति का अभाव है। इनका उच्चारण श्रुतिहीन

होता है [illegible] और एक [illegible]
जाती है जिसका उच्चारण [illegible] आवश्यक [illegible] ध्वनियाँ [illegible] होता है। इस प्रकार की ध्वनियाँ को अर्थ व्यंजक करते हैं। [illegible] भाषा में सजीव और निर्जीव के आधार पर ही लिंग भेद रहता है। स्त्री वाचक और पुरुष वाचक शब्दों को जोड़कर उनका [illegible] करते हैं—[illegible] [illegible], [illegible] शेरनी।

अन्य विविध परिवार—उपर्युक्त भाषा परिवारों के अतिरिक्त, और भाषायें भी हैं जिनको हम किसी एक विशेष परिवार में नहीं रख सकते हैं। इनको हम संक्षेप में नीचे देते हैं—(१) सुमेरी, (२) मितानी, (३) [illegible], (४) [illegible], (५) जापानी कोरिआई आदि। इनमें कुछ प्राचीन हैं और कुछ अर्वाचीन हैं। इनमें [illegible] एवं जापानी भाषायें विशेष महत्व की हैं। जापानी भाषा [illegible] एवं साहित्य दोनों की दृष्टि से संसार की सर्वोच्च भाषाओं में रखी जाती है।

भारतीय आर्य भाषाओं और ईरानी भाषाओं के प्राचीन स्वरूपों में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि इतिहास में एक ऐसा समय रहा है जिसको हम भारत ईरानी काल कह सकते हैं, और जिस समय एक ऐसी भाषा बोली जाती थी जिससे इन दोनों का विकास हुआ है। इसीलिए इन दोनों वर्गों को इकट्ठा करके आर्य भाषा वर्ग या भारत-ईरानी भाषा वर्ग का नाम प्रायः दिया जाता है। अवेस्ता केवल जरथुस्त्र धर्म की भाषा है। इसके [illegible] कुछ अंश 'गाथा-अवेस्तिक' कही जाने वाली एक बोली में लिखा गया है जो इसकी बोली से अधिक प्राचीन है और वैदिक ऋचाओं की भाषा से बहुत मिलती जुलती है। वेदों के ही समान, इस भाषा अथवा इसमें लिखित रचनाओं का समय निर्धारित करना असम्भव है, किन्तु इतना निश्चित है कि इसके प्राचीनतम अंश की भाषा किसी भी दशा में वेदों से बहुत बाद की नहीं है। अवेस्ता अर्थात् जरथुस्त्रियों के वेद की भाषा का विवेचन करते हुये हम पुरानी ईरानी बोली को, जो ईरान के कीलाक्षर, शिलालेखों में मिलती है तथा जिसे विद्वानों ने केवल प्राचीन फारसी बोली कहा है, उपेक्षा नहीं कर सकते। ये दोनों प्राचीन ईरानी भाषा का क्रमशः पूर्वी और पश्चिमी रूप मानी जाती है। प्राचीन अथवा हखमानी फारसी का अपेक्षाकृत बाद का रूप पहलवी है जो ससानी राजवंश के शासकों के शिलालेखों में सुरक्षित है। इन शिलालेखों में प्राचीनतम शिलालेख अर्तखशतर-इ-पापकान् अथवा अर्दशीर (२२६-२४१) ई० के राज्यकाल का है। पहलवी के इसी रूप में अवेस्ता की टीकाएं लिखी गयी हैं। तीसरी आधुनिक ईरानी है जिसका समय १० वीं शताब्दी ई० से है। इसके अन्तर्गत फारसी, कुर्दिश, अफगान अथवा पश्तो, ओसेटिक, बलूची अथवा बेलोच, गल्चा और कुछ गौण बोलियाँ, जिनमें पामीरी बोलियाँ सम्मिलित हैं, आती हैं। इन तीनों अवस्थाओं का एक दूसरी से वैसा ही सम्बन्ध है जैसा कि वैदिक अथवा प्राचीन संस्कृत

का पाली और प्राकृतों अथवा मध्य-भारतीय तथा वर्तमान भारतीय बोलियों अथवा आधुनिक भारतीय से और भी महत्वपूर्ण बात यह है कि प्राचीन अथवा गाथा अवेस्ता तथा न० अवेस्ता का सम्बन्ध वैदिक तथा लौकिक संस्कृत के सम्बन्ध के ही समान है। संस्कृत से नितान्त भिन्न होने पर भी अवेस्ता उससे कितने घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध है, निम्नलिखित अवतरण से भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है—

तम् अमवन्तम् यजतम्। सुरम दामोहु सविश्तम् मिथ्रम यजै जओथ्रभ्यो।

जिसमें कुछ ध्वनियों को परिवर्तित कर देने पर निम्नलिखित वैदिक रूप बन जाता है—

त अमवन्तं यजतम्। सुरम् धामसु सविष्ठम्। मित्रं यजे होत्राभ्य।

जैकसन एक ने उचित ही कहा है कि 'प्रायः कोई भी संस्कृत शब्द केवल कुछ ध्वनि नियमों का प्रयोग करके अवेस्ता के पर्यायवाची शब्द में अथवा अवेस्ता में परिवर्तित किया जा सकता है।' दो भारत-जर्मनिक भाषाओं में इतनी घनिष्ट समानता केवल इसी शाखा में पायी जाती है। यथा—

सं०	अवे०	ग्री०
अश्वः	aspah	
अश्मन्	asman	abmōn
मातरः	Mātarō	Metēr
पुत्रः	Puprō	Putillus
दारु	dāuru	dōru
भूमिम्	būmim	

भारत-जर्मनिक ə : सं० इ, अवे०। ग्री० और लै० a : सं० पिता, अवे० Pita, ग्री० Pater, लै० Pater; सं० शिष्टे अवे० Sisoit, लै० Castus।

केवल संस्कृत से उदाहरण : स्थितः ग्री० Statōs सं० दुहितर्, ग्री० thugatēr

कभी-कभी अवेस्ता में संस्कृत से मात्रा अथवा गुण में भेद दृष्टिगत होता है :

(क) मात्रा	सं०	अवे०	सं०	अ०
अ,आ	नाना	Nanā	अथर्वा	aθrava
इ,ई	विश्वम्	Vispem	वितस्तिम्	Vitastim

अंत्यम् से पूर्व संस्कृत इ और उ नियमित रूप से अवेस्ता में दीर्घ हो जाते है। पतिम्-Paitim; पितुम्-Pitūm; धासिम्-dabīm. गाथा अवेस्ता में सभी

अन्त्यस्वर दीर्घ हो जाते हैं : अहुर-ahurā, कुत्र-kuθra, अहि-ahi आदि। अपिनिहिति के अन्य उदाहरण[1] भी हैं, किन्तु यहाँ केवल एक और का उल्लेख किया जायेगा। अवेस्ता में संस्कृत संयुक्त स्वरों के अनुरूप निम्नलिखित संयुक्त स्वर मिलते हैं—

ए-aē, एतत्-aētat, वेद-Vaēda, दूरे दूरम्-duraedars, ओ-ao, ओजस्- aojo, प्रोक्तः-praohto, अवेस्ता के कुछ ध्वनि-नियमों का उल्लेख करेंगे, जोकि बहुत महत्वपूर्ण हैं इन्हें अपिनिहिति, आदि स्वरागम तथा मध्य स्वरागम कहा जाता है।

(१) अपिनिहिति अवेस्ता की बहुत ही प्रमुख विशेषता है। इसमें परवर्ती अक्षर में i, ī, e, ē, y अथवा u, v होने पर पहले अक्षर में i अथवा u का आगम हो जाता है : सं० भवति-अवे० bavaiti।

(२) **आदि स्वरागम या आदि अपिनिहिति**—यह भी अपिनिहिति की ही भाँति है। भेद यह है कि आने वाला स्वर आदि में आता है। यह i अथवा u से पूर्व आने वाले r के पूर्व नियमतः आता है—सं० रिणाति-अवे० irinahti, रिष्यति-irisyeiti, रोपयन्ति-urupayeinti।

(३) **मध्य स्वरागम या स्वर भक्ति**—यह ऐसा स्वरागम है, जो दो व्यंजनों के बीच घटित होता है, विशेषतः यदि उन व्यंजनों में एक 'र' हो। अंत्य 'र' के पश्चात् यह नियमतः आता है : सं० वध्र-अवे० vadedra, सं० स्वर्-havare

अवेस्ता की व्यंजन-व्यवस्था उतनी समृद्ध नहीं है, जितनी कि संस्कृत की। अवेस्ता में केवल दो तालव्य, च (c), तथा ज (j) है। मूर्धन्यों का पूर्णतः अभाव है। महाप्राण न तो अघोष है और न सघोष। अनुनासिक व्यंजन संस्कृत की भाँति हैं। अवेस्ता में ऊष्म संस्कृत की तुलना में बहुत अधिक हैं।

संस्कृत अघोष—अवेस्ता में प्रायः वैसे ही रहते हैं, किन्तु यही अघोष, व्यंजन से यदि पूर्व हों, अवेस्ता में संघर्षी में परिवर्तित हो जाते हैं—सं० क्रतुः अवे० hratus, क्षत्रम् hsaθrəm, स्वप्नम् hvapnəm

संस्कृत घोष स्पर्श के स्थान पर अवेस्ता में भी घोष स्पर्श हैं। सं० उपब्द-Av. upabda, दीर्घ-darəga, अवेस्ता के वे घोष भी जो संस्कृत के घोष महाप्राणों को व्यक्त करते हैं, इसी वर्ग में आते हैं।

संस्कृत के घोष महाप्राणों को अवेस्ता में घोष अल्प प्राणों द्वारा प्रकट किया जाता है। भ्राता-brata, भिस् तथा भ्यस्-bya :

संस्कृत म् के लिये अवेस्ता में 'm' आता है, किन्तु संस्कृत न को विभिन्न प्रकार से प्रकट किया गया है। सं० मनः-mananha.

ऊष्म—मूल स् (s) कुछ स्थितियों में वही रहता है, किन्तु सामान्यता अवेस्ता में ह् (h) हो जाता है।

अस्थे–ahe	असुरस्य–ahurahya
सहस्रम्– hazaerem	दस्रः–daere
स्मत्–mat	स्मसि–mahi
किन्तु कस्मै–kahmāi	द्रप्सः–drapsō
मत्स्यः–masyō	दास्व–dasva

शब्द कारक रूपों में अवेस्ता संस्कृत के अनुरूप है। उसमें आठ कारक, तीन वचन तथा तीन लिंग हैं। कारकों का प्रयोग भी प्रायः वही है।

अवेस्ता में भी संस्कृत की भांति, विशेषणों के शब्द-रूप संज्ञाओं की भांति ही चलते हैं। अतः उनका पृथक् विवेचन करने की आवश्यकता नहीं।

संस्कृत की भांति ही अवेस्ता में भी पूर्णांक एवं क्रमांक दोनों है और उनके रूप संज्ञाओं की भांति चलते हैं।

सर्वनाम—अवेस्ता के अधिकांश सर्वनाम संस्कृत सर्वनामों के अनुरूप हैं।

क्रिया रूप—अवेस्ता वाच्य, काल एवं प्रकार या अर्थ (mood) (लेट् (Subjunctive सहित) की दृष्टि से वैदिक संस्कृत के समान है। उनके प्रयोग में भी दोनों में कोई भेद नहीं है। तुमुनन्त (infinitive) एवं कृदन्त रूप भी हैं, जैसा कि होना चाहिये, पुरुष, वचन में भी पूर्ण समानता है। धातुयें संस्कृत की भांति दो वर्गों में विभाजित है: सविकरण (thematic), यदि उनमें स्वर [illegible] (Stem vowel) a (अ) हो; अविकरण (non-thematic) यदि उनमें स्वर 'अ' न हो। संस्कृत की भांति ही दसों गण हैं। अन्य क्रियार्थ भेदों (moods) को छोड़कर हम केवल लेट् (subjunctive) के रूप देंगे—

एक०	बहु०
barāni भेरानि	barāma भेराम
barāhi भेरासि	barapa भेराथ
barāti भरानि	baran भेरान्

अवेस्ता के विधि लिंग (optative) संस्कृत विधि लिंग के पूर्णतया अनुरूप हैं: barōis भरेः, barōit भरेत् इत्यादि।

इन प्रतिनिधि उदाहरणों से दोनो भाषाओं में रूपों की आश्चर्यजनक समानता, बल्कि प्रायः एकरूपता प्रकट हो जावेगी।

प्राचीन संस्कृत और अवेस्ता आर्यभाषायें हैं, जो कम से कम द्वितीय सहस्राब्दि ईसा पूर्व में और बहुत सम्भव है अफगानिस्तान के उत्तर और कैस्पियन सागर के पूर्व में स्थित किसी भूमि भाग में, एक दूसरे से अलग [illegible] उनका अस्तित्व एक भाषा की बोलियों के रूप में रहा होगा [illegible] सभी दृष्टियों से कम से कम भिन्नता रही होगी।

प्राचीन, मध्यकालीन और अर्वाचीन भेद से [illegible] भाषा-वर्ग में निम्नलिखित भाषायें सम्मिलित हैं—

प्राचीन—अवेस्तन (अवेस्ता की भाषा) प्राचीन फारसी

मध्य कालीन मध्यकालीन फारसी या पहलवी [illegible]

अर्वाचीन आधुनिक साहित्यिक फारसी (classical persian)

ओस्सेटिक कुर्दी गालचा तथा पामीर बोलियाँ अफगानी पश्तो प्रादेशिक फारसी बोलियाँ प्रधान फारसी

फारसी भाषा और ईरानी भाषा दोनों का अर्थ एक ही नहीं है। भाषा वैज्ञानिकों के व्यवहार के अनुसार ईरानी भाषा-वर्ग के केवल पश्चिमी भाग का ही नाम फारसी है। वास्तव में ईरान देश के एक पश्चिमी प्रान्त का ही नाम फारिस है, जो भी आजकल प्रायः फारिस शब्द का प्रयोग सारे ईरान के लिये किया जाता है।

उपर्युक्त दृष्टि से ईरानी भाषा-वर्ग के फारसी भाषा-वर्ग और अफगान-भाषा-वर्ग इस प्रकार दो उपभेद भी प्रायः किये जाते हैं।

ऊपर ईरानी भाषा-वर्ग में सम्मिलित भाषाओं को दिखलाते हुये प्राचीन समय में ईरानी भाषा के दो भेद दिखलाये हैं। एक अवेस्तन और दूसरी प्राचीन फारसी। इनमें से अवेस्तन का सम्बन्ध पूर्वीय ईरान से और प्राचीन फारसी का पश्चिमी ईरान से था। पारसी लोगों की मूल-धर्म पुस्तक अवेस्ता (जिसको भूल से जिन्दअवेस्ता भी कहा जाता है) की भाषा के लिये अवेस्तन नाम विद्वानों में प्रचलित है। अवेस्तन भाषा को कोई कोई प्राचीन बैक्ट्रियन भी कहते हैं। इस नाम से यह प्रतीत होता है कि अवेस्तन भाषा बैक्ट्रिया में ही परिमित थी या कम से कम बोली जाती थी, परन्तु यह एक कल्पना मात्र है।

भाषा [illegible] इस लिए अवेस्तन भाषा का महत्व, ईरानी भाषाओं में ही नहीं, किन्तु समस्त भारत-यूरोपीय भाषाओं में बहुत अधिक है। स्वरूप की प्राचीनता की दृष्टि से यह वैदिक भाषा से समानता रखती है। अनेक बातों में इस भाषा में वैदिक भाषा से भी प्राचीनता की झलक अधिक पायी जाती है। अवेस्ता में भाषा की दो अवस्थायें स्पष्टतया प्रतीत होती है। समस्त पुस्तक का कुछ ही भाग, जिसमें गाथायें या गीत है, एक प्राचीनतर भाषा में है। दूसरे भागों की अपेक्षा गाथाओं की भाषा और शैली बहुत कुछ रूखी है। उनमें शब्दों के रूपों की बहुलता है और शब्दावली में भी भेद है। गाथाओं की भाषा की एक विशेषता यह है कि इसमें दीर्घ स्वरों का प्राधान्य है। जैसे—

संस्कृत	गाथाओं की भाषा	पीछे की अवेस्तन
अभि (. पास)	aibī	aiwi
ईहा	ūzhā	ūzhā

गाथाओं की भाषा की अति प्राचीनता इससे स्पष्ट सिद्ध होती है कि यह अवेस्ता के दूसरे भागों की अपेक्षा कहीं अधिक वैदिक भाषा से मिलती-जुलती है।

प्राचीन फारसी—प्राचीन फारसी ईरान देश के पश्चिमी भाग (फारिस प्रदेश) की प्राचीन भाषा थी। इसी को मध्य-कालीन तथा अर्वाचीन फारसी की मातृ भाषा कहनी चाहिए। प्राचीन फारसी कीलकाक्षरों में खुदे हुये अनेक प्राचीन अभिलेखों में पायी जाती है।

अवेस्तन भाषा में जितना प्राचीन साहित्य मिलता है वह प्राचीन फारसी में उपलब्ध लेखों की अपेक्षा बहुत ही अधिक है।

प्राचीन फारसी की वर्ण-माला अवेस्तन की अपेक्षा अधिक सादी है। उदाहरणार्थ ह्रस्व e (ऍ) और o (ऑ) का प्राचीन फारसी में अभाव है; उनके स्थान में संस्कृत के सदृश a (अ) ही देखा जाता है। उदाहरणार्थ—

अवेस्तन	प्राचीन फारसी	संस्कृत
yezi	yadiy	यदि

व्यंजनों के विषय में यह बात उल्लेखनीय है कि प्राचीनतर z (अर्थात् सघोष s), जो अवेस्तन में जैसा का तैसा पाया जाता है, प्राचीन फारसी में d के रूप में परिवर्तित देखा जाता है। उदाहरणार्थ,

सं०	अवे०	प्रा० फा०	अर्वा० फा०
हस्त	zasta	dasta	dast (दस्त)

ईरानी भाषा-वर्ग से सम्बन्ध रखने वाली अन्य प्राचीन भाषाओं का नाममात्र अवशेष है। प्राचीन लेखों में साग्डियाना, जैबुलिस्तान और हिरात आदि की प्राचीन बोलियों का उल्लेख मिलता है। किसी समय साग्डियन (या सुगदी) भाषा मध्य

एशिया में दूर तक प्रचलित थी। इन भाषाओं के विषय में उनके नाम के अतिरिक्त और कुछ विशेष ज्ञान नहीं है। लिशियन, लिसियन और सिदिसिन भाषाओं के विषय में यह निश्चय नहीं कि उनका सम्बन्ध ईरानी भाषा-वर्ग से ही था या नहीं।

मध्यकालीन फारसी या पहलवी—पहलवी एक प्रकार की सेमेटिक लिपि में लिखी जाती थी। इसमें अनेक फारसी शब्दों को प्रकट करने के लिये बहुधा सेमेटिक शब्दों की वर्णानुपूर्वी (या हिज्जे) से ही काम लिया जाता था। उदाहरणार्थ, 'राजाधिराज' इस अर्थ में सेमेटिक 'मल्कान मलिक' शब्द को लिखकर उसका उच्चारण फारसी में पहलवी 'शाहान शाह' या 'शाहन शाह' ही किया जाता था; जैसे अंग्रेजी में e. g. लिखकर उसको for instance ऐसा पढ़ते हैं। अखमानी राजाओं के समय की प्राचीन फारसी की अपेक्षा मध्यकालीन फारसी में अनेक परिवर्तन देखे जाते हैं।

फारसी भाषा के विकास का अन्तिम स्वरूप अर्वाचीन फारसी में पाया जाता है। इसका सबसे पुराना साहित्यिक रूप महाकवि फिरदौसी (९४०-१०२० ई० की भाषा में मिलता है। इस महाकवि के शाहनामा नाम के ग्रन्थ की भाषा में अरबी भाषा का उतना प्रभाव नहीं दीखता जितना अन्य अर्वाचीन फारसी साहित्य में देखा जाता है। धीरे-धीरे अर्वाचीन फारसी पर, विशेषकर साहित्यिक भाषा पर, अरबी भाषा का प्रभाव बढ़ता गया। अनेकानेक अरबी शब्द इसमें सम्मिलित हो गये। इसकी वाक्य रचना तक पर अरबी का प्रभाव दीख पड़ता है। भारतवर्ष में जो फारसी पढ़ने-पढ़ाने में आती है, वह यही अर्वाचीन साहित्यिक फारसी है।

अर्वाचीन फारसी में व्याकरण की दृष्टि से शब्दों के रूपों का भेद मध्यकालीन फारसी की अपेक्षा भी कम है।

प्राचीन फा० या अवेस्तन	पहलवी	अर्वाचीन फा०
mahrka (= मृत्यु)	mark	marg (मर्ग)
hvato (= स्व)	khōt	khod (खुद)
āp (= अप्)	āp	āb (आब)
raucah (= दिन)	rōj	rōz (रोज)

उक्त ईरानी वर्ग का विभाजन प्रदर्शित किया गया है। यहाँ संस्कृत तथा अवेस्ता की तुलना के साथ-साथ विद्यार्थियों के ज्ञान वर्धन हेतु उनके शब्दों की एक विस्तृत तालिका उपस्थित करते हैं—

फारसी लोगों की मूल धर्म-पुस्तक का नाम 'अवेस्ता' है। इसकी भाषा को 'आवेस्तिक' कहते हैं, जैसे वेदों की भाषा को 'वैदिक भाषा'। ईरान का पुराना नाम 'पारसीक' (और 'पारस्य') भी है। 'पारस्य' ही 'पारस' है; जैसे 'आलस्य' से 'आलस'। 'पारस' ही आगे चल कर 'फारस' हो गया और वहाँ की भाषा—'फारसी',

परन्तु जब इस देश का नाम 'पारस' था, तभी कोई बहुत बड़ा विप्लव हुआ और धर्मरक्षार्थ पारसी लोग भागकर इधर भारत चले आए अपना धर्मग्रन्थ 'अवेस्ता' छाती से लगाए हुए, ठीक उसी तरह जैसे देश-विभाजन के समय सिन्ध, पंजाब, बंगाल आदि से हिन्दू लोग भाग आए या इधर खदेड़ दिए गए। ऋग्वेद और अवेस्ता की भावागत समता नीचे दी जाती है—

अवेस्ता

आअत् अओख्त् जरथुश्त्रो नमो हओमाइ
कस थ्वाम् पओइर्यो हओम मश्यो
अस्त्वइथ्याइ हुनूत गएथ्याइ
का अह्माइ अशिश ऋनावि
चित् अह्माइ जसत् आयप्तम्

संस्कृत भाषा—

आत् अवोचत् जरथुस्त्रः । नमः सोमाय ।
कस्त्वां पूर्व्यः सोम मर्त्यः
अस्थन्वत्यै सुनुत गव्यै
का अस्मै आशीः ऋणावि
किम् अस्मै अगच्छत् आसम्

अवेस्ता की गाथा का हिन्दी में यह अर्थ है—

तब जरथुस्त्र ने कहा, नमस्कार हो सोम को। हे सोम, कौन वह पहला मनुष्य था, जिसने शरीरधारी जीवलोक के लिए तुझे निचोड़ा। कौन सी कामना पूर्ण हुई ? क्या इसको मिला ? 'सोम' का 'होम' है: जैसे 'सप्त' का 'हप्त' और हिन्दी में 'दस' का प्रयोग-भेद से 'दह'—'दहला'। हिन्दी का 'पैसा' पंजाब में 'पैहा' हो जाता है।

अवेस्ता के बाद पुरानी फारसी का कोई साहित्य उपलब्ध नहीं। मध्य युग की फारसी का नाम 'पहलवी' है। पहलवी का भी संस्कृत से मेल है। आधुनिक फारसी का पुराना कवि फिरदौसी है, जिसकी फारसी अरबी से बहुत कम प्रभावित है। उसके बाद की फारसी अरबी के प्रभाव में आ गई, परन्तु संस्कृत के 'खर', 'जानु' तथा 'अभ्र' आदि शतशः शब्द आधुनिक फारसी में भी ज्यों के त्यों हैं, केवल उच्चारण में अन्तर है, जिसे प्रकट करने के लिए नीचे बिन्दी लगा देते हैं—'ख़र' आदि। संस्कृत 'नास्ति', फारसी में 'नेस्त' है और 'अस्ति' वहाँ 'अस्त' है। 'पुस्तकं नास्ति' संस्कृत और 'किताब नेस्त' फारसी।

निम्नाङ्कित हम संस्कृत, जिन्दावेस्ता, पर्शियन के शब्दों की एक विस्तृत तालिका देते हैं जिससे उनकी परस्पर समता का ज्ञान पाठकों को भली प्रकार हो सके—

निम्नांकित पारिभाषिक शब्दों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

समीकरण एवं विषमीकरण (५०, ५२, ५७, ६२, ६४, ६५, ६७, ६६ 'Agrason unconditional and conditional phonetic changes. Agra 51, 53, 59, 61, 64, 66) Analogical change in the formation of words, Palatal Law.

सप्तति	हफ्ताइति	हफताद
अशीति	अस्ताइति	हश्ताद
नवति	नवैति	नवद्
शत	शत	सद्
सहस्र	हजङ्र्	हजार

आधुनिक पर्शियन पर अरबी का अधिक प्रभाव है किन्तु प्राचीन पर्शियन संस्कृत तथा अवेस्ता से ही अधिक प्रभावित है कुछ उदाहरण स्पष्टीकरण हेतु दिये जाते हैं—

संस्कृत	पर्शियन	अरबी
पितर	पदर	अबू
मातर	मादर	अम्म
दुहितर	दुख्तर	बिन्त
युवन्	जवान	शाब्ब
अश्व	अस्प	फरस
पाद	पा	क़दम
नव	नौ	जदीद
षट्	शश	सत्त
पञ्चन्	पञ्ज	खम्स
एक	यक	अहद
चतुर	चहार	अर्बअ
सप्तन्	हफ़्त	सबअ
नवन्	नुह	तसअ
दशन्	दह	अशर
शतम्	पद, सद्	मायत्
सहस्र	हज़ार	अलफ़
विंशति	बिस्त	अशून

संहिता । काठक संहिता तथा मैत्रायणी संहिता से वैदिक साहित्य में गरिमामयी गद्य का प्रारम्भ होता है और उसका विशाल स्वरूप ब्राह्मणों में दिखाई देता है। प्राचीन उपनिषदों में भी गरिमामंडित गद्य का ही प्रयोग किया है। लौकिक साहित्य में गद्य का ह्रास होता है। व्याकरण तथा दर्शनशास्त्र के लिए ही गद्य का प्रयोग किया जाता है। इस लौकिक साहित्य में पद्य का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया गया है। ज्योतिष एवं वैद्यक के लिए भी पद्य का प्रयोग किया है। वैदिक साहित्य एवं लौकिक संस्कृत साहित्य की पद्य रचना में पर्याप्त रूप से अन्तर है। वैदिक साहित्य में विशुद्ध 'श्लोक'-गायत्री, त्रिष्टुप तथा जगती आदि का प्रयोग दिखाई देता है परन्तु लौकिक संस्कृत में उपजाति, वंशस्थ, वसन्ततिलका जैसे छोटे बड़े छन्दों का प्रयोग विषय के अनुसार किया गया है। लौकिक संस्कृत साहित्य के छन्दों का आधार यद्यपि वैदिक छन्द है तथापि इनमें लघु गुरु के विन्यास पर विशेष महत्व दिया गया है।

वैदिक व्याकरण की जटिलताएं दृष्टिगोचर नहीं होती हैं। वैदिक साहित्य व्याकरण के नियमों से स्वतन्त्र था। लौकिक साहित्य पाणिनीय व्याकरण के नियमों से बद्ध था। इस लौकिक संस्कृत साहित्य का विशुद्ध रूप प्रस्तुत करने का पाणिनी को श्रेय था लेकिन इस युग के नियमों (व्याकरण सम्बन्धी) की मान्यता उतनी आवश्यक न थी। इसीलिये रामायण, महाभारत, पुराणों आदि में 'आर्ष' प्रयोग दृष्टिगोचर होते है लेकिन धीरे २ अपाणिनीय भाषा को सदोष माना जाने लगा। 'च्युत-संस्कारता' के नित्यदोष माने जाने का यही तात्पर्य है। इस युग में व्याकरण के नियमों से भाषा को बांधकर विशेष रूप से संयत बना दिया गया।

वैदिक साहित्य रूपक प्रधान है, उसमें अमूर्त के लिये मूर्त कल्पना की गई है। ऋग्वेद में उषा का मनोहारी रूप देखने को मिलता है—

> अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
> जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः॥

परन्तु लौकिक साहित्य में 'अतिशयोक्ति' का प्रचुर मात्रा में प्रयोग दिखाई पड़ता है। वैदिक एवं लौकिक संस्कृत साहित्य में तात्विक भेद नहीं हैं। उनमें केवल शैलीगत भेद हैं। वैदिक युग की पुनर्जन्म की धारणा लौकिक साहित्य में विकसित होती है। वैदिक साहित्य में नैसर्गिकता का प्राधान्य था लेकिन लौकिक संस्कृत साहित्य में अलंकारों के प्रयोग की अभिरुचि विशेष रूप से बढ़ने लगी। इसमें कला और शास्त्र का, प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति का, मौलिक कल्पना तथा शास्त्र नैपुण्य का संविधान रचना का मुख्य आधार है। बाह्याकार की दृष्टि से वैदिक साहित्य और लौकिक संस्कृत साहित्य के शब्द निर्माण प्रक्रिया में पार्थक्य है- वैदिक संस्कृत में अकारान्त पु० शब्दों का प्रथमा ब० व० असस और अस् दो प्रत्ययों से बनता है जैसे देवास, ब्राह्मणास, मर्त्यासः आदि परन्तु लौकिक संस्कृत अकारान्त शब्दों में

वैदिक तथा लौकिक संस्कृत का अन्तर

संस्कृत भाषा विश्व की सबसे प्राचीन भाषा है। इसका मूल नाम आर्य भाषा ही था। इसी मूल आर्य भाषा (आदिम भाषा) से ही भारोपीय परिवार की भाषाओं का विकास हुआ इसकी एक शाखा से ग्रीक लैटिन आदि का विकास हुआ दूसरी से भारतीय संस्कृत ईरानी (जिन्दा वेस्ता) का विकास हुआ। आर्य भाषा में पहले प्रकृति प्रत्यय आदि नहीं थे। अतः यह अत्यन्त क्लिष्ट प्रतीत होती थी। देवों की प्रार्थना पर इन्द्र महाराज ने इसे प्रकृति प्रत्यय आदि में विभक्त करके सुलभ सुसंस्कृत किया और तभी से इसका नाम संस्कृत पड़ा। इसका दूसरा नाम देववाणी है। संस्कृत का शाब्दिक अर्थ संस्कार की हुई (सम् + कृ) सर्वसाधारण की बोली से पृथक् करने के लिए भी शुद्ध भाषा का नाम संस्कृत पड़ा। इसका पता वाल्मीकि रामायण में सुन्दर-काण्ड से चलता है। दण्डी ने प्राकृत-भाषा से भेद दिखलाने के लिए संस्कृत का प्रयोग शुद्ध भाषा के लिए किया है—

संस्कृत नाम दैवी वागन्वाख्यात महर्षिभिः।

इस प्रकार प्राकृत आदि से भेद दिखलाने के लिए इस भाषा का नाम संस्कृत पड़ा इसके दो रूप स्पष्टतः परिलक्षित होते हैं—(१) वैदिक संस्कृत, (२) लौकिक संस्कृत। जितनी विभिन्नता होमरिक और लौकिक ग्रीक में मिलती है उतनी ही पृथकता इन दोनों में भी है। इन दोनों भाषाओं के शब्द-विधान, गठन तथा रूपादि में पर्याप्त अन्तर है। वेद भाषा में संहिता तथा ब्राह्मणों की रचना हुई। वाल्मीकि रामायण महाभारत तथा पुराणादि की रचना लोक भाषा (लौकिक संस्कृत) में हुई। इन दोनों भाषाओं की विभिन्नता प्रदर्शित की जाती है—

(१) वैदिक संस्कृत में केवल वर्णवृत्त का ही उपयोग होता है और प्रमुखतः इन छन्दों की संख्या ४६ है जिनके और भी उपभेद हैं। लौकिक संस्कृत में याचिक एवं वर्णवृत्त दोनों का ही प्रयोग होता है और इसकी संख्या बहुत है। वैदिक की तरह सीमित नहीं।

(२) वैदिक भाषा में गायत्री त्रिष्टुप् आदि छन्दों का प्रयोग होता है जो लौकिक में नहीं होता है।

(३) संस्कृत में कुल लकारों की संख्या ११ है जिनमें से लोट् लकार का प्रयोग लौकिक में नहीं है, किन्तु वैदिक में उसका भी प्रयोग है।

(४) वर्तमान काल् में उत्तम पुरुष में बहु वचन का रूप बनाने के लिए वैदिक में 'मसि' प्रत्यय जोड़ा जाता है, यथा मिनी मसि, किन्तु लौकिक में ऐसा नहीं होता है और मिनीमः रूप ही बनता है।

(५) वैदिक भाषा में अकारान्त शब्दों के तृतीया का बहुवचन रूप देवेभि-तथा देवैः दोनों बनते हैं, किन्तु लौकिक में देवैः को ही शुद्ध माना गया है।

(६) अकारान्त नपुंसक शब्दों के बहुवचन का रूप वैदिक भाषा में 'आ' तथा 'आनि' दो प्रत्ययों के योग से निष्पन्न होता है जैसे 'विश्वानि अद्भुता' किन्तु लौकिक में 'अद्भुतानि' रूप ही प्राप्त है।

(७) वैदिक संस्कृत में सन्धि नियम नहीं होता है। तथा समासों की विभक्ति का लोप नहीं होता है, किन्तु लौकिक में यह दोनों बातें होती हैं।

(८) कहीं कहीं पर वैदिक भाषा में समासों के एक अंश का अनेक स्थानों पर लोप दिखाई देता है, जैसे परमे व्योमन् किन्तु लौकिक में परमे व्योमनि या व्योमनि ही होगा।

(९) निमित्तार्थक क्रिया जो 'लिये' आदि के अर्थ में आती है उनमें वेद में कई प्रत्यय होते हैं, जैसे से, असे, तवे, कसे, तवै, अध्यै आदि। किन्तु लौकिक में तुमुन् प्रत्यय ही होता है यथा

वैदिक	लौकिक
गमध्यै	गन्तुम्
दावने	दातुम्
वर्जे — पातुं पातवै पिबध्यै आदि।	पातुम्

(१०) वैदिक भाषा का सम्बन्ध प्रातिशाख्यों से है किन्तु लौकिक में प्रातिशाख्य-नियम लागू नहीं होते हैं।

(११) वैदिक में उच्चारण की दृष्टि से उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ये तीन प्रकार के स्वर होते हैं जबकि लौकिक में ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत होते हैं।

(१२) इसका गद्य भाग छन्द-विधान से युक्त होता है और उसमें स्वाभाविकता की न्यूनता रहती है, किन्तु लौकिक में कृत्रिमता अधिकता से पाई जाती है तथा उसके गद्य-साहित्य में छन्द विधान नहीं होता है।

(१३) वैदिक भाषा में सस्वर पदपाठ का प्रमुख स्थान है जो लौकिक में नहीं होता है।

(१४) वैदिक संस्कृत बहुदेववाद की प्रति पादक है अर्थात् वैदिक संस्कृत में बहुत से देवों का उल्लेख मिलता है किन्तु लौकिक संस्कृत में ब्रह्मा, विष्णु, महेश को ही प्रधानता मिली है। इनके अतिरिक्त देवी और गणेश का भी महत्व है।

(१५) जिन शब्दों के अन्त में 'अ' होता है। ऐसे शब्दों के प्रथमा द्विवचन के रूप बनाने के लिये वैदिक भाषा में पुल्लिंग 'आ' लगाकर बनता है जबकि लौकिक में 'औ' लगता है, यथा अश्विना, (अश्विनौ), उभा=उभौ, राजाना=राजानौ, मन्दसा=मन्दसौ।

(१६) अनेक शब्द जो वैदिक भाषा में पाये जाते हैं पिछली संस्कृत में या तो मिलते ही नहीं या दूसरे अर्थों में प्रयुक्त किये गये हैं। पिछली संस्कृत में जो शब्द नहीं मिलते ऐसे वैदिक शब्दों के कुछ उदाहरण—

दस्म	=	दर्शनीय, सुन्दर
अमूर	=	बुद्धिमान्
मूर	=	मूढ
अमीवा	=	व्याधि, रोग

ऐसे वैदिक शब्दों के उदाहरण जो पिछली संस्कृत में दूसरे अर्थों में आते हैं—

		वैदिक अर्थ	पिछली संस्कृत में अर्थ
अराति	=	शत्रुता; कृपणता	शत्रु
वध	=	कोई भयङ्कर हथियार	मार डालना
मृळीक	=	कृपा, अनुग्रह	शिवजी का नाम
अरि	=	ईश्वर, धार्मिक; शत्रु	शत्रु

वैदिक युग की बोलचाल की संस्कृत, ऋचाओं की संस्कृत से सरल तथा अधिक आधुनिक या विकसित थी। इस बोलचाल की भाषा ने जो पुरानी विभक्तियों एवं रूपों को छोड़ चुकी थी, क्लैसिकल भाषा को प्रभावित करके उसे भी सरस बना दिया। प्राचीन संस्कृत के वे रूप जो बोलचाल की भाषा में नहीं थे, धीरे-धीरे विस्मृत होने लगे, किन्तु केवल इतना ही पर्याप्त उत्तर नहीं माना जा सकता, क्योंकि एक ओर क्लैसिकल भाषा ने उन नाम तथा धातु रूपों को भी सुरक्षित रखा जो बोल-चाल की भाषा में नहीं है और दूसरी ओर बोलचाल की भाषा में देवाग्रों, देवेहि जैसे रूप तथा रूप-श्रेणियाँ हैं, जिनसे उनके पूर्ववर्त्ती रूप देवासः, देवभिः के भी कभी प्रयुक्त होने का अनुमान लगता है, किन्तु ये रूप क्लैसिकल भाषा में नहीं हैं, सभी भाषाएँ जब साहित्यिक हो जाती हैं, तो उनमें नाम रूप तथा धातु रूप दोनों में ही, रूपों को सीमित कर देने, व्यर्थ के दोहरे रूपों को छोड़ देने, एवं अनियमित रूपों को नियमित कर देने की प्रवृत्ति पाई जाती है।

वस्तुतः क्लैसिकल संस्कृत प्राचीनतम वैदिक गद्य का साहित्यिक विकास है। दूसरे शब्दों में यह साहित्यिक वैदिक, जो कि किसी प्राचीन भारत-ईरानी बोली पर आधारित है, का नियमबद्ध रूप है। यह स्वयं एक बोली नहीं, क्योंकि इसमें तथा जनभाषा में बहुत बड़ा भेद है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि क्लैसिकल संस्कृत का प्राचीनतम रूप कभी बोला ही नहीं जाता था। यह भी भाषा थी, एक बोली जाने वाली भाषा, किन्तु केवल विद्यालयों और पंडितों शिक्षितों एवं उच्च वर्गों की। 'निरुक्त' के रचयिता यास्क ने वैदिक संस्कृत तथा अपने समय की संस्कृत में भेद किया है। पहली को उन्होंने 'अन्वध्यायम्', 'दाशतयीषु' जैसे शब्दों द्वारा व्यक्त किया है, और दूसरी को 'भाषा' अथवा बोली जाने वाली भाषा के रूप में। पाणिनि में भी हमें यह बात मिलती है। उन्होंने भी प्रान्तीय रूपों की ओर ध्यान दिलाया है, और वैदिक भाषा, जिसे उन्होंने 'छन्दस्' नाम से अभिहित किया है, से भिन्न अपनी भाषा को 'भाषा' कहा है। कात्यायन तथा पतंजलि ने भी ऐसा ही किया है।

अनुमान [illegible] है [illegible] लौकिक [illegible] था। भाषाओं के [illegible] परिवर्तन हो गई है 'वध' शब्द का अर्थ वेद में 'भयंकर हथियार' से है लौकिक में उसका अर्थ 'मार डालना' हो गया। वैदिक भाषा में स्वरों के भेद के कारण अर्थ भेद हो जाता है जो लौकिक में नहीं हो पाता है, जैसे 'इन्द्रशत्रौ' पद में प्रथम पद पर स्वराघात करने से इन्द्र रूपी शत्रु अर्थात् इन्द्र मारने वाला है, ऐसा अर्थ हो जायेगा किन्तु द्वितीय पद पर स्वराघात करने से वृत्रासुर अर्थ हो जाता है। जैसे नमस्ते में सम्पूर्ण पद में एक ही स्वर माना जाये और न को उदात्त माना जाये तो 'तुम्हें नमस्कार हो' यह अर्थ होगा, किन्तु न का स्वर अलग और 'मस्ते' का अलग हो तो 'मस्तक पर कुछ धारण नहीं किये हुये हैं' यह अर्थ होगा—

यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहत् ।
यः पर्वतान्प्रकुपितां अरम्णात् ॥

अरम्णात् प्रयुक्त हुआ है इसका अर्थ है काँपती और हिलती हुई पृथ्वी तथा कुपित पर्वत का अर्थ है चलता फिरता पहाड़, परन्तु कुछ समय के बाद इन धातुओं का अर्थ संकुचित होकर मानसिक हो गया। इसी प्रकार रम धातु का अर्थ ऋग्वेद में ठिकाने लाना अथवा स्थिर कर देना था किन्तु आज उसका अर्थ रमण करना हो गया है। इस तरह मूल में मूर्त या भौतिक अर्थ रखने वाले शब्दों का बाद में अर्थ संकुचित होकर अमूर्त या मानसिक अर्थ को प्रकट करने वाला हो जाता है। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं।

वैदिक और लौकिक साहित्य का अन्तर

(१) **विषय की दृष्टि से**—वैदिक साहित्य मुख्यतया धर्मप्रधान साहित्य है। देवताओं को लक्ष्य कर यज्ञ-याग का विधान तथा उनकी कमनीय स्तुतियाँ इस साहित्य की विशेषताएँ हैं, परन्तु लौकिक संस्कृत साहित्य, जिसका प्रसार अनेक दिशा में दीख पड़ता है, मुख्यतया लोकवृत्त-प्रधान है। उपनिषदों के प्रभाव से साहित्य में गौरव नैतिक भावना का महान साम्राज्य है। धर्म का वर्णन भी है, परन्तु यह धर्म वैदिक धर्म पर अवलम्बित होने पर भी कई बातों में कुछ भिन्न भी है। ऋग्वेद काल में जिन देवताओं की प्रमुखता थी, अब वे गौण रूप में ही वर्णित पाये जाते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव की उपासना पर ही अधिक महत्व इस युग में दिया गया।

(२) **रचना की दृष्टि से**—वैदिक साहित्य में गद्य की गरिमा स्वीकृत की गई है। तैत्तिरीय संहिता, काठक संहिता, मैत्रायणी संहिता से ही वैदिक गद्य आरम्भ होता है। ब्राह्मणों में गद्य का ही साम्राज्य है, परन्तु लौकिक साहित्य के उदय होते ही गद्य का ह्रास आरम्भ हो जाता है। वैदिक गद्य में जो प्रकार, जो प्रसाद तथा जो सौन्दर्य दीख पड़ता है, वह लौकिक संस्कृत के गद्य में दिखलाई नहीं पड़ता। पद्य की प्रभुता इतनी अधिक बढ़ जाती है कि ज्योतिष और वैद्यक जैसे वैज्ञानिक विषयों का भी वर्णन छन्दोमयी वाणी में ही किया गया है। साहित्यिक गद्य केवल कथात्मक

तथा गद्यकाव्यों में ही दीख पड़ता है। पद्य की रचना जिन छन्दों में की गई हैं। वे छन्द भी वैदिक छन्दों से भिन्न ही है, पुराणों तथा रामायण-महाभारत में 'विशुद्ध' श्लोक का ही विशाल साम्राज्य विराजमान है। वेद में जहाँ गायत्री, त्रिष्टुप् तथा जगती का प्रचलन हैं, वहाँ संस्कृत में उपजाति, वंशस्थ और वसन्ततिलका विराजती है।

(३) **भाषा की दृष्टि से**—इस युग की भाषा के नियामक तथा शोधक महर्षि पाणिनि है जिनकी 'अष्टाध्यायी' ने लौकिक संस्कृत का विशुद्ध रूप प्रस्तुत किया। इस युग के आदिम काल में पाणिनि के निममों की मान्यता उतनी आवश्यक नही थी। इसीलिये रामायण, महाभारत तथा पुराणों में बहुत 'आर्ष' प्रयोग मिलते हैं, जो पाणिनि के निमयों से ठीक नहीं उतरते। वैदिक काल में संस्कृत भाषा व्याकरण के नप-तुले नियमों से जकड़ी हुई नहीं थी, परन्तु इस युग में व्याकरण के नियमों से बंधकर वह विशेष रूप से संयत कर दी गई है।

(४) **आन्तरिक दृष्टि से**—वैदिक साहित्य में रूपक की प्रधानता है। प्रतीक रूप से अनेक अमूर्त भावनाओं की मूर्त्त कल्पना प्रस्तुत की गई है, परन्तु लौकिक साहित्य में अतिशयोक्ति दीख पड़ती है। वैदिक साहित्य में प्रसिद्ध इन्द्रवृत्र-युद्ध अकाल दानव के ऊपर वर्षा विजय का प्रतिनिधि है। पुराणों में भी उसका यही अर्थ है, परन्तु शैली भेद होने से दोनों में पार्थक्य दीख पड़ता है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त इस युग में वैदिक युग से विकसित होकर अत्यन्त आदरणीय माना जाने लगा।

पालि भाषा

जिसे हम आज पालि भाषा कहते हैं वह उसका प्रारम्भिक नाम नही हैं। भाषा विशेष के अर्थ मे पालि शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत नवीन है। कम से कम ई० १३ वीं १४ वीं शताब्दी पूर्व उसका इस अर्थ में प्रयोग नहीं मिलता। पालिशब्द का सबसे पहिला व्यापक प्रयोग हमें बुद्धघोष (चौथी पाँचवी शताब्दी ई०) की 'अट्ठकथाओं" में और उनके "विसुद्धि मग्ग," नामक ग्रन्थ में भी मिलता है। वहाँ भी पालि शब्द भाषा के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ बुद्धवचन या मूल त्रिपिटक के अर्थ म प्रयुक्त हुआ है। यथा "विसुद्धि मग्ग" में "इदं सब्बा करो······अत्थ कथाया आगतम्"·········इमानि ताव पालीयं, अट्ठकथा·····पाठान्तरों का निर्देश करते हुये भी आचार्य धर्म भिक्षु ने "इतिपि पालि" (पाठ) (मूल त्रिपिटिक) के अर्थ में ही हुआ है। आचार्य बुद्धघोष से कुछ ही समय पूर्व उन्होंने ४ शताब्दी में 'दीपवंस' नामक ग्रन्थ में चर्चा की है। उसमे भी पालि शब्द का प्रयोग बुद्ध वचनों—के अर्थ में हुआ है। बुद्धघोष के बाद भी सिंहल में उपर्युक्त दोनों अर्थों में पालि शब्द का प्रयोग होता रहा।

आचार्य धर्मपाल ने (पंचम या ६ठी शताब्दी ई० अपने 'परमात्थ दीपिनि" में पालि पद का प्रयोग मूल त्रिपिटक के अर्थ में ही किया है। यथा—"अयाचितो ततागच्छीति······आगतोतिपि पालि" चूल-वंस में (१३ वीं शताब्दी) पालि शब्द

बुद्ध वचन के अर्थ में है। अट्ठकथा में भिन्न मूल पाठ [illegible] के अर्थ में इसका प्रयोग हुआ यथा "पालि मत्तं इधानीतं" "कथा इध म[illegible] नत्थि" (१३ वीं १४ वीं शताब्दी) में पालि का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। इन महत्वपूर्ण [illegible] शताब्दी ई० से लेकर १४ वी शताब्दी ई० तक पालि शब्द का प्रयोग जिन अर्थों में हुआ है, उसका दिग्दर्शन कराया गया है। त्रिपिटक में पालि शब्द नहीं मिलता। उसी के आधार पर लिखे हुये बुद्धघोष के ग्रन्थो या 'दीपवंश' के पूर्व भी किसी ग्रन्थ मे पालि शब्द का निर्देश नहीं है। तब प्रश्न यह होता है कि बुद्धघोष ने किस परम्परा का आश्रय लेकर पालि शब्द को उन अर्थों में प्रयुक्त किया।

भाषाओं के विकास में ध्वनि रूप और अर्थ के उन विकारों को देखा जाता है जिससे किसी शब्द का इतिहास मालूम पड़ सके, यह पालि शब्द किस शब्द का विकार है, जिसे बुद्धघोष ने बुद्धवचन या मूल "त्रिपिटक" के अर्थ में प्रयोग किया है। इस खोज में विद्वानों ने पालि शब्द की निरुक्ति के विषय में कुछ मत या स्थापनाएं की हैं, जिनमें तीन निम्नलिखित मुख्य हैं—

१—इसमें इस बात को प्रमुखता दी गई है कि बुद्धघोष की अट्ठकथाओं में यह पालि शब्द वचन या मूल त्रिपिटक के अर्थ को प्रकट करता है। अतः इसका मूल रूप में भी कोई ऐसा ही शब्द रहा होगा, जो बुद्ध काल में इसी अर्थ का सूचन करे। इस स्थापना के अनुसार पालि शब्द का प्राचीनतम रूप हमें पर्याय शब्द में मिलता है—यथा "त्रिपिटक" में अनेक बार परियाय शब्द आया है। "को नामो अयं भन्ते (भगवान्) धम्म परियायोति" अथवा "भगवता अनेक परियायेन धम्मो पकासितो" (परियाय = उपदेश) इन स्थलों पर परियाय शब्द का अर्थ स्पष्ट ही बुद्धवचन है। यही शब्द विकृत होकर पलियाय हो गया यथा भाब्रू शिलालेख में (अशोक के) "इमानि भन्ते धम्म पलियायानि" यह पलियाय शब्द पीछे चलकर पालियाय हो गया, फिर इसी का संक्षिप्त रूप पालि होकर बुद्धवचन या मूल त्रिपिटक के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। भिक्षु जगदीश काश्यप ने अपने पालि महाव्याकरण में इस मत की स्थापना बड़ी योग्यता से की है।

२—द्वितीय स्थापना में पालि को पाठ अर्थ की प्रधानता देकर भिक्षु सिद्धार्थ ने अपना मत व्यक्त किया है। उन्होंने अपने ग्रंथ में "पालि भाषा का उद्गम और विकास" में 'पालि' या 'पाठि' का उद्गम मूल संस्कृत के 'पाठ' शब्द से बतलाया है। ब्राह्मण लोग 'वेद वाक्यों' के पाठ के लिए पाठ शब्द का प्रयोग करते थे, जब अनेक ब्राह्मण महाशाल (धनी) बुद्धमत में प्रविष्ट हुए तो उन्होंने बुद्धवचनों के लिए भी पाठ शब्द का प्रयोग आरम्भ कर दिया, क्योंकि वे लोग बुद्ध को मुनि, वेदग वेदान्ती कहते ही थे, जैसे वैदिक परम्परा के अनेक शब्द संहिता, तन्त्र, प्रवचन आदि क्रमशः बौद्ध संघ में आकर 'संहित', 'तन्ति', 'पावचन' होकर प्रयुक्त होने लगे। उसी प्रकार वैदिक अर्थ का पाठ शब्द बौद्ध भिक्षुओं के द्वारा पाठ बन गया, ध्वनि परिवर्तन के नियम के अनुसार 'ठवर्ग पालि एवं प्राकृत में 'ळ' हो ही जाता है। यथा प्रातिशा-

अट्ठ के पच्चर पच्चर एडक एळक पीछे चलकर मिथ्या सादृश्य के आधार पर 'पाळ' का रूप पालि हो गया, भिक्षु सिद्धार्थ के मत में यह पालि शब्द की निरुक्ति है। यद्यपि वैदिक मूर्धन्य: 'ळ' वैदिक ध्वनि अन्तस्थ: 'ल' भिन्न थी, पर भेद न कर सकने के कारण 'ल' हो गया।

उपर्युक्त दोनों मत भाषा विज्ञान की दृष्टि से निर्दोष है। ध्वनि परिवर्तन सम्बन्धी नियमों पर ये दोनों मत खरे उतरते हैं। दोनों ही पालि शब्द का अर्थ बुद्ध-वचन करते है। अत: इन दोनों में परस्पर विरोध नहीं है, परन्तु भिक्षु सिद्धार्थ के मत की निम्नांकित निर्बलता है—

पालि साहित्य में 'पाठ' के स्थान पर कहीं भी 'पाळ' शब्द नहीं मिलता, भिक्षुजी ने भी 'पाठ' के स्थान पर 'पाळ' के प्रयोग का कोई उदाहरण नहीं दिया। बुद्धघोष (४थी, ५वी शताब्दी) के ग्रन्थों में 'पाठ' शब्द का ही प्रयोग मिलता है यथा "इतिपि पाठो"। अत: बुद्धकाल में पाठ के स्थान पर 'पाळ' पद का प्रयोग बतलाना निराधार ही है। ऐतिहासिक दृष्टि से "इतिपि पालि" इसके बाद ही "इतिपि पाठो' लिखना आरम्भ हुआ होगा, पहले नहीं जबकि 'त्रिपिटक' के पठन-पाठन का प्रचार अधिक बढ़ा होगा, तभी पाठ का प्रयोग किया होगा, ऐसा "श्रीमती राइस-डेविड्स" का मत है। ऐतिहासिक परम्परा के अभाव में यह मत प्रामाणिक नहीं है।

भिक्षु जगदीश काश्यप के प्रथम मत में ऐसी कोई कमी नहीं दिखलाई पड़ती। भाब्रू शिलालेख की अद्वितीय साक्षी उनके पक्ष की पुष्टि करती है। 'पेय्याल' और 'पालि' एक ही चीज है। राइस डेविड्स ने इसको परियाय शब्द का मागधी स्वरूप कहा है जो मूल बुद्ध वचन का बोधक है, इन प्रमाणों से प्रथम मत ही मान्य होता है।

३—इनके अतिरिक्त पालि शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में एक तीसरा मत प. विधुशेखर भट्टाचार्य का है। वे उसे पंक्ति अर्थ वाचक बताकर संस्कृत के पालि का पर्यायवाची कहते हैं। प्रसिद्ध पालि कोश "अभिधानप्प दीपिका" (१२वीं शताब्दी ई०) में पालि शब्द का बुद्ध वचन के साथ ही साथ पंक्ति अर्थ भी दिया हुआ है। पालि साहित्य में पंक्ति वाचक पालि शब्द के उदाहरण मिलते हैं यथा 'अम्बपालि" "दन्तपालि"। इसलिए ग्रन्थ की पंक्ति के अर्थ में पालि का प्रयोग मानकर बुद्धघोष से उसकी संगति भी बैठायी गई है। इस मत में भिक्षु जगदीश काश्यप ने तीन कमी बतलाई हैं।

१—त्रिपिटक (प्रथम श० ई० पू०) से पहिले नहीं लिखे गये। अत: पंक्ति अर्थ पालि से सूचित नहीं हो सकता।

२—"उदान पालि" जैसे प्रयोगों में पंक्ति अर्थ करने से कुछ भी अर्थ नहीं बैठता।

इन सब बातों से यह सिद्ध होता है कि बुद्धघोष से पूर्व पालि शब्द का प्रयोग नहीं हुआ और जब पहिले पहल इसका प्रयोग हुआ भी तब भी इसका अर्थ बुद्ध वचन या धर्म ग्रन्थों की मूल पंक्ति ऐसा ही होता था।

२. मागधी निरुक्ति यह भी सीलोन के थेरों का कोरा आविष्कार है, बुद्धघोष का नहीं। कैसे यह मिथ्या बात कि बुद्ध मागधी में उपदेश दिया करते थे फैल गई, यह भी बड़ी मनोरंजक है। यह ठीक है कि कुछ धर्म ग्रन्थों में बुद्ध को मगध का सुधारक कहा गया है। 'अंग' और 'मगध' में बिम्बसार का राज्य था, परन्तु उससे यह सिद्ध नहीं होता कि बुद्ध भाषा के मागधिक रूप का ही प्रयोग करते थे। हमें ज्ञात है कि विनयपिटक में बुद्ध ने "सका निरुक्ति" में उनके अपने उपदेशों को फैलाने का आदेश दिया है और उसे 'छन्दस्' मे परिवर्तित करने से मना किया है। "न भिक्खवे बुद्ध वचनं छन्दसो आरोपेतब्बं", अनुजानामि भिक्खवे सकाय (स्वकाय्) निरुत्तिया बुद्धवचनं परियापुनीतुं।' 'चुल्लवग्ग' बुद्धघोष छन्दस् का अर्थ वैदिक से भिन्न संस्कृत भाषा ऐसा करते हैं तथा 'सका निरुक्ति' का अर्थ मगध में प्रचलित भाषा ऐसा करते हैं, परन्तु यह भी ठीक नहीं है। संस्कृत भाषा पद शब्द भी पीछे गढ़ा गया है, पाणिनि व्याकरण में संस्कृत भाषा के लिए केवल भाषा शब्द का प्रयोग हुआ है और वैदिक भाषा के लिए 'छन्दस्' शब्द का प्रयोग। (पाणिनि ६ ई० पू०) बुद्ध ने भी छन्दस् शब्द का प्रयोग वैदिक भाषा के लिए ही किया था 'सका निरुक्ति' का अर्थ भी मागधिक भाषा नहीं है, क्योंकि बुद्ध जैसे बुद्धिवादी व्यक्ति भला यह कैसे कह सकते थे कि उनके उपदेश केवल मागधिक भाषा में ही किये जायें बुद्ध तो "सम्यग्दिट्ठिक" तथा विभज्यवादी थे। उनके मुँह से यह कहलाना कि केवल मागधी ही शुद्ध भाषा है, उन्हें "मिच्छादिट्ठि" बनाना है। अतः 'सका निरुक्ति' का अर्थ यहाँ पर भिन्न-भिन्न बोलियों वाले भिक्खू अपनी-अपनी बोली में उनके उपदेशों का प्रचार करें छन्दस् (वैदिक-भाषा) में नहीं यही युक्ति युक्त है। बुद्ध की आज्ञा के लिए 'विनयपिटक' स्वयं अधिक प्रामाणिक है अपेक्षाकृत बौद्ध बुद्धघोष के।

डाक्टर बरुआ ने 'मज्झिम निकाय' के एक उद्धरण की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। "न जनपद निरुक्ति नाभि निवेसेय्य" इसका अर्थ यह है कि इन-इन प्रदेशों की बोलियों पर अभिनिवेशन करना। अपितु दूसरे स्थानों में जो नाम प्रचलित हों, भिक्षु उन्हीं-उन्हीं शब्दों का प्रयोग करें, यथा 'पाटि', 'पट्ट', 'पारोप', 'पोण', 'पिसील', 'सटाव' और 'विरथ' आदि सकोरे के पर्यायवाची है। हम लोगों को आजकल जिन्हें पालि भाषा कहना पढ़ाया जाता है वह वास्तव में केश-वादियों की (No changious) वह आदर्श भाषा (Standard language) है, जिसमें बुद्ध धर्म और उनकी व्याख्यायें लिखी गई है और जिसका प्रचार सीलोन बर्मा तथा श्याम में है। बुद्ध धर्म के इतिहास में इस वाद के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं कि बुद्ध धर्म के अन्य सम्प्रदायों ने इसे भाषा स्वीकार नहीं किया। वज्जित के

राइस डेविड्स ने पालि भाषा का आधार कौशल प्रदेश में छठी और सातवीं ई० पू० में बोली जाने वाली भाषा को बतलाया है क्योंकि बुद्ध कौशल प्रदेश के थे। अतः यही कौशल की बोली उनकी मातृभाषा थी, इसी में वे उपदेश दिया करते थे बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद सौ वर्ष के भीतर कौशल प्रदेश में ही प्रचार तथा उनके उपदेशों का संग्रह किया गया था।

९—प्रो० टर्नर भारत में प्रचलित सभी बोलियों के लिये पालि शब्द का प्रयोग मानते हैं जिन बोलियों में हमें अशोक के शिलालेख मिलते हैं। उनके मत में पालि अपने प्राचीनतम रूप में प्राचीन मध्यदेश के शुद्ध रूप में मिलने वाली बोलियों का रूप है, जो उत्तर, पश्चिम तथा पूर्वी बोलियों से प्रभावित है। मौर्यराज्य के प्रभाव से पूर्वी बोलियों का प्रभाव जब अन्य भारतीय आर्य भाषाओं पर पड़ा, तब इस पर भी पड़ा। यह प्रधान रूप से पश्चिमी बोलियों से अधिक मिलती जुलती है, महेन्द्र जो इसे सीलोन ले गये थे और वास्तव में वे उज्जैन से रहे थे।

१०—आर० ओ० फ्रेंक पालि का उद्गम स्थल विन्ध्य के मध्य और पश्चिमी प्रदेश को मानते हैं। क्योंकि पालि का गिरनार शिलालेख से सर्वाधिक साम्य है। अतः पालि उत्तर-भारत के पूर्व के भाग की भाषा नहीं हो सकती। उत्तर-पश्चिमी भाग के खरोष्ठी लेखों से उसमें समानताएं भी हैं और असमानताएं भी। पालि दक्षिणी देशों के लेखों की भाषा से भी भिन्न है। अधिकतर उसका साम्य मध्य भाग के पश्चिमी भाग के लेखों से है। यद्यपि यहाँ भी कुछ असमानताएं हैं। अतः पालि का उद्गम स्थान विन्ध्य के मध्य और पश्चिमी भाग का प्रदेश है।

११—स्टेन कोनो—विन्ध्य प्रदेश पालि भाषा का उद्गम स्थल है। क्योंकि पैशाचिक प्राकृत से उसका अधिक साम्य है। पैशाची प्राकृत विन्ध्य प्रदेश में उज्जयिनी के आस-पास बोली जाती थी, परन्तु पैशाची सम्बन्धी यह मत भाषा शास्त्रविद् ग्रियर्सन से नहीं मिलता, उनके अनुसार पैशाची प्राकृत केकय-देश और पूर्वी गान्धार की बोली थी जो अधिक युक्ति युक्त माना गया है।

१२—ई० मूलर—कलिंग ही पालि का उद्गम स्थान है, क्योंकि यहीं से सबसे पहले पहल लंका जाना और वहाँ बसना अधिक संगत मालूम पड़ता है।

१३—बी० सी० लॉ—हमारी सम्मति में पालि भारतीय प्राकृत बोलियों में से किसी पश्चिमी रूप पर आधारित है। विशेष करके उस बोली पर जो अशोक के गिरनार के शिलालेख में अंकित है और यह कुछ शौरसेनी प्राकृत से भी मिलती है जिसका रूप व्याकरण कविताओं में मिलता है। पालि ग्रन्थों की परीक्षा से यह मागधी से प्रभावित सिद्ध नहीं होती (१) "सुकटे दुकटे जीवे सयमे", (२) "अत्थि अत्तकारे-अत्थि परकारे नत्थि पुरिसकारे" (दीर्घ निकाय) आदि के जो उदाहरण इसे मागधी से प्रभावित सिद्ध करने के लिये दिये जाते हैं उनसे पालि के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता, क्योंकि यह सभी उदाहरण तत्कालीन सम-सामयिक अन्य प्रचारकों के कथनों के रूप में हैं, जैसे उदाहरण के:

है इसीलिए म् को अनुस्वार और विसर्गों को 'ओ' संस्कृत में जो शब्द जिस श्रेणी में चलता था, पालि में भी वह उसी श्रेणी में चलता था। 'पद' नपुंसकवर्ग में और 'वर्ग' पुंवर्ग में। यही पुंवर्गीय चिह्न 'ओ' आगे चलते-चलते ब्रजभाषा और राजस्थानी आदि में एक स्वतन्त्र पुंविभक्ति के रूप में प्रकट हुआ, परन्तु संस्कृत तद्रूप शब्दों में नहीं, पालि में विसर्गों की जगह 'ओ' चलता था—वर्गः <'वग्गो'।

मनोपुब्बङ्गमाधम्मा मनोसेट्ठा मनोमया
मनसा च पदुट्ठेन भासति वा करोति वा।

संस्कृत छाया—

मनः पूर्वङ्गमा धम्मा मनः श्रेष्ठा मनोमयाः
मनसा चेत् प्रदुष्टेन भाषते वा करोति वा।

'अ' के अनन्तर विसर्गों को 'ओ' है सर्वत्र। संस्कृत में 'मनः पूर्वम्' और पालि में 'मनोपुब्ब'। पद के अन्त में ही 'म्' को अनुस्वार होता था, अन्यत्र परसवर्ण—'पुब्बङ्गमा' बहुवचन में 'आ' से परे 'ओ' नहीं, विसर्गों का लोप—'मनोमया'। 'चेत्' का 'च' रह गया है, अन्त्य व्यंजन (त्) उड़ गया है। 'ष' को 'स' हो गया है—'भासति'। 'आत्मनेपद' की झंझट भी दूर; जैसे 'गच्छति', उसी तरह 'भासति'। संस्कृत में 'भाषते' होता है।

स्पष्ट है कि 'लौकिक संस्कृत' से यह जनभाषा (पालि) बहुत दूर न हटी थी—

इध मोदति पेच्च मोदति
कतपुञ्ञो उभयत्थ मोदति।
सो मोदति सो पमोदति
दिस्वा कम्मविसुद्धिमत्तनो।

संस्कृत छाया—

इह मोदते, प्रेत्य मोदते,
कृतपुण्य उभयत्र मोदते।
स मोदते, स प्रमोदते,
दृष्ट्वा कर्मविशुद्धिमात्मनः॥

पालि में 'इध' है और संस्कृत में 'इह' है। ऐसा जान पड़ता है कि 'मूलभाषा' में 'इध' ही था। संस्कृत में 'ध' के 'द' अंश का लोप करके 'इह'। हिन्दी ने कदाचित् दोनों से काम लिया है। 'इह' से 'इहाँ' और इसके वजन पर 'उहाँ'-'इहाँ-उहाँ' 'दुइ बालक देखे अवधी'—'मानस'। 'इहाँ' की अपेक्षा दूर के लिए 'उहाँ'। 'इ' से आगे का स्वर 'उ' है। 'इ'-'उ' को 'य'-'व' करके राष्ट्रभाषा में—'यहाँ'-'वहाँ'।

हिन्दी का 'इधर' पालि के 'इध' से जान पड़ता है; जैसे मधु <मधुर संस्कृत। 'इधर' के वजन पर ही 'उधर' दूर के लिए। पंजाबी का 'इत्थे' भी ('यहाँ' के अर्थ में) पालि के 'इध' से ही जान पड़ता है।

करना है । दक्षिण में प्राकृत अधिक लम्बे अरसे तक प्रयोग में रही और चौथी तथा पांचवीं सदी ई० तक संस्कृत के द्वारा पूरी तरह नहीं हटाई गई थी । अंत में प्राकृत का प्रयोग बिल्कुल टूट चला और गुप्तकाल से मुस्लिम आक्रमणों तक संस्कृत प्राय. अशुद्ध संस्कृत एकमात्र प्रयोग में बनी रही ।

आरम्भिक बौद्ध धर्मग्रंथ पूरी तरह मध्य भारतीय आर्य भाषा में थे । ई० सदी के आरम्भ के आस-पास एक परिवर्तन हुआ और उत्तरी बौद्धों ने इसके बजाय संस्कृत को अपना लिया । अश्वघोष (१०० ई० ल०) अलंकृत संस्कृत के अधिपति हैं और उनके द्वारा इस भाषा का, उपदेशात्मक प्रचार के माध्यम के रूप मे चुना जाना, इस समय संस्कृत के द्वारा प्राप्त अभिवृद्धि का संकेत करता है । यहाँ भी हम पता चलता है कि संस्कृत का आधिपत्य सर्वप्रथम उत्तर मे स्थापित हुआ । दक्षिण भारत तथा लंका के थेरवादी पालि के प्रति निष्ठावान् रहे ।

बौद्धों की अपेक्षा जैन परिवर्तन करने में अधिक धीमे थे । भारतीय सम्प्रदायों मे ये सबसे रूढ़िप्रिय थे और श्वेताम्बरों के वर्तमान सिद्धान्त ग्रंथों के अंतिम रूप निर्णय (५२६ ई० मे बलभी की परिषद) के समय तक वे पूरी तरह प्राकृत कर ही प्रयोग करते थे, किन्तु वे भी परवर्ती युग में संस्कृत के प्रयोग की ओर झुक पड़े । उस समय संस्कृत के अलावा उन्होंने प्राकृत को भी ध्यानपूर्वक समृद्ध बनाना शुरू किया जबकि अन्य साहित्यिक क्षेत्रों में परम्परागत प्राकृत, साहित्यिक अभ्यास की अपेक्षा कुछ अधिक क्षेत्रों में प्रयुक्त हो रही थी ।

काव्य साहित्य में सातवाहन वंश तथा उनके अनुयायियों के यहाँ महाराष्ट्री प्राकृत मे मुक्तक काव्य की एक सक्रिय परम्परा विद्यमान थी । जिसके कतिपय अंश हाल के संग्रह में सुरक्षित हैं । इसके साथ आरंभिक युग के महत्त्वपूर्ण काव्य-ग्रंथ संस्कृत में मौजूद थे । भारत के साहित्यिक इतिहास में महाभारत तथा रामायण का वह महत्वपूर्ण स्थान है जिसे अब तक प्राकृत का कोई भी ग्रंथ नहीं पहुँच सका है और ये उस समय की रचनायें हैं जब शिलालेखों के आधार पर दैनंदिन व्यवहार में प्राकृत भाषा संस्कृत पर हावी हो गई थी ।

संस्कृत तथा प्राकृत का परस्पर सम्बन्ध शास्त्रीय संस्कृत के युग में संस्कृत नाटक-साहित्य के द्वारा अच्छी तरह निदर्शित किया गया है । यहाँ एक परम्परा पायी जाती है कि कतिपय पात्र संस्कृत बोलते हैं और दूसरे प्राकृत और नाटक का यह प्रयोग उस समय की वास्तविक व्यवहार की स्थिति को निःसन्देह अच्छी तरह उपस्थित करता है । संस्कृत का प्रयोग खास तौर पर समाज के अभिजात वर्ग, राजाओं, मन्त्रियों, शिक्षित ब्राह्मणों आदि तक संकुचित रूप में सीमित था । स्त्रियाँ कतिपय अपवादों के अलावा प्राकृत बोलती थीं और इसी तरह बच्चे भी, यह तथ्य इस बात का संकेत करता है कि यह प्रत्येक व्यक्ति की प्राथमिक भाषा थी । इतना ही नहीं, प्राकृत केवल निम्न वर्ग के लोगों द्वारा ही नहीं, बल्कि व्यापारियों, श्रेष्ठियों को

साथ संस्कृत, गाथा, पालि तथा प्राकृत के शब्दों की विस्तृत सूची देते हैं—

संस्कृत	गाथा	पालि	प्राकृत
स्त्री	इस्त्री	इत्थी	इत्थी
तुष्टि	—	तुट्ठि	तुट्ठि
दुष्ट	दुत्थ	दुट्ठ	दुट्ठ
निष्ठुर	नित्थुर	निट्ठुर	निट्ठुर
मृत्तिका	मत्तिका	मत्तिका	मट्टिआ
ऋतु	—	उतु	रिदु
गर्भ	गब्भ	गब्भ	गब्भ
मार्ग	मग्ग	मग्ग	मग्ग
अर्थम्	अत्थम्	अत्थम्	अत्थम्
अर्ध	अद्ध	अद्ध, अड्ढ	अद्ध
धर्म	धम्म	धम्म	धम्म
वर्ण	—	वण्ण	वण्ण
निर्वाण	निव्वाण	निब्बान	निव्वाण
दर्प	दप्प	दप्प	दप्प
चन्द्र	—	चन्द	चन्द
ग्रन्थि	—	गण्ठि	गण्ठि
भ्राता	भाता	भाता	भाआ
तत्काल	—	तक्काल	तक्काल
निद्रा	—	निद्दा	णिद्दा
वक्र	—	वङ्क	वक्क
पुत्र	पुत्त	पुत्त	पुत्त
प्राण	—	पाण	पाण
समुद्र	—	समुद्द	समुद्द
विद्युत	विद्यु	विज्जु, विज्जुता	विज्जु
उपाध्याय	—	उपज्झ	ओज्झाअ
हस्ति	हत्थि	हत्थि	हत्थि
स्थान	—	ठान	ठाण
कृष्ण	कन्ह	कण्ह	किसण
मोक्ष	मोक्ख	मोक्ख	मोक्ख
दुग्ध	दुग्ध	दुद्ध	दुद्ध, दुद
मयूर	मऊर	मोर	मोर

संस्कृत	प्राकृत	हिन्दी
क्षेत्र	खेत्त	खेत
वत्स	वच्छ	बच्चा
लवणम्	लोणम्	लोन (लोन)
वणिक्	वणिओ	बनिया
शृगाल	सालअ	साला
स्तम्भ	खम्भो	खम्भा
सूची	सूई	सूई
दुहिता	धीआ	धीह
सूर्यः	सुज्जो	सूरज
निद्रा	णिद्दा	नींद
अहम्	हम्, हँइ	मैं, हम

भारतीय भाषाओं को प्राचीन, मध्य उत्तर और वर्तमान भाषा-काल में विभक्त किया जाता है।

(१) प्राचीन भारतीय भाषा काल (ईसवी पूर्व से लेकर ५०० ईसवी तक)

(२) मध्यकालीन भाषाकाल (५०० ईसवी से लेकर १२०० ईसवी तक)

(३) उत्तरकालीन भाषा काल (१२०० ईसवी से १७०० इसवी तक)

(४) वर्तमान भाषा काल (१७०० ईसवी से लेकर आज तक)

प्रथम काल में वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि की वैदिक संस्कृत और काव्य की संस्कृत आती है। मध्यकाल के प्रथम भाग में पालि और अर्ध मागधी प्रसिद्ध रही। मध्यकाल के दूसरे भाग में पैशाची, खोतानी, केकय, खश, मागधी, लाटी, शौरसेनी, अर्ध मागधी, मागधी, महाराष्ट्री और नागर प्राकृतें आती हैं। तृतीय उत्तर काल में सब अपभ्रंश भाषायें आती हैं और चतुर्थ वर्तमान काल में आजकल की सब देशी भाषायें आती हैं। प्राकृत को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है:—(क) प्राचीन प्राकृत या पाली, (ख) मध्यकालीन प्राकृत, (ग) परकालीन प्राकृत या अपभ्रंश।

(क) प्राचीन प्राकृत में इनका संग्रह है-तृतीय शताब्दी ई॰ पूर्व से द्वितीय शताब्दी ई० तक के शिलालेख, पाली बौद्ध ग्रन्थ महावंश, जातक आदि, प्राचीन जैन सूत्रों की भाषा, प्रारम्भिक नाटकों की भाषा जैसे—अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत, जिसके अवशेष मध्य एशिया में पाये गये हैं।

(ख) मध्यकालीन प्राकृत में इन प्राकृतों का संग्रह होता है—महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, परकालीन जैन ग्रन्थों की भाषा अर्ध मागधी जैन माहाराष्ट्री और जैन शौरसेनी, पैशाची।

की प्रेत भूत भाषा था इसमें लिखा हुआ गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' आज उसके अनूदित रूप नेपाल वास्तव्य बुद्ध स्वामी (८ वीं० श०) कृत 'बृहत्कथाश्लोक-संग्रह', काश्मीर देशीय क्षेमेन्द्र (११००) कृत 'बृहत्कथा मंजरी' और दूसरे काश्मीर देशीय सोमदेव (११००) कृत 'कथा-सरित्सागर' के रूप में उपलब्ध होते हैं।

आवंतिक प्राकृत—इसका दूसरा नाम भूत-भाषा या चूलिका पैशाची था और यह अवन्ती (उज्जैन), पारियात्र (बेतवा तथा चंबल का दोआब) और दशपुर (मंदसौर) की लोकभाषा थी। अपभ्रंश किसी देशविशेष की लोकभाषा न होकर उसका प्रचार प्राय: सर्वत्र था। मागधी से लेकर आवंतिक तक जितनी भी प्राकृत हैं उन्हीं का बिगड़ा हुआ मिश्रित रूप अपभ्रंश है। हेमचन्द्र के व्याकरण-ग्रन्थ में अपभ्रंश के १७५ भेद और उदाहरण गिनाये गये है जिससे उसकी व्यापकता और समृद्धि का पता चलता है। भारत में सर्वत्र उसका प्रचार था। चारणों और भाटों की डिंगल भाषा और पुरानी हिन्दी की जन्मदात्री भाषा अपभ्रंश ही है। धनपाल की दसवीं श० ई० में रचित 'भविसयत्त कहा' अपभ्रंश का प्रथम वृहद् ग्रन्थ है। अपभ्रंश के साहित्यिक रूप कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक से लेकर नाथ-सम्प्रदाय के ग्रन्थों और विद्यापति आदि कुछ हिन्दी के कवियों की रचनाओं तक में 'अवहट्ठ' रूप से मिलते हैं। 'प्राकृत-सर्वस्व' के लेखक मारकण्डेय ने अपभ्रंश के तीन भाग किये हैं—नागर, उपनागर और व्राचड़। इनमें से नागर तो गुजरात के नागर ब्राह्मणों की भाषा थी जिसे हेमचन्द्र ने शौरसेनी प्राकृत से निकला हुआ बताया है। अपभ्रंश भाषाओं में अकारान्त शब्द सब उकारान्त हो गये, दो स्वरों के बीच का 'म' भी 'व' हो गया और उसका अनुनासिक उसके पूर्व वर्ण पर चढ़ गया, अनुनासिक स्वर बढ़ने लगे, काल और कारक की क्रिया और संज्ञा के रूप कम हो गये, कविता में तुक का प्रयोग होने लगा और बाहर से भी शब्द लिए जाने लगे। हिन्दी (ब्रज-अवधी) का उद्गम सीधे संस्कृत से हुआ और यदि उसकी कोई पूर्वगामिनी अपभ्रंश रही भी हो तो वह मध्य देशीय अपभ्रंश रही होगी, जिसकी गणना कृष्ण पंडित की प्राकृत-चन्द्रिका में इस प्रकार २७ अपभ्रंशों में की गई है—

> व्राचण्डो लाटवैदर्भावुपनागर-नागरौ।
> बार्बरा वन्त्य पांचाल टाक्क-मालव-कैकयाः॥
> गौडौड्र दैव-पाश्चात्य-पांड्य-कौन्तल-सैंहलाः।
> कालिंग प्राच्य कर्णाटिकाञ्च्यद्राविड-गौर्जराः॥
> आभीरो मध्य देशीयः सूक्ष्म भेद-व्यवस्थिताः।
> सप्त विंशत्यपभ्रंशाः वैडालादि-प्रभेदतः॥

अपभ्रंश शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग पतञ्जलि के महाभाष्य में ईसा से लगभग २०० वर्ष पूर्व हुआ है। महाभाष्य में लिखा है—

अल्पीयांसः शब्दाः भूयांसोऽपशब्दाः। एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः—तद्यथा एकस्य गो शब्दस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका इत्येवादयो शब्दाः।

कदम्ब	कर्लंब, कम्रंब	कदम
चिकुर	चिदुर	चिकुर
वृंदावन	वंदावन	वृन्दावन

उपर्युक्त संस्कृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी के शब्दों की तुलनात्मक तालिका प्रस्तुत की गई है।

भारतीय आधुनिक आर्य भाषाओं का वर्गीकरण

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में से कुछ भाषाएँ प्राचीन काल में आये हुए आर्यों की भाषाओं से सम्बन्ध रखती हैं जो आज भी मध्य देश में व्याप्त है और कुछ पीछे मे आये हुए आर्यों की भाषाओं से सम्बन्धित हैं। इसको आधार मानकर ग्रियर्सन महोदय ने भारत की आधुनिक आर्य भाषाओं को दो भागो में विभाजित किया। उनमें एक विभाग की भाषाएँ भारतवर्ष के मध्य देश मे बोली जाती है जिसका नाम ग्रियर्सन ने अंतरंग रक्खा, और द्वितीय विभाग की भाषाएँ मध्यदेश के चारों के चारों ओर बोली जाती हैं, जिनका नाम बहिरंग रक्खा। गुजरात प्रदेश की भाषाओं का सम्बन्ध बहिरंग की भाषाओ से न होकर अंतरंग की भाषाओं से है। उन अंतरंग और बहिरंग भाषाओं की बिभिन्नतायें कई बातों से पूर्ण स्पष्ट हो जाती है। सबसे पहली बात तो यह है कि इन दोनों भाषाओ के उच्चारण में बहुत अन्तर है। सबका उच्चारण बहिरंग भाषाओं के बोलने वाले मूर्धन्य 'ष' या तालव्य 'श' की तरह करते हैं, किन्तु अतरंग भाषाओं के भाषी शुद्ध उच्चारण करते हैं। द्वितीय बात यह है कि काश्मीर, पंजाब, सिंध आदि पश्चिमी प्रदेशों की भाषाओं मे 'स' का 'ह' उच्चारण है, जैसे 'सप्त' के स्थान में 'हफ्त' पंजाबी और सिंधी में 'कोस' का 'कोह' हो जाता है। दोनों की संज्ञाओं के रूपों में भी अंतर हो गया है। अंतरंग भाषाओं के मूल प्रत्यय नष्ट हो चुके हैं और उनके स्थान पर विभक्तियाँ जोड़ी जाती हैं, जैसे ने, को, से आदि। भाषा-शास्त्र के अनुसार मात्राएँ पहले वियोगावस्था मे रहती हैं, और फिर विकास को प्राप्त करती हुई संयोगावस्था को पहुँचती हैं। इस प्रकार सभी अंतरंग भाषाएँ वियोगावस्था में हैं और बहिरग भाषाएं संयोगावस्था को प्राप्त हो चुकी है। इन दोनों विभाग की भाषाओं में एक और भेद है। अंतरग भाषाओं में सभी पुरुषों में इन क्रियाओं का रूप एक सा रहता है, जैसे हिन्दी मे गया, वह गया, तू गया। इनमें सबमें गया, समान रूप से उपस्थित है, किन्तु में गैलों से ही मैं गया से वह गया था विदित होता है किन्तु उपर्युक्त जो भेद दोनों भाषाओं में दिखलाये गये हैं : वे पूर्ण रूप से उचित नहीं हैं क्योंकि केवल बहिरग भाषाओं में ही नहीं मिलता परन्तु अंतरंग माने जाने वाली हिन्दी में भी इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं।

इन्हीं बहिरंग भाषाओं में भी स का प्रयोग मिलता है यथा [illegible] करेंसी आदि। नीचे हम भारतीय आधुनिक आर्य भाषाओं के अंतरंग और बहिरंग वर्गीकरण पर प्रकाश डालते हैं—

अपने भाषा सर्वे में भाषातत्त्व के आधार पर ग्रियर्सन महोदय ने भारतीय आधुनिक आर्य भाषाओं को तीन उपशाखाओं में विभाजित किया है। यह वर्गीकरण भाषाओं के व्याकरण तथा उच्चारण सम्बन्धी दृष्टिकोण पर आधारित है, इसके अनुसार बाहरी उपशाखा की भाषाओं में व्याकरण सम्बन्धी और उच्चारण सम्बन्धी साम्य पाया जाता है जो उन्हें भीतरी उपशाखा की भाषाओं से अलग करता है, जैसे भीतरी उपशाखा के 'स' का उच्चारण पूर्वी समुदाय की बंगाली आदि में तथा पश्चिमी वर्ग की भाषाओं में 'ह' हो जाता है। अंतरंग भाषाओं में [illegible] का अलग अस्तित्व है, इसका हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं। निम्नांकित चित्र से यह वर्गीकरण स्पष्ट हो जायेगा—

(१) अंतरंग, (२) बहिरंग, (३) मध्यवर्ती।

A—बहिरंग उपशाखा—

(अ) पश्चिमोत्तरी समुदाय—

(१) लहँदा (२) सिंधी।

(आ) दक्षिणी वर्ग—

(३) मराठी।

(इ) पूर्वी वर्ग—

(४) आसामी, (५) बंगाली, (६) उड़िया, (७) बिहारी।

B—मध्यवर्ती उपशाखा—

(ई) बीच का समुदाय—

(८) पूर्वी हिन्दी।

C—अंतरंग उपशाखा—

(उ) अन्दर का समुदाय—

(९) पश्चिमी हिन्दी, (१०) पंजाबी, (११) गुजराती, (१२) भीली (१३) खानदेशी, (१४) राजस्थानी।

(ऊ) पहाड़ी समुदाय—

(१५) पूर्वी पहाड़ी, (१६) केन्द्रवर्ती पहाड़ी, (१७) पश्चिमी पहाड़ी।

इस प्रकार कुल १७ भाषाओं को ६ वर्गों तथा तीन उपशाखाओं में विभक्त किया है, किन्तु ग्रियर्सन महोदय के वर्गीकरण को उचित न मानते हुए डा० सुनीति कुमार चटर्जी ने लिखा है कि सुदूर पश्चिम और पूर्व की भाषाओं को एक साथ नहीं रखा जा सकता है। उसके लिये उन्होंने पर्याप्त प्रमाण भी दिये हैं और उन्होंने भाषाओं का वर्गीकरण नीचे लिखे ढंग से दिया है—

(क) उदीच्य वर्ग—
(१) सिंधी, (२) लहंदा, पंजाबी।

(ख) प्रतीच्य वर्ग—
(४) गुजराती, (५) राजस्थानी।

(ग) मध्य देशीय—
(६) पश्चिमी हिन्दी।

(घ) प्राच्य वर्ग—
(७) पूर्वी हिन्दी, (८) बिहारी, (९) उड़िया, (१०) बंगला, (११) आसामी।

(ङ) दक्षिणी वर्ग—
(१२) मराठी।

पहाड़ी भाषाओं को चटर्जी ने राजस्थानी का रूपांतर माना है। वह उनका मूलाधार 'पैशाची', 'दर्द' या 'खस' प्राकृत को मानते हैं जो मध्यकाल में राजस्थान की प्राकृत तथा अपभ्रंश से प्रभावित हो गयी थी, किन्तु वास्तव में निश्चित रूप में इन भाषाओं को किसी एक विशेष वर्ग में नहीं रक्खा जा सकता है।

इस प्रकार एक अंतरंग और बहिरंग के भेद को ठीक मानने वाला है और दूसरा इसका विरोधी है, किन्तु डाक्टर चटर्जी का वर्गीकरण सरल तथा स्वाभाविक है क्योंकि मध्य देशीय भाषा ही प्राचीन काल से राष्ट्रभाषा होती चली आयी है। अतः इसी को केन्द्र मानकर वर्गीकरण करेंगे। ग्रियर्सन ने स्वयं अपने प्रथम विभाजन में संशोधन किया और हिन्दी को मध्य में मानकर उनका वर्णन किया है। चटर्जी महोदय के वर्गीकरण को आधार मानकर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का स्वाभाविक वर्गीकरण निम्न रीति से किया जा सकता है। ग्रियर्सन के संशोधित वर्गीकरण से उसका बहुत कुछ साम्य है—

(च) उदीच्य (उत्तरी)—
(१) सिंधी, (२) लहंदा, (३) पंजाबी

(छ) प्रतीच्य—
(४) गुजराती

(ज) मध्य देशीय—
(५) राजस्थानी, (६) पश्चिमी हिन्दी, (७) पूर्वी हिन्दी, (८) बिहारी, (९) पहाड़ी।

(झ) प्राच्य (पूर्वीय)—
(१०) उड़िया, (११) बंगाली, (१२) आसामी।

(ञ) दाक्षिणात्य—
(१३) मराठी।

भीली गुजराती में और खानदेशी राजस्थानी में अंतर्भूत हो जाती है।

[illegible] लिपि का ही काम रूप में लाया जाता है, किन्तु छपाई देवनागरी लिपि में ही होती है।

(५) गुजराती—यह भाषा गुजरात बड़ौदा तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों में बोली जाती है। इसका साहित्य उत्तम अवस्था में है, पश्चिमी भारत में यह व्यवसाय की भाषा है। गुजराती और राजस्थानी का वास्तव में इतना घनिष्ट संबंध है कि दोनों को एक ही भाषा की विभाषाएँ माना जा सकता है। गुजराती की लिपि कैथी से मिलती-जुलती देवनागरी का ही बिगड़ा हुआ रूप है। भीली और खानदेशी बोलियों का गुजराती से बहुत संपर्क है। विद्वानों का मत है कि यह भाषा प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी से १६वीं शताब्दी में पृथक हुई है।

(६) पश्चिमी हिन्दी—यह मध्य देश की भाषा है जिसे प्राचीन काल में अन्तर्वेद के नाम से पुकारा गया है। इस साहित्यिक हिन्दी की उत्पत्ति मेरठ, बिजनौर के निकट बोली जाने वाली खड़ी बोली से ही हुई है। इसके अंतर्गत पाँच प्रमुख बोलियां हैं—(१) खड़ी बोली, (२) बांगरू, (३) व्रजभाषा, (४) कन्नौजी, (५) बुंदेली। इसकी उत्पत्ति शौरसेनी अपभ्रंश से मानी जाती है। मध्य काल का सम्पूर्ण साहित्य प्रायः व्रजभाषा में ही मिलता है। व्रजभाषा और अवधी आदि से भेद दिखाने के लिए आधुनिक साहित्यिक हिन्दी को 'खड़ी बोली' के नाम से पुकारा जाता है।

पूर्वी हिन्दी—इसे हिन्दी का पूर्वी विस्तार कह सकते हैं। इसका योग पश्चिमी हिन्दी और बिहारी का मध्य प्रदेश है। जिसमें अवध प्रान्त, इलाहाबाद, कानपुर, जौनपुर शामिल हैं। इसमें बहिरंग भाषाओं के अधिक लक्षण पाये जाते हैं। इसकी प्रमुख तीन बोलियां हैं—(१) अवधी, (२) बघेली और (३) छत्तीस गढ़ी। पूर्वी हिन्दी की उत्पत्ति अर्ध मागधी से मानी जाती है। साहित्यिक और धार्मिक दृष्टि से अर्ध मागधी भाषा का सदा से ऊँचा स्थान रहा है पर राष्ट्रीय दृष्टि से मध्यप्रदेश की भाषा (पश्चिमी हिन्दी) ही राज्य करती रही है।

(८) बिहारी—इस भाषा का क्षेत्र संयुक्त प्रदेश का पूर्वी भाग तथा बिहार प्रदेश है। इसका विकास बंगाली और आसामी की तरह मागधी से हुआ है। उसकी तीन प्रमुख बोलियां हैं—(१) मैथिली, (२) मगही, (३) भोजपुरी। बिहारी भाषा में तीन लिपियां प्रचलित हैं। इसकी छपाई देवनागरी में, लिखाई समान्य तौर पर कैथी में तथा कुछ मैथिलों में मैथिली चलती है। यहाँ की साहित्यिक भाषा हिन्दी ही है।

(९) उड़िया—ओड़ी उत्कली अथवा उड़िया उड़ीसा की भाषा है। इसके व्याकरण का साम्य बंगाली के व्याकरण से अधिक है। इसकी एक खिचड़ी बोली है जो भेमत्री नाम से पुकारी जाती है। उड़िया, मराठी और द्रविड़ तीनों का सम्मिश्रण है। यहां का साहित्य अच्छा है और प्रायः वह कृष्ण भक्ति विषय का है। इसकी उत्पत्ति मागधी अपभ्रंश से हुई है।

(१०) **बंगाली**—इसका क्षेत्र बंगाल है। इसका साहित्य अधिक सम्पन्न है। साहित्य की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का अधिक प्रभाव है। इसकी तीन बोलियां हैं। हुगली के आस-पास की पश्चिमी बोली टकसाली मानी जाती है। बंगला लिपि पुरानी देवनागरी का ही एक रूपांतर है।

(११) **आसामी**—आसामी बहिरंग समुदाय की अन्तिम भाषा है। यह आसाम की भाषा है। उड़िया की तरह यह भी बंगाली की बहन है और मागधी से उत्पन्न हुई है। इसका प्राचीन साहित्य ऐतिहासिक ग्रन्थों की प्रचुरता के कारण प्रसिद्ध है। आसामी का यद्यपि बंगाली से अधिक साम्य है, परन्तु उच्चारण में और व्याकरण में थोड़ा भेद भी है। यह प्रायः बंगला लिपि में ही लिखी जाती है।

(१२) **मराठी**—गुजराती के दक्षिण में मराठी आती है। यही दक्षिणी बहिरंग भाषा है। यह बम्बई प्रान्त में पूना के चारों ओर बरार, मध्य प्रान्त के दक्षिण तथा नागपुर आदि जिलों में बोली जाती है। इसके दक्षिण में द्रविड़ परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं। मराठी की तीन प्रमुख बोलियां हैं। पूना के आस-पास की टकसाली बोली देशी मराठी कहलाती है। दूसरी बोली कोंकण में बोली जाने वाली कोंकणी है तथा तीसरी बरार प्रान्त की बराड़ी है। यह देवनागरी लिपि में ही लिखी और पढ़ी जाती है। इसका साहित्य विस्तीर्ण, लोकप्रिय तथा प्राचीन है। इस भाषा में वैदिक स्वर के भी कुछ चिह्न मिलते हैं।

(१३) **पहाड़ी भाषाएँ**—ये मारवाड़ी और जयपुर से मिलती-जुलती भाषाएँ हैं जो हिमालय के दक्षिण पश्चिम में नेपाल से शिमला तक के प्रदेश में बोली जाती हैं। इसके तीन रूप हैं—पूर्वी, पश्चिमी तथा मध्य पूर्वी। पहाड़ी नेपाल की प्रधान भाषा है। इसी कारण इसे नेपाली भी कहा जाता है। इसका दूसरा नाम खसकुरा भी है। यह नागरी अक्षरों में लिखी जाती है। मध्यवर्ती पहाड़ी कुमाऊँ गढ़वाल में बोली जाती है। अतः उन्हीं जिलों के नाम पर कुमाऊंनी और गढ़वाली दो इसकी बोलियां हैं। पश्चिमी पहाड़ी अनेक पहाड़ी बोलियों का समूह है, उनमें कुछ पारस्परिक भिन्नता है। इसका साहित्य विस्तृत है। इसमें जौनसारी, कुल्लुई, चमाली आदि बोलियां हैं। ये टक्करी लिपि में लिखी जाती हैं।

षष्ठ-उल्लास

ध्वनि-विज्ञान (ध्वनि-शिक्षा, ध्वनि-विचार)
ध्वनि के अवयव
ध्वनि एवं ध्वनि ग्राम
संस्कृत ध्वनियाँ (वैदिक एवं लौकिक) पालि, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी ध्वनि-समूहों का विवेचन
ध्वनियों का वर्गीकरण स्वर एवं व्यंजन उनके उच्चारण स्थान
स्वर एवं व्यञ्जन का लक्षण
ध्वनि नियम
ध्वनि-नियम एवं प्राकृत-नियम
ध्वनि की उत्पत्ति
ध्वनि सम्बन्धी भिन्न नियम
ग्रासमान का नियम
वेर्नर का नियम
तालव्य भाव का नियम
ध्वनि परिवर्तन और उसके कारण
ध्वनि परिवर्तन की अवस्थायें और उसके भेद
लोप
आगम
विपर्ययादि
विशेष ध्वनि विकार

ध्वनि-विज्ञान

ध्वनि-विज्ञान भाषा विज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। ध्वनि-विज्ञान में सम्पूर्ण साधारण और [illegible] मानव-भाषा में ध्वनि विषयक [illegible] भाषा ध्वनि संकेतों का समूह मात्र है। अतः ध्वनियों [illegible] उच्चारणोपयोगी शरीरावयवों द्वारा ध्वनियों के ठीक-ठीक [illegible] और [illegible] उच्चारण भेद तथा अन्य कारणों से होने वाले विभिन्न [illegible] एवं ध्वनियों के वर्गीकरण आदि पर पूर्ण विवेचन किया जाता है। सामान्य [illegible] अर्थों के लिए ध्वनि का व्यवहार होता है। भाषा में ध्वनियों का अध्ययन इतना अधिक महत्त्वपूर्ण है और आधुनिक [illegible] इतना अधिक [illegible] गया है कि इसको दो भागों में विभाजित कर दिया गया है—

(१) ध्वनि शिक्षा।

(२) ध्वनि विचार।

ध्वनि शिक्षा में उन वर्णों की उत्पत्ति, उच्चारण स्थान आदि का विवेचन होता है और ध्वनि विचार में उनके विकारों एवं परिवर्तनों आदि का पूर्ण निरूपण होता है।

ध्वनियों की उत्पत्ति के स्थान तथा प्रयत्न—ध्वनि-विज्ञान के अध्ययन करने से पूर्व हमको उनके उच्चारणोपयोगी शरीरावयवों की रचना और क्रिया का पूर्ण रूप से समझ लेना चाहिए। जिन-जिन अंगों के द्वारा बोला जाता है, उनको सामूहिक रूप से हम ध्वनि-यंत्र कहते हैं। इस ध्वनि-यंत्र के अन्तर्गत प्रमुख रूप से निम्नांकित अंगों अथवा अवयवों का समावेश होता है—(१) फेफड़े, (२) [illegible] (३) अभिकाकल, (४) कंठपिटक और श्वास नलिका, (५) स्वरतंत्री अथवा ध्वनितंत्री, (७) कौआ, (८) कोमल तालु, (९) कठोर तालु, (१०) ओष्ठ, (११) दाँत, (१२) जिह्वा, (१३) मूर्धा, (१४) वर्त्स, (१५) नासिका विवर, (१६) मुख विवर, (१७) जिह्वा मूल, (१८) जिह्वा मध्य, (१९) जिह्वाग्र, (२०) जिह्वानोक, (२१) आस्य अथवा आस्यांग आदि। इनका हम नीचे सामान्य ज्ञान के लिये संक्षिप्त परिचय देते हैं—

फेफड़े—प्राणियों के जीवन का मूलाधार श्वास है, इसलिए एक कहावत भी प्रसिद्ध है कि—"जब तक श्वासा तब तक आशा"। भाव यह है कि जब तक प्राणी श्वास को निरन्तर ग्रहण करता रहता है और निःसृत करता रहता है, तभी तक वह गतिशील रहता है। बाहर जाने वाली वायु को हम प्रश्वास कहते हैं और भीतर को खींचने वाली वायु को हम श्वास कहते हैं। फेफड़ा इसी श्वास-प्रश्वास का साधन है। प्रत्येक ध्वनि की उत्पत्ति का उपादान फेफड़ों से निकलने वाली वायु ही है, जिसे प्रश्वास कहते हैं। भीतर को श्वास खींचते समय केवल सी-सी जैसी ध्वनि होती है।

अन प्रश्वास ही शब्दोच्चारण का कारण होती है, श्वास नही। श्वास का कार्य केवल मुख्य रूप से शुद्ध वायु को भीतर ले जाना है। श्वास और प्रश्वास को ग्रहण और निःसृत करने का कार्य फेफड़ों का होता है। इनको हम एक प्रकार की धौंकनी कह सकते हैं। जिस समय फेफड़े फैलते हैं उस समय उनमे वायु भर जाती है और उनके सिकुड़ने से बाहर निकल जाती है। श्वास नलिका के द्वारा हमारे गले की श्वास नलिका से ये जुड़े हुए हैं।

काकल और अभिकाकल---काकल गले के उस आभ्यंतर प्रदेश को कहते है जिसके आगे आस्य अथवा मुख की सीमा प्रारम्भ हो जाती है। यह कंठ-पिटक मे स्थित दोनों स्वरतंत्रियों का मध्यावकाश है। इस प्रकार स्वर-तंत्रियों का सिकुडना अथवा फैलना ही काकल का सकोच और विस्तृत करना होता है इसीलिए काकल मे ही ध्वनि का जन्म होता है। यह ध्वनियों का जन्मस्थान है। यहाँ प्राणवायु के सबल, निर्बल, कठोर, कोमल, अघोष, सघोष आदि होने का तथा उसके प्रयत्न का परिणाम ज्ञान होता है। यह भोजन-नलिका के विवर के साथ श्वास-नलिका की ओर झुका हुआ एक छोटा सा होता है। भोज्य अथवा पेय वस्तुओं को निगलने के समय यह श्वास मार्ग (नलिका) को ढक लेता है। इसे अभिकाकल या स्वरपंचमुखावरण कहते हैं। इसका सम्बन्ध श्वास नलिका और भोजन-नलिका दोनों से होता है।

कंठ-पिटक और श्वास नलिका---श्वास नलिका वह मार्ग है जिसके द्वारा वायु फेफड़ों से निकल कर कंठ-पिटक से नासिका तक आती है। यह एक नली जैसी होती है। इसके पीछे एक दूसरी नली होती है जिसे भोजन-नलिका कहते है। इसके द्वारा भोजन आमाशय तक पहुँचता है। जिस समय हम भोजन करते हैं उस समय श्वास नलिका को अभिकाकल ढक लेता है। जैसा कि हम ऊपर लिखा चुके है यदि भोजन का किंचित् अंश भी श्वास-मार्ग में पहुँच जाता है तो उस समय खाँसी आने लगती है और फेफड़े की वायु उसको शीघ्र धक्का देकर बाहर फेंक देती है। इसी कारण भोजन के समय वार्तालाप करना निषेध है। इस नलिका के ऊपरी भाग में स्थित कंठ-पिटक है जो श्वास नलिका के द्वारा मुख तक वायु को ध्वनि का रूप धारण कराता है। इसको स्वर-यंत्र अथवा ध्वनि-यंत्र भी कहते है। यह गले का वह भाग है जो स्त्री और बच्चों की अपेक्षा पुरुषों के अधिक उभरा रहता है और बाहर से दिखलाई पड़ता है। यह कंठ-पिटक एक संपुष्ट अथवा मिट्टी जैसा होता है। यह ध्वनि उत्पन्न कराने वाला प्रधान अंग है।

स्वर तन्त्री अथवा ध्वनि तंत्री---इस कंठ-पिटक अथवा स्वर-यंत्र में अत्यन्त ही सूक्ष्म तन्त्रियाँ होती हैं। ये कंठ-पिटक अथवा ध्वनियों के आमने-सामने दो भागों मे विभक्त रहती हैं। ये दोनों स्वरतंत्रियाँ स्वर की भाँति खिचकर संकुचित हो जाती हैं। इन दोनों के बीच के खुले अवकाश को ही स्वर यंत्र-मुख कहते है जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। इनको ध्वनि-तंत्रियाँ भी कहते हैं। ये विभिन्न दशाओं में स्थित रहती हैं। सर्वप्रथम जब ये स्वर-तंत्रियाँ इतनी खुली रहती हैं कि वायु बिना किसी

नवद्वार के बाहर निकल जाती है, उस दशा को श्वास कहते हैं, और अघोष वर्णों की प्रकृति कही गई है। द्वितीय अवस्था में उन स्वरतन्त्रियों के संकुचित होने पर [illegible] को रगड़ खाकर बाहर निकलना पड़ता है, उस समय वे वायु के आघात से झनझना उठती हैं। इस झनझनाहट को ही नाद कहते हैं। यही नाद [illegible] सघोष [illegible] की प्रकृति है। तीसरी स्थिति में ये [illegible] इतने [illegible] कि [illegible] क्षण मात्र के लिये आवागमन रुक जाता है। उस समय एक प्रकार की [illegible] ध्वनि 'click' होती है। इसको अरबी का 'हमज़ा' या [illegible] है। चौथी दशा में कभी कभी ऐसा होता है कि दोनों स्वरतन्त्रियां [illegible] जाती हैं, किन्तु नीचे की ओर थोड़ा सा भाग प्राणवायु के [illegible] खुला रह जाता है। इसी दशा में ध्वनि धीमी हो जाती है और केवल फुसफुसाहट सी होती है। इसमें कंपन नहीं होता। इस समय की ध्वनि [illegible] अथवा फुस-फुस ध्वनि कहते हैं। इसके अतिरिक्त कभी-कभी ऐसा भी हो जाता है कि ये तंत्रियाँ कभी कड़ी हो जाती हैं और कभी ढीली। इससे स्वर [illegible] नीचा हो जाता है। ध्वनियों में विकृति पैदा करने वाला यही स्वर यंत्र है।

कौआ—कंठ के नीचे भाग में लटकने वाले छोटी जीभ के समान के आकार वाले मांस के भाग को कौआ (काक) अलिजिह्वा अथवा [illegible] कहते हैं। यही नासिका-विवर और मुख-विवर को मार्ग देता है। यह तीन विभिन्न दशाएं धारण करता है। सर्वप्रथम दशा में यह ढीला रहता है और श्वास नलिका को मुख विवर से सम्बन्धित नहीं होने देता। फलस्वरूप प्राणवायु नासिका-विवर में [illegible] है। यह सामान्य दशा है क्योंकि किसी विशेष परिस्थिति को छोड़कर प्राणी नासिका से ही श्वास ग्रहण करता है और बाहर फेंकता है। द्वितीय अवस्था में प्राण वायु मुख-विवर और नासिका विवर दोनों से ही होकर निकलती रहती है। [illegible] समय अलिजिह्वा दोनों विवरों में से किसी भी विवर को नहीं रोकता है। अनुनासिक स्वरों तथा व्यंजनों का उच्चारण इसी दशा में होता है। तृतीय परिस्थिति में कौआ बिलकुल तन कर खड़ा हो जाता है और श्वास नलिका से आने वाली वायु को नासिका विवर में नहीं जाने देता, फलस्वरूप वायु मुख-विवर से ही निकलता होता है।

मुख विवर और नासिका विवर—कंठ से आई वायु श्वास नलिका के द्वारा मुख विवर और नासिका विवर में आती है। मुख विवर और नासिका विवर को अलग करने के लिये एक प्रकार की दीवार है, जो अन्दर की ओर कौवे से प्रारम्भ होकर ऊपर के दाँतों में समाप्त होती है। सामान्य रूप से नासिका-विवर के द्वारा ही प्राणवायु का आवागमन होता है तथा मुख-विवर में आकर ही ध्वनि अपना स्वरूप धारण करती है। मुख को ही प्रधान वागिन्द्रिय कहा जाता है। कोमल तालु, कठोर तालु, वर्त्स, मूर्धा, ओष्ठ, दाँत, ये मुख विवर के अन्दर रहने वाले अंग अवयव हैं। मुख के ऊपर का ढक्कन कंठ-बिल से लेकर ओष्ठ तक फैला रहता है। इसको

हम तालु कहते है। कंठ स्थान से दांतों तक इसके चार भाग हो सकते हैं (१)—कोमल तालु, (२) मूर्धा, (३) कठोर तालु, (४) वर्त्स। दाँत और ओष्ठ से भी हमको ध्वनियों के उच्चारण में सहायता मिलती है। पवर्ग की ध्वनियों के उच्चारण में ओष्ठों से ही श्वास रोकी जाती है, परन्तु स्वरों के उच्चारण में इनसे अधिक सहायता मिलती है। दांतों का प्रधान कार्य तो भोजन ही है, किन्तु ध्वनि के उच्चारण में भी आवश्यकतानुसार मसूड़ों से सहायता लेकर इनको ऊपर नीचे कर सकते हैं। तवर्ग की ध्वनियों का उच्चारण दांतों से ही होता है।

जिह्वा—इस तालु रूपी छप्पर के नीचे जिह्वा होती है। यह अत्यन्त कोमल अवयव है। इसको हम पाँच भागों में विभक्त करते हैं—(१) जिह्वानीक, (२) जिह्वाग्र, (३) जिह्वोपाग्र, (४) जिह्वामध्य, (५) जिह्वामूल। ध्वनियों के उच्चारण में इन सबका विशेष महत्व हैं।

आस्य अथवा वाग्यंत्र—उपर्युक्त अंगों का जो हम वर्णन कर चुके हैं प्रधानतया वे सभी मुख-विवर के भीतर आते हैं और इन सभी अवयवों के द्वारा ही ध्वनि पैदा होती है। अतः मुख को ही प्रधान वाग्यंत्र समझना चाहिए। काकल और कंठ-बिल में तो ध्वनि की प्रारम्भिक अवस्था रहती है। मुख-विवर के द्वारा ही वह अपने बाह्य रूप को धारण करती है। नासिका-विवर तो मुख का ही एक अंग है। इस प्रकार ध्वनियों के उच्चारण में प्रधान चार अंग होते हैं। इनके द्वारा ही जिह्वा वाणी का प्रसार करती है। इनके नाम हम नीचे देते हैं—

(१) काकल, (२) कंठ-बिल, (३) मुख, (४) नासिका।

विभिन्न विद्वानों द्वारा ध्वनि एवं ध्वनिग्रामादि की परिभाषा निम्न प्रकार दी जाती है—

"ध्वनि मनुष्य के विकास-परिहीन नियत स्थान और निश्चित प्रयत्न द्वारा उत्पादित और श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा अविकल्प रूप से गृहीत शब्द-लहरी है।" सामान्य भाव, विज्ञान मानव के मुख से निःसृत होकर गिरा आकाश में गुंजरित होती है और जिस प्रकार जल में कुछ फेंकने से तरंगें उठती हुई बढ़ती चलती हैं इसी प्रकार वाणी की लहरें वायु के सहारे आकाश में फैल जाती हैं। वैयाकरणों ने इसका नाम स्फोट रक्खा है। स्फोट का अर्थ है संघर्ष के द्वारा अव्यक्त शब्द की उत्पत्ति होना। उसी प्रकार मुख से निकली हुई वाणी आकाश-मंडल में उस पर चोट करती हुई फैल जाती है और इस चोट करने से जो आवाज होती है उसे ध्वनि कहते हैं। जिस प्रकार विभिन्न वाद्य-यंत्रों से निकल कर स्वर आकाश में ध्वनि करते हुए विलीन हो जाते हैं उसी प्रकार मानव मुख से निकली हुई ध्वनि भी बाहर फैल जाती है और शब्दायमान हो उठती है। इस ध्वनि को मनुष्य अपनी श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण करता है। इस प्रकार हम देखते है कि ध्वनि यंत्र से निकली हुई ध्वनि उसके विविध प्रयत्नों के अनुसार विभिन्न रूप धारण कर लेती है और कर्णेन्द्रिय उसका ग्रहण करती है।

वायु की विशिष्ट कम्पनात्मक गति द्वारा उत्पन्न श्रावणिक [illegible] को [illegible] ध्वनि कहते हैं। भाषा में, वक्ता के ध्वनि-यन्त्र से कम्पन उत्पन्न होता है। [illegible] भाषा की ध्वनियों के विज्ञान अर्थात् ध्वनि विज्ञान का अध्ययन तीन भागों में [illegible] सकता है—ध्वनि की उत्पत्ति, उसका प्रसार और ग्रहण। भाषा में विचार की दृष्टि [illegible] ध्वनि ग्रहण अर्थात् श्रुति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रत्येक [illegible] श्रवण के माध्यम से ही अपने ध्वनि तत्त्व को प्राप्त करता है और उसे निर्धारित करता है, पर [illegible] के विचार से भाषा के अध्ययन में श्रुति को बहुत व्यापक स्थान प्रदान नहीं किया जा सकता, फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से ध्वनि की उत्पत्ति ही [illegible] ध्वनि विज्ञान का विषय रही है। आजकल ध्वनि का प्रसार भी ध्वनि-वैज्ञानिकों के अध्ययन का मुख्य विषय रहा है।

मानव ध्वनि-यन्त्र के दो प्रधान भाग हैं—एक 'फेफड़े' [illegible] दूसरा ध्वनि-नलिका अथवा श्वास-नलिका। इस श्वास नलिका के ऊपर भाग में दो हिस्सों में बंटी स्वरतंत्रियां होती हैं या कहना चाहिए कि इस श्वास-नलिका के ऊपरी हिस्से में स्वरयन्त्र है। अतः यह ध्वनि-यंत्र सुषिर (छेद वाला) [illegible] छिद्र (दो नासिकायें) वाला भी। स्वर-यंत्र के इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि अन्य सभी प्रकार के सुषिर-वाद्य यंत्रों की अपेक्षा मानव कण्ठ-यन्त्र [illegible] है। स्वर-तंत्रियों की नमनता [illegible] है जो [illegible] मानव [illegible] आवश्यकतानुसार कठोर [illegible] कभी भी प्राप्त नहीं कर सकता। [illegible] के कारण स्नायु के कई जोड़ों के क्रियाशील हो जाने से इन स्वरतंत्रियों की स्थिति भिन्न हो जाती है। उनको बन्द भी रखा जा सकता है और लगभग सम्पूर्णतः [illegible] भी, सम्पूर्णता या कुछ अंश में उनका कम्पन भी कराया जा सकता है और [illegible] तनाव में विकार भी लाया जा सकता है। यदि ध्वनि-यंत्र में [illegible] होता है तो वह सर्वथा अपूर्ण रहता है। इसमें केवल स्वरों की अभिव्यक्ति होती है और वह भी ऐसे स्वरों की जिनमें आधुनिक फ्रांसीसी भाषा के उच्चरित स्वरों की अपेक्षा कम ही भेद होता है।

वस्तुतः फेफड़ों से बाहर फेंका गया श्वास ही स्वर-तंत्रियों में कम्पन [illegible] के "घोष" को जन्म देता है क्योंकि इस श्वास के अनुसार [illegible] दीर्घ काल तक [illegible] सकता है अथवा विस्तार व शक्ति के अनुसार इसमें भेद हो सकता है। अतः 'घोष' के तीन विलक्षण गुण हैं—काल-प्रसार, उच्चस्वरता व समभिहार (तीव्रता)।

परन्तु ध्वनि का अनिवार्य पूरक अंग वे सब विवर हैं जहां पर स्वर-यन्त्र खुलता है जैसे उपालिजिह्व, नासिकाविवर व इनमें से बढ़कर मुखविवर। इन सब विवरों की दीवारें जो प्रायः स्थिति स्थापक होती हैं, 'घोष' के लिए प्रतिश्रुतिक का काम करती हैं जिससे प्रत्येक स्वर को अपना विलक्षण सुर प्राप्त होता है। इस प्रतिश्रुतिक में कुछ ऐसे कोमल व आलस्य अवयव हैं जो इन स्वरों के विस्तार व सामर्थ्य को बदल सकते हैं, एक तो सुकुमार तालु जो नासिका-विवर का मार्ग रोक

सकता है जिससे इसमें कोई प्रतिश्रुतिक न हो और प्रधानतया जिह्वा जिसका स्वर यन्त्र के साथ ध्वनि-उत्पत्ति के व्यापार में महत्वपूर्ण स्थान है।

सामान्यतः ध्वनिग्रामों को व्यञ्जनों व स्वर में विभाजित किया जाता है। अक्षर की परिभाषा की दृष्टि से यह विभाजन व्यावहारिकतया उचित ही है, पर अक्षर में एक ही ध्वनिग्राम प्रायः व्यञ्जनों और स्वर दोनों का कार्य कर सकता है। यद्यपि इन दोनों के कार्य मे भेद है तथापि उनकी प्रकृति में वस्तुतः भेद नहीं और इन दोनों की सीमा भी निश्चित नही। व्यञ्जन व स्वर उस प्राकृतिक समुदाय के अंग हैं, जिसके अन्त्य रूपों में ही केवल स्पष्ट भेद है।

"स्वरों के उच्चारण में जीभ का कोई न कोई भाग थोड़ा या बहुत ऊपर को उठता है, और इस भाग के नाम के अनुसार स्वरों में अग्र, मध्य और पश्च का भेद किया जाता है, फिर श्वास के निकालने के लिए मुख आपेक्षिक दृष्टि से बहुत या कम खुलता है, इस दृष्टि से स्वरों की संज्ञा विवृत(पूरा खुला हुआ), अर्ध विवृत(अर्धखुला), अर्ध संवृत (आधा बन्द) तथा संवृत (पूरा बन्द) होती है। संस्कृत व हिन्दी में ई व ऊ संवृत, आ विवृत, ए, ओ अर्ध संवृत व ऐ, औ अर्ध विवृत स्वर है हिन्दी भाषा मे भी स्वरों का वर्गीकरण जीभ, ओठो व कोमल तालु और कौव (अलिजिह्व) की स्थिति के अनुसार हो सकता है। जीभ की स्थिति के अनुरूप एक ओर अग्र, मध्य व पश्च स्वरो तथा दूसरी ओर विवृत, संवृत इत्यादि स्वरों का उल्लेख ऊपर हो चुका है। ओठो की स्थितियाँ प्रमुखतया दो प्रकार की होती है— वृतमुखी या वृत्ताकार यथा उ, ऊ आदि में और अवृत्तमुखी या अवृत्ताकार यथा अ व ए आदि मे कुछ स्वरों मे ओठ विस्तृत (ई), पूर्ण विस्तृत (ए), उदासीन (अ), स्वल्प वृत्ताकार (ऑ), पूर्ण वृत्ताकार (ऊ) आदि भी होते हैं। अलिजिह्व की स्थिति के अनुसार ही मौखिक स्वर (अ, आ, ए आदि) तथा नासिक्य अथवा अनुनासिक स्वर (अँ, आँ, एँ) का उच्चारण होता है।

ध्वनिग्राम विज्ञान—"ध्वनिग्राम" का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करने वाले जेकबसन और एन० हॉल का मत है कि—'भाषा ध्वनियों का उपयोग करती है तथा आवश्यकतानुसार उनमें से कुछ तत्वों का चयन करके अपने विविध उद्देश्यों की पूर्ति करती है। भाषा का यह क्षेत्र भाषा विज्ञान की विशिष्ट विधा ध्वनिग्राम विज्ञान के अन्तर्गत आता है। वे ध्वनिग्राम को उसकी संध्वनियों के साथ एक विशिष्ट उपकरण के रूप में स्वीकार करते हैं।

ध्वनिग्राम विज्ञान के लिये अंग्रेजी में कई नाम प्रचलित हैं। अधिकांश लोग इसे फोनेमिक्स कहते हैं, कुछ फ़ोनेमेटिक्स। कुछ विद्वान फोनेमिक्स और फ़ोनोलौजी को एक मानते हैं। कुछ इसे फङ्क्शनल फ़ोनेटिक्स भी कहते हैं। प्रायः सभी नाम पर्यायवाची हैं, लेकिन फ़ोनेमेटिक्स के सम्बन्ध में रॉबिन्स के विचार द्रष्टव्य हैं—

Phonematic unit in this sense must be distinguished from phonemes or phonemic units; despite the

2. "The phonemes of a language are not sounds but merely sound-features, lumped together,' 'A minimum unit of distinctive sound features.'

–Bloomfield–Language.

३. किसी भी वर्णमाला में जो ध्वनि-प्रतीक दिखाई पडते हैं, वे वस्तुत: ध्वनिग्राम होते हैं। क्, ख्, ग्, अ, इ आदि ध्वनिग्राम हैं, लेकिन व्यवहार में हम इन सबके लिए ध्वनि सज्ञा का प्रयोग करते हैं।

4. "A phoneme is a class of sounds which are phonetically similar and show certain characteristic pattern of distribution in the language.

—Gleason—An Introduction to Description Linguistics.

5. "A phoneme is a group of one or more phone-types that are phonetically similar and either in complementary distribution or in free variation"

—W Nelson Francis—The Structure of American English pp. 127

The whole science of speech-sounds is included under phonology which includes the history and theory of sound changes, the term phonetics excludes this being concerned mainly with the analysis and classification of actual sound. History of language by H. O. Sweet.

A speech sound is "a sound of definite ceconstie quality produced by the organs of speech. A given speech sound is incapable of variations instruction to the Bengali Phonetic reader by S. K Chatterjee.

ध्वनि-विज्ञान और ध्वनिग्राम-विज्ञान का सम्बन्ध भाषा-ध्वनियों से है, लेकिन दोनों के दृष्टिकोणों में अन्तर है, जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है। ध्वनिग्राम विज्ञान को इसी दृष्टि से (functional phonetics) क्रियाशील ध्वनि-विज्ञान माना गया है। ध्वनिग्राम विज्ञान का आरम्भ और विकास स्थूल लेखन की आवश्यकताओं के कारण हुआ क्योंकि भाषा ध्वनियों की विभिन्नता को अंकित करना असम्भव है। इसमें भाषागत ध्वनिग्राम का समूह अंकित होता है।

यह ध्वनिग्राम ध्वनि श्रेणी या ध्वनि मात्र–Phoneme यह ध्वनियों का समूहमात्र है, इसमें भाषा की अनेक प्रकार की ध्वनियां होती है। यह किसी एक

संस्कृत ध्वनि समूह

पाणिनि ने संस्कृत ध्वनि समूह को १४ सूत्रों में विभक्त किया है—

१. अइउण्
२. ऋलृक्
३. एओङ्
४. ऐऔच्
५. हयवरट्
६. लण्
७. ञमङणनम्
८. झभञ्
९. घढधष्
१०. जबगडदश्
११. खफछठथचटतव्
१२. कपय्
१३. शषसर्
१४. हल्

इन चौदह सूत्रों के आधार पर इस प्रकार संस्कृत ध्वनियाँ हैं—

(१) स्वर—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ
(२) स्वरों के समान धर्म व्यंजन—ह, य, व, र, ल, ञ, ङ, ण, न, म
(३) स्पर्श व्यंजन—क, ख, ग, घ, च, छ, ज, झ, ट, ठ, ड, ढ, त, थ, द, ध, प, फ, ब, भ
(४) घर्ष व्यंजन—श, ष, स, ह
(५) विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय
(६) अनुस्वार।

इस प्रकार के संस्कृत में मूर्धन्य ळ् और ळ्ह् को छोड़कर वैदिक ध्वनि समूह की समस्त ध्वनियों पर प्रयोग होता था।

पालि ध्वनि समूह

स्वर—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ

व्यंजन—क, ख, ग, घ, ङ
च, छ, ज, झ, ञ
ट, ठ, ड, ढ, ण
त, थ, द, ध, न
प, फ, ब, भ, म

अन्तस्थ—य र ल व

ऊष्म—स, ह

अनुस्वार—

इस प्रकार पालि में आकर संस्कृत के ऐ, औ, ऋ, ॠ, ऌ स्वर लुप्त हो गये किन्तु ह्रस्व ए और ओ का आविर्भाव हो गया। ये ह्रस्व ए और ओ संस्कृत भाषा की किसी विभाषा में प्राप्त होते थे। संस्कृत परिमार्जित भाषा थी, इसमें इनका अभाव हो गया था, पालि में ये पुनः आ प्रकाशित हुए, व्यंजनों में सं० विसर्जनीय जिह्वामूलीय और उपध्मानीय के प्रयोग लुप्त हो गये। ऊष्म ध्वनियों में श, ष और स में से केवल स ही अवशिष्ट रहा।

प्राकृत ध्वनि समूह

पालि की ध्वनियाँ ही प्राकृतों में चलती रहीं। स्वर और व्यंजन प्रायः वे ही रहे। शौरसेनी प्राकृत में न और य के स्थान पर ण और ज हो गये थे। मागधी प्राकृत में भी पाली की ही ध्वनियाँ मिलती हैं। मागधी में तो 'य' भी है, शौरसेनी की भाँति उसका परिवर्तन ज के रूप में नहीं होता।

अपभ्रंश ध्वनि-समूह

अपभ्रंश काल में ध्वनियों की संख्या में थोड़ा परिवर्तन मिलता है—

स्वर—प्राकृतों के ही १० स्वर अर्थात्

अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ

व्यंजन—क, ख, ग, घ, ङ

च, छ, ज, झ, ञ

ट, ठ, ड, ढ, ण, ड़, ढ़

त, थ, द, ध, न, न्ह

प, फ, ब, भ, म, म्ह

अन्तस्थ—य, र, ल, व, ल्ह, व्ह

ऊष्म—स, ह

हिन्दी ध्वनि-समूह

हिन्दी में अधिकांश ध्वनियाँ आर्य ध्वनियों की परम्परा में प्राप्त हुई हैं, कुछ विदेशी ध्वनियाँ अरबी, फारसी और अंग्रेजी से आ गई हैं।

प्राचीन ध्वनियाँ

स्वर—

अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ

व्यंजन—

स्पर्श—क, ख, ग, घ, ङ

च, छ, ज, झ

ट, ठ, ड, ढ, ण, ड़, ढ़

त, थ, द, ध, न, न्ह

प फ, ब, भ, म, म्ह

अन्तस्थ—य, र, ल, व व

ऊष्म—श, स, ह

नई विकसित ध्वनियाँ—ए (अ ए), ओ (अ ओ)

विदेशी ध्वनियाँ—क़, ख़, ग़, ज़, फ़

अंग्रेजी—ऑ (O)

ध्वनियों का वर्गीकरण

ऊपर हम वर्णन कर चुके हैं कि जब स्वरनालियों से प्राणवायु बिना किसी रुकावट के निकल जाती है तब उससे उत्पन्न होने वाली ध्वनि को श्वास अथवा अघोष कहते हैं, किन्तु इसके विपरीत जब श्वास स्वरनालियों के सिकुड़ जाने के कारण संघर्ष के साथ निकलती है इस संघर्ष के कारण एक प्रकार का नाद होता है। अत इससे उत्पन्न हुई ध्वनि को नाद अथवा घोष कहते हैं। इस प्रकार श्वास (अघोष), नाद (घोष) ये दो भेद ध्वनियों के किये जाते हैं। सभी स्वर घोष हैं और व्यंजनों में कुछ घोष हैं और कुछ अघोष हैं। इसके अतिरिक्त ये ध्वनियाँ मुख से किस प्रकार निःसृत होती हैं अथवा उनके उच्चारण करने में कितना प्रयत्न करना पड़ता है इसको ध्यान में रखते हुए स्वर और व्यंजन दो भेद किये गये हैं। स्वर वे सघोष ध्वनियाँ हैं जिनके उच्चारण में वायु के प्रवाह की गति मुख में बिना किसी रुकावट के होती है और किसी प्रकार का घर्षण एवं स्पर्श नहीं होता। यद्यपि स्वरो के उच्चारण में तालु की ओर जिह्वा के कुछ उठाने के नाद में किंचित् परिवर्तन होता है परन्तु जिह्वा तथा तालु के बीच में वायु के बाहर जाने को अवकाश होता है जिससे किसी प्रकार की वायु की रगड़ नहीं खानी पड़ती। ये स्वतंत्र उच्चरित होने वाली ध्वनियाँ हैं। इसी कारण ये अधिक दूर तक सुने भी जा सकते हैं। स्वरो क अतिरिक्त सभी ध्वनियाँ व्यंजन कहलाती हैं। इसके उच्चारण में 'स्पर्श' अथवा 'घर्षण' अवश्य होता है। इनकी ध्वनि दूर तक सुनाई नहीं देती। बिना स्वर की सहायता से व्यंजनों का उच्चारण स्पष्ट रूप से नहीं हो सकता किन्तु यह सर्वांश मे ठीक नहीं है। कुछ व्यंजन ऐसे हैं जिनका उच्चारण बिना किसी स्वर की सहायता से स्वतंत्र रूप से हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वर और व्यंजन ध्वनियो में भेद करने वाली श्वास की अबाव और सबाध गति है। स्वर सभी नाद होते हैं किन्तु व्यंजन कुछ नाद और कुछ श्वास होते हैं। साधारण तौर पर वर्गों के प्रथम वर्ण श्वास होते हैं और तृतीय वर्ण नाद होते हैं।

स्वरों का वर्गीकरण

जिस समय जिह्वा को ऊँची या नीची करके ध्वनि मुख से बाहर निकलती है उसमें किसी प्रकार का स्पर्श या घर्षण नहीं होता है उस ध्वनि को स्वर कहते हैं और उस समय में जिह्वा की जो अवस्थिति होती है उसे स्वरावस्थिति या अक्षरावस्थिति कहते हैं। स्वर-ध्वनियों के उच्चारण में जीभ का विशेष महत्व है और जिह्वा की दशा परिवर्तन होने से स्वरों में भी भिन्नता हो जाती है। अतः जिह्वा के प्रधान अंगों के अनुसार स्वरों का वर्गीकरण किया जा सकता है। यह भेद अग्र, मध्य और पश्च तीन प्रकार का होता है। जिन स्वरों के उच्चारण में जीभ आगे की ओर ऊँची उठती है उन्हें अग्र स्वर कहते हैं। इसी प्रकार पीछे के भाग को उठाकर बोलने जाने वाले स्वरों को पश्च स्वर कहते हैं और जिन स्वरों के उच्चारण में अग्र और पश्च दोनों ही भाग उठते हैं उन्हें मध्य स्वर कहते हैं। इन तीनों के क्रमशः ई, ऊ, आ हैं, यह वर्गीकरण जीभ के विभिन्न भागों के अनुसार हुआ। इसके अतिरिक्त जीभ ऊपर की ओर कितनी उठती है इसको ध्यान में रखकर स्वरों का वर्गीकरण इस प्रकार भी हो सकता है। जब जीभ बिना किसी प्रकार के संघर्ष के इतनी अधिक ऊपर उठती है और उस समय जो स्वर-ध्वनि उच्चरित होती है उसको संवृत कहते हैं और जिस समय जीभ कम से कम उठती है अथवा अधिक से अधिक नीचे जाती है उस दशा में उच्चरित स्वर को विवृत कहते हैं। संवृत और विवृत इन दोनों के मध्य में दो भाग किये जाते हैं—अर्द्ध संवृत, अर्द्ध विवृत। इस प्रकार स्वरों का वर्गीकरण जीभ की दशाओं के आधार पर दो प्रकार से हुआ प्रथम में जीभ की आड़ी स्थिति होती है और द्वितीय में जीभ की खड़ी स्थिति रहती है। स्वरों का गुण ओष्ठों की स्थिति पर निर्भर रहता है। विभिन्न स्वरों के उच्चारण में ओष्ठों की बनावट बदलती रहती है। जिन स्वरों के उच्चारण में ओष्ठ सिकुड़ कर गोलाकार हो जाते हैं उनको वृत्ताकार स्वर कहते हैं और जिन स्वरों के उच्चारण में ऐसा नहीं होता वे अवृत्ताकार कहलाते हैं। स्वरों के उच्चारण में जितना समय लगता है उसके आधार पर ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत तीन भेद किये जाते हैं। चढ़ाव और उतार के हिसाब से भी स्वर के तीन भेद किये जाते हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित।

मूल स्वर अथवा समानाक्षर

स्वर—अ, आ, ऑ, ऑ॑, ओ, आ, ओ, उ, उ़, ऊ, ई, इ, इ़, ए, ए, ए़, ऍ, ऍ, अ।

अनुनासिक स्वर—अं, आं, ऑं, उं, ऊं, ईं, इं, एं

संयुक्त स्वर अथवा सन्ध्यक्षर—ऐ, (अ, ए) औ (अ, ओ)

(१) अ—इसके उच्चारण करने में जीभ पूर्णतया न पीछे ही खिंचती है न पूर्णतया आगे की ओर ही बढ़ जाती है। इसकी अवस्था मध्य में रहती है। इसीलिए यह मध्य स्वर है। साथ ही साथ इसके उच्चारण करने में जिह्वा नीची सी

ऊपर को उठती है और ओष्ठ अधखुले हो जाते हैं। अतः इसे अर्द्ध विवृत माना गया है। इसके उच्चारण में केवल एक मात्रा का बोध होने के कारण यह ह्रस्व स्वर है। उदाहरण—चल, पवन, कब, सबल, हवन, सरल, गमन आदि। इसमे च, प, व क, स, ष, ह, व, स, र, ग, म में अ का उच्चारण किया जाता है किन्तु शब्द के अन्त में आये हुए अ का उच्चारण प्रायः हिन्दी में नहीं होता है। जैसे ल, न, व ल, न, ल, न में अ का पूर्ण उच्चारण नहीं हुआ है, परन्तु ऐसा दीर्घ स्वर अथवा संयुक्त व्यंजन के बाद प्रयुक्त हुए अ का उच्चारण होता है, जैसे सीय, असत्य, पीय।

(२) आ—इसके उच्चारण करने में जिह्वा पश्च भाग की ओर चली जाती है। यह अ का दीर्घ है। यह ह्रस्व रूप में व्यवहृत नहीं होता है। इसके उच्चारण करने मे ओठ अधिक खुल जाते हैं। इसलिए यह विवृत माना गया है, यथा राम, सामान, हाथी, बादाम, नाला आदि।

(३) ऑ—इसका प्रयोग अंग्रेजी के तत्सम शब्दों को लिखने तथा बोलने के लिए होता है। उच्चारण की दृष्टि से अर्ध विवृत पश्च स्वर है। हिन्दी में कुछ ऐसे और भी विदेशी भाषाओं के तत्सम शब्दों को लिखने अथवा बोलने के लिए स्वरो की उत्पत्ति हो गयी है जो हिन्दी की पूर्वज भाषाओं में नहीं थे। इसके उदाहरण के लिए हम कांङ्ग्रेस, लॉर्ड, कॉफ्रिन्स आदि शब्दों को ले सकते हैं।

(४) ओँ—इसका उच्चारण करने में ओष्ठ कुछ गोलाकार हो जाते हैं और जीभ का पश्च भाग अर्ध विवृत पश्च प्रधान स्वर की अपेक्षा कुछ ऊपर और कुछ भीतर की ओर दबा हुआ रहता है। यह ब्रज भाषा में प्रयुक्त होता है। जैसे—"एहि घाट तें थोरिक दूर अहै, कटि लौं जल-थाह देखाइहौं जू (कवितावली, अयोध्या कांड), 'अवलोकि हों सोच विमोचन कों' (कवितावली, बाल कांड), पखारिहौं, चढ़ाइहौं आदि।

(५) औँ—इसके उच्चारण करने में ओठ वृत्ताकार हो जाते हैं। प्रधान स्वर ओँ से इसका उच्चारण स्थान किंचित् ऊँचा है। इसलिए यह दीर्घ है। इसके उच्चारण करने में ओठ प्रधान स्वर ओँ की अपेक्षा अधिक खुले रहते हैं तथा जीभ का पिछला भाग भीतर की ओर दब जाता है। अतः यह अर्ध विवृत पश्च स्वर है। इसका प्रयोग भी ब्रजभाषा में ही पाया जाता है। जैसे याकौं, जाकौं, एसौं, जयौं, भयौं।

(६) ओ—इसके उच्चारण में जीभ अधिक नीची और मध्य की ओर झुकी रहती है तथा दोनों ओठ वृत्ताकार हो जाते हैं। इसका व्यवहार ब्रजभाषा और अवधी में अधिक पाया जाता है। यथा—पुनि लेत सोहि जेहि अरैं (कवितावली, बाल कांड ५); ओहि-बिटिया (अवधी बोली) यह अर्द्ध संवृत ह्रस्व पश्च स्वर है।

(७) ओ—इसके उच्चारण में होठ पूर्णतया वृत्ताकार हो जाते हैं तथा जीभ की स्थिति प्रधान स्वर की अपेक्षा अधिक नीचे की ओर हो जाती है। हिन्दी

(१५) ए—यह अर्ध संवृत ह्रस्व अग्र स्वर है। इसके उच्चारण में जिह्वाग्र ए की अपेक्षा नीचा और मध्य की ओर रहता है। इसका व्यवहार हिन्दी की बोलियों में ही होता है। यथा "अवधेश के द्वारे-सकारे गयी" (कवितावली, ब्रज०)-आहि केर बेटवा, (अवधी) सुत गोद के भूपति लै निकसे (कवितावली; बाल कांड)

(१६) अं—यह हिन्दी के अ से मिलता-जुलता है। इसका उच्चारण करते समय जीभ के मध्य का भाग अ की अपेक्षा कुछ अधिक ऊपर उठ जाता है। यह अर्ध विवृत मध्य ह्रस्वार्द्ध स्वर है। यह ध्वनि अवधी में पायी जाती है, जैसे—सो रही पं० रईस, बेचारा (हि०)।

व्यंजनों का वर्गीकरण

व्यंजनों का विभाजन दो बातों पर आधारित रहता है। सर्वप्रथम तो बात यह है कि उनका उच्चारण किस स्थान से होता है अथवा कौन सा अंग उनके उच्चारण के समय प्रयोग में आता है। दूसरी बात यह है कि उस उच्चारण को करने में क्या प्रयत्न करने पड़ते हैं। यदि स्थान की दृष्टि को ध्यान में रखकर व्यंजनों का वर्गीकरण किया जाय तो आठ प्रमुख भेद हैं इनका हम नीचे विवेचन करते है।

(१) **काकल्य**—जो ध्वनि काकल्य स्थान में उत्पन्न होती है उसे काकल्य कहते है। जैसे अंग्रेजी मे h हिन्दी में ह।

(२) **कंठ्य**—जिन ध्वनियों का उत्पत्ति स्थान कंठ होता है अर्थात् जब श्वास स्वर से निकलकर कंठ के पास रुककर झटके से निकलती है, ऐसी दशा मे कंठ्य ध्वनि का उच्चारण होता है। इस दशा में जिह्वा के पिछले भाग को कोमल तालु से स्पर्श कराते हैं। यथा कवर्ग।

(३) **मूर्धन्य**—कठोर तालु के मध्य भाग जिसको मूर्धा कहते हैं, इससे जीभ का अगला हिस्सा उलटकर स्पर्श करता है। उस समय मूर्धन्य ध्वनियों का उच्चारण होता है। हिन्दी का टवर्ग और ष ऐसी ही ध्वनियाँ हैं।

(४) **तालव्य**—इस प्रकार की ध्वनियों के उच्चारण करने में जीभ का अगला भाग ऊपर उठकर मसूड़ों के पास कठोर तालु से मिलता है। हिन्दी का चवर्ग तथा श ऐसी ही ध्वनियाँ हैं।

(५) **वर्त्स्य**—दाँतों के मूल में ऊपर जो उभरा हुआ स्थान होता है, उसे वर्त्स्य कहते है। इन ध्वनियों के उच्चारण में जीभ की नोक मसूड़ों के पास तालु के अन्तिम भाग का स्पर्श करती है। यथा 'न', 'ह्' ।

(६) **दन्त्य**—यहाँ जिह्वा की नोक ऊपर उठकर दाँतों से मिलती है। यथा-त, थ, द, ध। दाँतों के अग्र, मध्य, पश्च तीन भाग होते हैं। त अग्र दन्त्य है, थ मध्य दन्त्य है।

(७) **ओष्ठ्य**—इन ध्वनियों का उच्चारण जीभ की बिना सहायता के केवल ओष्ठों से ही हो जाता है। इसके दो भेद होते हैं ओष्ठ्य तथा दन्तोष्ठ्य। जब अन्दर

मे आती हुई वायु मे दोनों ओठों से विकृति होने पर ध्वनि उत्पन्न होती है उनको द्वयोष्ठ्य कहते हैं। हिन्दी की प, फ, ऐसी ध्वनियाँ हैं और जिस प्रकार उच्चारण नीचे के ओठ और ऊपर के दाँतों से होता है तब ध्वनि दन्त्योष्ठ्य कहलाती है। जैसे 'ब', 'भ'।

(८) **जिह्वामूलीय**—हिन्दी में कुछ ऐसी विदेशी ध्वनियाँ आ गयी है जो जिह्वा मूल से उच्चरित होती है। जैसे क़, ख़, ग़।

दूसरी प्रकार के वर्गीकरण के भी हम आठ भेद कर सकते है। यह वर्गीकरण ध्वनियों के उच्चारण में जो विभिन्न प्रकार के प्रयत्न किये जाते हैं उनके अनुसार है। नीचे हम उन भेदों का उल्लेख करते हैं।

(१) **स्पर्श**—जिन ध्वनियों के उच्चारण में भीतर से आयी हुई श्वास को रोककर दो अंगों का पूर्ण स्पर्श किया जाता है, उनको स्पर्श कहते हैं यथा क, प।

(२) **घर्ष (संघर्षी)**—जिस समय वायु दो अवयवों में संघर्षण करता हुआ बाहर आता है उस समय घर्ष ध्वनि उत्पन्न होती है। इसमें जिह्वा और दन्त मूल के मध्य के संकीर्ण मार्ग से हवा रगड़ खाकर निकलती है। यथा स, श, ष, ज। इस प्रकार की ध्वनियों को ऊष्म ध्वनि भी कहते हैं।

(३) **स्पर्श (संघर्षी)**—इस प्रकार के प्रयत्न मे स्पर्श तो होता है किन्तु साथ ही साथ हवा कुछ संघर्ष के साथ निकलती है। इसलिए इस प्रकार में उच्चारित ध्वनियों को स्पर्श संघर्षी कहते हैं। यथा च, छ, ज, झ।

(४) **अनुनासिक**—जिस ध्वनि के उच्चारण के समय मुख किसी एक स्थान पर बंद हो जाता है और कंठ इतना झुक जाता है कि वायु नासिका विवर से निसृत होती है। ऐसी ध्वनि अनुनासिक होती है। जैसे न, म।

(५) **पार्श्विक**—जिस समय हवा को भीतर से बाहर आते हुए मुख के मध्य मे ही जीभ को उठाकर रोक लिया जाता है उस प्रकार हवा जीभ के दाहिने बायें पार्श्वों से निकल जाती है। अतः इस प्रयत्न से उत्पन्न ध्वनि को पार्श्विक कहते हैं। 'ल' इसी प्रकार की ध्वनि है।

(६) **लुंठित**—अगर जीभ को यथा सम्भव लपेटकर ध्वनि निकाली जाती है तो लुंठित ध्वनि उत्पन्न होती है। ऐसा करने में जीभ ऊपर के मसूड़े को भी छूती है। (उदाहरणार्थ 'र')

(७) **उत्क्षिप्त**—इसी प्रकार लिपटी हुई जीभ को क्षण भर के लिए इसी अवस्था में रखकर तालु का स्पर्श कराते हुए झटके से सीधा कर लिया जाता है। इस प्रकार श्वांस में उत्पन्न हुए विकार से बनी हुई ध्वनि को उत्क्षिप्त कहते है। जैसे ड़, ढ़।

(८) **अर्द्ध स्वर अथवा अन्तस्थ**—इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी वर्ण होते हैं जो साधारणतः व्यंजनों की तरह उपयुक्त होते हैं, पर कभी-कभी स्वर हो जाते हैं। हिन्दी में 'य' और 'व' ऐसे ही वर्ण (ध्वनि) हैं।

का विशेष महत्व है। यह परिवर्तन कुछ सामान्य नियमों के आधार पर होते रहते हैं। यद्यपि यह नियम प्राकृतिक नियमों के समान स्थायी और अकाट्य नहीं होते। इस प्रकार के नियम देश काल से सीमित होते हैं अर्थात यह सामान्य नियम किसी विशेष देश की विशेषकालीन भाषा पर ही चरितार्थ होते हैं। भाषा की ध्वनियों के परिवर्तन के इन सामान्य नियमों को ही ध्वनिनियम कहते हैं। निम्नांकित परिभाषा ध्वनि नियम की हो सकती है—

किसी विशिष्ट भाषा की विशिष्ट ध्वनियों में देशकाल से सीमित जो नियमित परिवर्तन या विकार होते हैं, उसको उस विशिष्ट भाषा का ध्वनि नियम कहा जाता है। ये नियम प्रकृति के नियमों के समान सर्वत्र व्यापक नहीं होते।

ध्वनि नियम और प्राकृतिक नियम—ध्वनि नियम पर पूर्ण विश्लेषण करने से पूर्व एक बात का जानना अत्यन्त आवश्यक है। सामान्य तथा ध्वनि नियम शब्द से यह भ्रम हो जाता है कि इसमें कुछ स्थिरता होगी। अधिकतर नियम शब्द का प्रयोग प्राकृत के नियमों के लिये ही होता है। किसान के भी नियम होते है, परन्तु कभी-कभी वे भी असत्य सिद्ध हो जाते हैं। प्रकृति के नियमों मे किसी भी प्रकार का अपवाद नहीं देखा जाता परन्तु ध्वनि नियम प्रकृति के नियमों की तरह सर्वकालीन और सर्वव्यापी नहीं होते, वे देश एवं काल की सीमा में नियंत्रित रहते है। प्रकृति के नियम किसी विशेष देश अथवा विशिष्ट काल की अपेक्षा नहीं करते। ध्वनि नियम यादृच्छिक हुआ करते हैं।

प्राकृतिक नियमो की भांति ध्वनि नियम किसी विशेष अवस्था अथवा स्थान की अपेक्षा नहीं करते यथा न्यूटन का नियम सर्वत्र लागू होता है, परन्तु ध्वनि नियम अपनी सीमा का उल्लंघन नहीं कर सकते। उनकी सीमा निर्धारित होती है।

प्राकृतिक नियमों में किसी प्रकार का आस्वादन नहीं होता। वे अंधे की तरह आँख बंद कर अपना कार्य करते रहते हैं, परन्तु ध्वनि नियमों में यह बात नहीं होती, जैसे संस्कृत के कर्म शब्द का प्राकृत में कम्म हुआ और फिर हिन्दी में काम बना, किन्तु धर्म शब्द का प्राकृत अपभ्रंश में धम्म तो मिलता है किन्तु हिन्दी में धाम न होकर धरम हो गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ध्वनि नियमों में नियमों का वास्तविक गुण जो स्थायित्व है, नहीं पाया जाता। इसी कारण कुछ विद्वान इनको मानने को तैयार नहीं होते और इनको भ्रामक और अशुद्ध कहते हैं। वे केवल इनको ध्वनियों का एक ढंग कहना ही उचित समझते हैं किन्तु इसके विपरीत कुछ विद्वान इनको ढंग अथवा फार्मूला के क्रम में स्वीकार नहीं करते क्योंकि फार्मूला अथवा ध्वनि प्रकृति का कोई भी स्थायित्व नहीं है। उनका मत है कि ध्वनि विकार की जो प्रवृत्ति (ढंग) धीरे-धीरे सफल हो जाती है वही पूर्ण होने पर ध्वनि नियम कही जाती है।

अपवाद और कारण—ध्वनि नियम के अपवाद भी मिलते हैं इन अपवादों के चार कारण हो सकते है सबसे मुख्य कारण सादृश्य है, द्वितीय अन्य भाषाओं से शब्दों का आना, तृतीय अन्य भाषा का शब्द जो अपनी भाषा से मिलता-जुलता है। इसके प्रयोग में आने से चौथे कारण में वे शब्द आ जाते हैं जो ध्वनि नियम मे लागू होने से पूर्व के हैं। उदाहरण के लिये कोट्टपाल को कोट्पाल और फिर कोटाल या कोपाल होना चाहिये था कोटाल बंगला मे मिलता भी है, परन्तु मध्यकाल मे मुसलमानों का शासन आ जाने से फारसी का कोतवाल शब्द आया और उसी ने अपना अधिकार जमा लिया जो नियम का अपवाद है कोट्टपाल=कोट्पाल= कोतवाल।

किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ध्वनि नियमों में स्थिरता का पूर्ण अभाव है। वे अपने-अपने क्षेत्र मे पूर्ण निरंकुश होते हैं, यदि उनमें कुछ अपवाद होते है तो यह उपर्युक्त कारणों के द्वारा ही होते हैं यथा ग्रिम नियमानुसार अंग्रेजी का t (त) जर्मन z (ज) हो जाता है, जैसे Tooth का Zohn अथवा Two का Zwei, परन्तु Stone का Stein ही पाया जाता है। यह नियम का अपवाद प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है क्योंकि नियम t से सम्बंधित हैं, न कि St से। भाषा के विकार में अंध सादृश्य (उपमान) का विशेष हाथ रहता है, इसी से भाषा विकसित होती रहती है। अतः ध्वनि नियमों के निरपवाद होने का सच्चा अर्थ यह है कि यदि मुखजन्य अथवा श्रुतिजन्य विकारो के अतिरिक्त कोई विकार पाये जाते है तो उपमान अपि बाह्य कारणों से उनकी उत्पत्ति समझनी चाहिये। नीचे हम भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वान ग्रिम आदि द्वारा प्रतिपादित ध्वनि नियमों का वर्णन करते हैं। पाणिनि ने अपने शिक्षा अध्याय में ध्वनि की उत्पत्ति के विषय मे लिखा है—

"आत्मा बुद्ध्या मेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया मनः कायग्निमाहन्ति स्वप्रेरयति मारुतम्। मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयते स्वरम् पाः शिक्षा"। "आत्मा बुद्धि-योग से पदार्थों का मनन करके मन को जोड़ता है। बोलने की इच्छा से मन शरीराग्नि पर आघात करता है। वह घातित अग्नि प्राण को प्रेरता है। प्राण फेफड़े में चलता हुआ मन्द स्वर को उत्पन्न करता है।"

ऋग्वेद में भी कहा है 'यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत" ज्ञानी लोगों ने मन से वाणी को किया। ऐतरेय ब्राह्मण में शब्दोच्चारण के विषय में लिखा है—"मनानां वाङपिता वाग्वदति। यां हि अन्यमना वाचं वदति, असुर्यावैसावाक्" ऐ० ब्रा० ६।५।। "···यां वैदृप्तो वदति, यामुन्मत्तः सा वै राक्षसी वाक्" से० ब्रा० ६।७।। अर्थात् इन असुरों की वाक् में उद्विग्न मन और अनभ्यास के कारण शब्दोच्चारण मे अस्पष्टता अथवा म्लेच्छत्व उत्पन्न हुआ आर्य इस दोष से बचे। अपने धर्मग्रन्थो के अनुसार प्राचीनतम काल में संसार के विभिन्न देशों में दैत्य, देव और मानव रहते थे। दैत्य और दानव भी अपने को किसी काल में देव कहते थे। उत्तर काल में भारतीय

मानवों में अथवा आर्यों में असुर नाम से प्रसिद्ध हुए और जो वेदों की आदि भाषा थी उसका अशुद्ध उच्चारण करना ही म्लेच्छपन है और इस उच्चारण दोष ने ही आदि भाषा के दो रूप हुए। म्लेच्छ वाक् के तीन भेद—बावची, मिश्री, भारतीय म्लेच्छ। बावची के चार भाग हुए—पहलवी, ट्यूटानिक, सैमेटिक, कैल्टिक। आर्य वाक् प्राकृत शौरसेनी (म्लेच्छ), भारत-युद्धकालीन संस्कृत से प्राकृत, शौरसेनी मागधी महाराष्ट्री। भारत-युद्धकालीन संस्कृत से पाणिनीय संस्कृत और इससे [illegible] आदि प्राकृत बनी। वर्ण-परिवर्तन एवं ध्वनि विकार के विषय में भरत, पतञ्जलि और भर्तृहरि, वररुचि पाणिनि आदि ने भी थोड़ा बहुत प्रकाश डाला है। उनका मत था कि ध्वनि विकार सर्वदेशीय और सर्वकालीन नहीं हैं। वे निश्चित [illegible] विभिन्न भाषाओं में एक प्रकार के नहीं हुए। इतना अवश्य है कि थोड़ा [illegible] साम्य अवश्य पाया जाता है। ध्वनि तथा वर्ण परिवर्तन के विषय में पाश्चात्य विद्वान ग्रे का कहना है "भाषा विद्या के किसी सिद्धांत ने इतना विवाद खड़ा नहीं किया जितना उच्चारण के ध्वनि अनुरूपता के नियमों के प्रसङ्ग ने। स्थूलतम रूप में इस सिद्धांत ने उच्चारण के अपवादरहित नियम घोषित किया है। इन नियमों की कल्पना में ग्रे महाशय ने ६ प्रतिबन्ध लगाये। उनका कहना था कि निम्नांकित ६ दशाओं के अतिरिक्त ये ध्वनि नियम निरपवाद रूप से काम करते हैं—(१) अन्य भाषाओं से उधार [illegible], (२) सादृश्य, (३) भाषाओं तथा बोलियों का संयोग, (४) शब्दों का अनुकरण, (५) कविता में अलंकारों के कारण गढ़न्त शब्द, (६) ऐसे शब्द जो सर्वथा [illegible] हैं या जो किसी दशा विशेष में कार्यशील होते हैं। अभी यहाँ पर भी बातें विचारणीय हैं। सर्वप्रथम तो यह है कि उच्चारण ध्वनि के नियम इतने नहीं हैं जितना कि उन्होंने स्वीकार किया है। दूसरी बात यह है, उनके ठीक सिद्ध करने के लिए अपवाद लगाए गये हैं। वे भी पूर्ण रूप से उचित नहीं हैं क्योंकि जो ध्वनि [illegible] शब्द उनकी नियमावली के बाहर हुआ उसको बिना किसी प्रकार के प्रमाण के उधार अथवा सादृश्य मान लिया है। ग्रेजों ने लिखा है—

Any other working hypothesis appears destined to resolve linguistics into a congeries of meaningless guesses and to open the way to unbridled fantasies

अर्थात् इसके अतिरिक्त दूसरी कोई काम चलाऊ कल्पना भाषा-विज्ञान को निश्चय ही व्यर्थ अनुमानों के ढेरों में ढकेल देगी और बिना लगाम की असम्भव कल्पनाओं का मार्ग खोल देगी, १३६ पेज भगवद्दत्त भाषा का इतिहास इस ग्रंथ से यह पूर्णतया स्पष्ट है कि ग्रेजो ध्वनि नियम-सम्बन्धी काम चलाऊ कल्पना थी। अतः वह स्वयं अप्रमाणित है, इनके द्वारा जो उपर्युक्त ६ प्रतिबन्ध लगाये गये थे वे भी सम्पूर्ण अपवादों को दूर न कर सके। अतः योरोप के अनेक विचारकों ने इन नियमों को स्वीकार नहीं किया।

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध हुआ कि भरतमुनि ने ग्रिम से कई हजार वर्ष पूर्व ध्वनि विकार सम्बन्धी नियम प्रतिपादित किया जो ग्रिम के नियम से अधिक व्यापक तथा उचित है। उनका यह नियम पूर्ण रूप से प्राकृत भाषाओं पर ही लागू हुआ, अन्य अपभ्रंश भाषाओं पर नहीं। ग्रिम के अनुसार भारोपीय भाषा के क वर्ग का गाथिक, जर्मन और अंग्रेजी में ह, ह्लाट होता है और ग्रीक, लैटिन, संस्कृत में क ही रहता है तथा भारोपीय भाषा का त वर्ण गाथिक, जर्मन, अंग्रेजी में थ हो जाता है, परन्तु वह ग्रीक, लैटिन, संस्कृत में त ही रहता है, किन्तु यह नियम भी सापवाद है। अंग्रेजी आदि भाषाओं में क का संस्कृतवत् क ही रहा है, ह या ह्ल नहीं हुआ।

संस्कृत	अंग्रेजी	ग्रीक
क्रूर	Cruel (क्रूअल)	—
कपाल	Cup (कप)	Cephal (कफल)
कमेल	Camel (कैमेल)	Kamelos (कैमलास
कर्तन	Cutting (कटिंग)	—

यद्यपि संस्कृत आदि भाषाओं में जो 'त' था उसका अंग्रेजी आदि में 'थ' हो गया है, किन्तु सर्वत्र नहीं हुआ—(१) त्रि=Three, (२) तृष्णा=Thirst परन्तु (१) तटाक (तड़ाग) = tank, (२) तरु tree, (३) गर्त Cart, जर्मनी भाषाओं में अष्ट=ahtaw, अस्ति=ist. (गाथिक के दोनों ही हैं) प्राकृत में संस्कृत स्त को थ हो जाता है, स्तन=थण।

ग्रिम-नियम

जेकब ग्रिम जर्मन भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे उन्होंने जर्मन भाषा का एक व्याकरण सन् १८१९ में प्रकाशित किया और उसके दूसरे संस्करण सन् १८२२ में इस नियम को भी उद्धृत किया है। अतः उन्हीं के नाम के कारण इस नियम का नाम भी ग्रिम नियम पड़ा है। विद्वान् लेखक ने इस नियम के द्वारा यह रहस्य खोलने की चेष्टा की है कि किस प्रकार भारोपीय 'स्पर्श' जर्मन भाषा में परिवर्तित हो गये। इसको जर्मन-भाषा का वर्ण परिवर्तन कहते हैं। यह वर्ण परिवर्तन दो बार हुआ प्रथम वर्ण-परिवर्तन ईसा के कई सदी पूर्व हुआ था, दूसरा परिवर्तन उत्तरी जर्मन के लोगों से ऐंग्लो सैक्शन लोगों के पृथक् होने के पश्चात् लगभग सातवीं सदी में हुआ, द्वितीय वर्ण परिवर्तन का सम्बन्ध ट्यूटानिक भाषाओं से हुआ उसका आदिकालीन भारोपीय भाषा से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः प्रथम वर्ण परिवर्तन का ही अधिक महत्व है। आधुनिक विद्वानों ने प्रथम वर्ण परिवर्तन को दो भागों में बाँटा है—(१) सदोष, (२) निर्दोष।

सदोष—सर्वप्रथम ग्रिम ने वैज्ञानिक ढंग से इस वर्ण परिवर्तन पर दृष्टिपात किया।

दोषयुक्त—ग्रिम ने संस्कृत, लैटिन, ग्रीक, अंग्रेजी, जर्मन तथा गाथिक आदि भाषाओं के अध्ययन के आधार पर ध्वनि परिवर्तन के कुछ सामान्य नियम प्रतिपादित किये थे जिनके अनुसार निम्न परिवर्तन हो जाते हैं—

१. संस्कृत, ग्रीक, लैटिन में अघोष, अल्पप्राण का गाथिक, अंग्रेजी, डच आदि निम्न जर्मन भाषाओं में महाप्राण और उच्च जर्मन में सघोष हो जाता है।

२. संस्कृत, ग्रीक आदि का महाप्राण गाथिक, अंग्रेजी आदि में सघोष तथा उच्च जर्मन का अघोष हो जाता है।

३. संस्कृत आदि का सघोष, गाथिक आदि में अघोष और जर्मन में महाप्राण हो जाता है इसी बात को निम्न तालिका से और अधिक स्पष्ट किया जाता है—

भारो० भू० भा०	निम्न जर्मन (गाथिक)	उच्च जर्मन
१. अघोष	महाप्राण	सघोष
२. महाप्राण	सघोष	अघोष
३. सघोष	अघोष	महाप्राण
जैसे (१) क, त, प	ख (ह) थ, फ	ग, द, ब
(२) घ,ध,भ,ख (ह) थ,फ	ग, द, ब,	क, त, प
(३) ग, द, ब	क, त, प	ख (ह) थ, फ, था, घ, ध, भ

अघोष अल्पप्राण

भारो० स०

क, त, प,
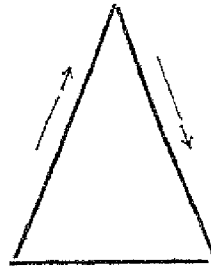
सघोष अल्पप्राण — गाथिक महाप्राण

ग, द ब, उच्च जर्मन ← घ, ध, भ, ख (ह), थ, फ

उपर्युक्त त्रिभुज के तीर चिह्नों के अनुसरण करने से क्रमानुसार इस परिवर्तन को जाना जा सकता है।

इस वर्ण परिवर्तन की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि मूल भाषा केवल संस्कृत, ग्रीक और लैटिन में विभक्त हुई, किन्तु ऐसा नहीं है। ट्यूटानिक में भी यह विकार पाया जाता है। दूसरी बात प्रथम और द्वितीय वर्ण परिवर्तन में लगभग कई शताब्दी ई० का अन्तर है। अतः दोनों को मिलाया नहीं जा सकता है।

निर्दोष—ग्रिम ने लैटिन, ग्रीक, संस्कृत गाथिक, जर्मन, अंग्रेजी आदि भाषाओं के शब्दों की तुलना करके यह सिद्ध किया था कि किस प्रकार जर्मन वर्ग की भाषाओं में मूल भारोपीय व्यंजनों का विकास संस्कृत ग्रीक आदि की अपेक्षा भिन्न प्रकार से हुआ था। यहाँ संस्कृत और अंग्रेजी के उद्धरणों द्वारा इस तथ्य को स्पष्ट किया जाता है—

	संस्कृत	अंग्रेजी	
महाप्राण	धा	do	अल्पप्राण
सघोष	द्वि	two	अघोष
अघोष	पाद	foot	महाप्राण
	कः	who	
	पुरु	full	
महाप्राण	भ्रातृ	brother	अल्पप्राण
	पितृ	father	
	त्रि	three	
	मातृ तनु	mother thin	
सघोष	दशम्	ten	अघोष
सघोष	गो	cow	अघोष
	विधवा	widow	
	धूम	dust	
महाप्राण	हंस	goose	अल्पप्राण
	दुहिता	daughter	

यहाँ उपर्युक्त उदाहरणों—प, का फ्, क का ह्, भ् से ब्, त् से थ्, द् से त, ग् से क्, घ से द्, ह् से ग् हो गया है। अतः ग्रिम ने इस निष्कर्ष को निकाला—

संस्कृत—क, त, प } ग, द, ब } घ, ध, भ हो जायेगा
अंग्रेजी—ह, थ, फ } क, त, प } ग, द ब

इस नियम के दोष के विषय में ऊपर लिखा जा चुका है। इसकी प्रमुख त्रुटि यह भी है कि इसकी सीमाओं का निर्धारण ग्रिम ने नहीं किया क्योंकि कभी-कभी किन्हीं विशेष दशाओं में ध्वनि-नियम किन्हीं विशेष ध्वनियों पर लागू होता है और कहीं नहीं, जैसे संस्कृत ग्रीक के क, त, प का अंग्रेजी में ख (ह) थ, फ होना चाहिए, किन्तु कुछ शब्दों का ग, द, ब मिलता है यथा go, dumb, body भी पाया जाता है, फिर भी यह नियम किन्हीं अंशों तक महत्वपूर्ण है।

ग्रासमान का नियम

इस अपवाद का निराकरण ग्रासमान ने किया। इनका समय (१८०९-१८७७ ई०)। विभिन्न भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा उन्होंने इस निष्कर्ष को निकाला कि संस्कृत तथा ग्रीक भाषाओं में यह नियम है कि एक शब्द में दो अव्यवहित सोष्म स्पर्श वाले अक्षरों में से प्रथम निरूष्म स्पर्श वाला हो जाता है अर्थात् यदि दोनों शब्द महाप्राण होगें तो इन भाषाओं में प्रथम शब्द अल्पप्राण हो जाता है जैसे संस्कृत में दधामि, बभार, बभूव आदि में धा तथा भृ, ब, भू धातुओं के ध, और भ् के स्थान में द् और ब् हो गये हैं। इसी प्रकार हु धातु का हुहोति न बनकर जुहोति बनता है। इसी प्रकार आजुहाव निष्पन्न होता है।

इसी नियम से यह भी अनुमान किया जाता है कि भारोपीय मूल भाषा की अवस्था में संस्कृत की बुध् तथा दभ् धातुओं में प्रारम्भ के वर्ण महाप्राण भ् और ध् रहे होगें। उच्चारण में सुविधा के कारण बाद में प्रथम को अल्पप्राण बना लिया गया होगा। अतः मौलिक भ, ध् के स्थान में गाथिक यानी अंग्रेजी आदि भाषाओं में ब, द, b, d का होना ग्रिम के नियमसंगत ही है।

वेर्नर का नियम (१८४६-१८९६)

ग्रासमान द्वारा निराकरण करने के बाद भी कुछ ऐसे अपवाद रह जाते हैं, जैसे संस्कृत ग्रीक के शब्दो मे जहाँ K. T. P. देखे जाते है उनके स्थान पर ग्रिम नियम के विरुद्ध गाथिक आदि में ग, द, ब भी देखा जाता है।

	संस्कृत	लैटिन	गाथिक	ग्रीक	इंगलिश
T.	शतम्	Sentum	hund	hebaton	hundred
P	लिम्पामि	Lippus	bi-biba	lipares	be life
S.	सप्तम्	Septem	Sibum	...	Seven
H.	केतु:	Hardus	halsaggas (heit)		
	श्वश्रू		Smigar		

इस प्रकार के रूप बनते हैं और इनका समाधान ग्रासमान के नियमों से भी नहीं होता है। अतः इस समस्या के समाधान के लिये वेर्नर ने एक तीसरा नियम बनाया। जब शब्द के मध्य में आने वाले क् त् प् और स के अव्यवहित पूर्व में यदि मूल भाषा में कोई उदात्त स्वर रहता है तब उनके स्थान में H, Th, F और S. आते हैं अथवा उदात्त स्वर के पश्चात् आने पर उनके स्थान में ग, द, ब, र हो जाते है। भारोपीय स्वरों का निश्चय संस्कृत अथवा ग्रीक से ही होता है क्योंकि इन्हीं दोनों भाषाओं में उदात्तादि स्वर रक्षित हैं ऊपर के दिये हुए उदाहरणों में शतम्, लिम्पामि तथा सप्तम् आदि के त, प, स, के पीछे (=पर में) उदात्त स्वर आया है। अतः इनमें ग्रिम नियम के अनुसार परिवर्तन नहीं होगा। इन नियमों के विरुद्ध जो उदाहरण मिलते हैं। उनका कारण मिथ्या सादृश्य है, जैसे 'भ्राता' में 'त' के पूर्व में

उदात्त है। अतः 'brother' रूप होना चाहिए जो ठीक है पर पिता, माता में त के पूर्व में उदात्त नहीं है। अतः fadar, modar होना चाहिए परन्तु father और mother मिलते हैं जो brother की तरह मिथ्या सादृश्य ही है।

तालव्यभाव नियम

भारोपीय मूल भाषा के कण्ठ स्थानीय स्पर्श जिनके आगे कोई तालव्य स्वर आता था भारत-ईरानी भाषा-वर्ग में तालव्य व्यंजन के रूप में परिवर्तित हो गये और जहाँ ऐसा नहीं था वहाँ स्थानीय स्पर्श रहे। यह बाद के ब्रुगमन आदि भाषाविदों का विचार है जो संस्कृत से भी पूर्व मूल भाषा की कल्पना करते हैं और उसमें अ, इ उ, के अतिरिक्त ए, ओ, आदि को भी मूल स्वर मानते हैं और उनका कहना है कि मूल भाषा की ए, ओ ध्वनि ग्रीक लैटिन में ज्यों की त्यों रही किन्तु संस्कृत मे केवल उनके स्थान पर अ ही रह गया है, किन्तु यह केवल कल्पित धारणा है क्योंकि पाश्चात्य विद्वान ग्रीक तथा लैटिन से संस्कृत की अति प्राचीनता को मानने में हिचकिचाते हैं। इसका अनुसरण कुछ भारतीयों ने भी किया है। वस्तुतः बात ऐसी है कि प्रारम्भिक काल में भाषा-वैज्ञानिकों के विचारानुसार संस्कृत के जिन शब्दो में 'अ' स्वर का प्रयोग हुआ है उसी के स्थान में ग्रीक और लैटिन में ए और ओ का प्रयोग है और इस प्रकार यह संस्कृत के 'अ' का ही विकृत रूप है। यथा—

सं०	ग्रीक	लैटिन	अंग्रेजी
अस्ति	esti	est	is
जनः	genos	geniis	

इसका कारण उच्चारण की अपूर्णता ही है। ग्रीक आदि लोग 'अ' का उच्चारण 'ए', 'ओं' ही कर पाये। अतः 'अ' विकारयुक्त हो गया। इसके पुष्टिकरण के लिये कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं—

सं०	ग्रीक
मधु	मेथु Methu
मथुरा	मद्दुरा मेथोरा Methora
माही	मोफिस Mophis
शतद्रु	हेजिड्स Hesidrus, Jadodros

यहाँ क, कै, अ का ए, मा, की 'मा' का 'ओ' तथा शतद्रु के 'श' को 'ह' और 'अ' को ए हो गया है। कुछ विद्वानों ने नाम होने के कारण अस्वीकार किया है किन्तु 'ग्रे' साहब का कहना इस मत के पक्ष में द्रष्टव्य है कि अनेक प्राचीन रूप नामों में ही सुरक्षित हैं जबकि अन्यत्र लुप्त हो गये हैं, यथा 'Propes names frequently preserves archaic features which elx whese have disappeared."

संस्कृत की अ ध्वनि ग्रीक लैटिन में ही क्या उच्चारण की असावधानता के कारण प्राकृत और अपभ्रंश आदि में भी ए और ओ हो गई है।

संस्कृत	प्राकृत
अत्र	एत्थ
अधस्थ	हेठ
अवकाश	ओआस

इस तथ्य को आपिशालि ने बहुत पहिले अभिव्यक्त किया था। 'अ' उच्चारण अनेक दशाओं में इ, उ, ए, ओ आदि में बदल जाता है। जैसे—

सं०	लैटिन	प्रा० लिथूनियम	स्लैवानिक
अग्निः	इग्निस्	उङनिस	ओग्नि

अन्यत्र भी—

सं०	ग्रीक	लैटिन
पद	पोद	पेदिस्

इस नियम की पुष्टि करते हुए मैक्समूलर ने स्वीकार किया है कि संस्कृत की 'अ' ध्वनि ही अन्य भाषाओं में 'ए' और 'ओ' हो गई है। अतः किसी मूल भाषा की कल्पना करके यह मानना कि मूल ध्वनि 'ए' और 'ओ' का ही संस्कृत में अ हो गया है, व्यर्थ है क्योंकि अति प्राचीन संस्कृत में भी ह्रस्व ए ओ ध्वनि विद्यमान है।

वस्तुतः देखा जाय तो ग्रीक, लैटिन, जर्मन, फ्रेन्च, अंग्रेजी आदि योरोपीय तथा प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, गुजराती, मराठी, आदि भारतीय भाषाओं में मूल संस्कृत भाषा से जो ध्वनि परिवर्तन हुए हैं उनको पूर्णरूपेण किसी एक नियम में नहीं बाँधा जा सकता। केवल कुछ ध्वनि परिवर्तनों में समता देखकर भाषा वेत्ताओं ने नियम बना लिये हैं। इन ध्वनि परिवर्तनों का प्रमुख कारण उच्चारण की अपूर्णता ही है। अतः जैस्पर्सन का कहना युक्तिसंगत है—

जैस्पर्सन—"But I want to point out the fact that nowhere have I found any reason to accept the theory that sound changes always take place according to rigorous or blind laws admitting no exceptions".

अर्थात्—परन्तु मैं इस तथ्य का संकेत कर देना चाहता हूँ कि मैंने कभी भी ऐसा कारण नहीं पाया कि इस बात को स्वीकार करूँ कि ध्वनि-परिवर्तन सदा कड़े नियमों के अनुसार होता है और उसमें अपवाद नहीं होते हैं।

ध्वनि परिवर्तन के कारण

गतिशीलता ही जीवन की साक्षी है। परिवर्तनशील होना संसार की प्रत्येक वस्तु का स्वाभाविक गुण है क्योंकि स्वयं यह जगत ही प्रगतिशील और नश्वर है। अतः इससे सम्बन्धित सभी सत्तायें शाश्वत रूप में विद्यमान नहीं रह सकतीं। प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है और नष्ट होती है। प्रति क्षण प्रति ऐहिक वस्तु में परिवर्तन होता रहता है। यही भारतीय शून्यवाद का अटल सिद्धान्त "इदम् सर्व यद् किञ्च जगत्यां जगत्" द्वारा स्पष्ट है। भाषा का सम्बन्ध भी इस संसार में रहने वाले मानव से है। अतः भाषा का परिवर्तनशील होना प्राकृतिक है। भाषा भी वही जीवित मानी जाती है जो निरन्तर परिवर्तन चक्र में घूमती रहती है। इतना अवश्य है कि भाषा में परिवर्तन अन्य वस्तुओं के समान शीघ्र नहीं होता है। इसमें परिवर्तन बडे धीमे-धीमे होता है जो कालान्तर के बाद प्रतीत होता है। भाषा में परिवर्तन साधारणतया रूप सम्बन्धी, अर्थ सम्बन्धी तथा ध्वनि सम्बन्धी हुआ करते हैं। इन तीनों में ध्वनि सम्बन्धी परिवर्तन अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। भाषा की परिवर्तनशीलता इन्हीं पर आधारित रहती है। यहाँ हम केवल ध्वनि परिवर्तन के प्रधान कारणों का विवेचन करते है।

यदि ध्वनि परिवर्तनों के कारणों को देखा जाय तो उनकी संख्या बहुत है तथा उनका सामान्य विभाजन करने से सुविधा रहेगी। ध्वनि विकार दो प्रकार के होते हैं—प्रथम आभ्यान्तर (भीतरी) विकार होते हैं और द्वितीय बाह्य कारण होते है। जैसे किसी देश की सामाजिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक आदि परिस्थितियाँ। आन्तरिक कारणों का सम्बन्ध वक्ता के व्यक्तित्व से होता है। इन दोनों कोटियों में आने वाले विकारों का हम पृथक्-पृथक् वर्णन करते हैं—

(क) आन्तरिक कारण—ध्वनि परिवर्तन के आन्तरिक कारणों के भी दो भेद हैं—मुखगत, दूसरा श्रुतिगत। प्रत्येक ध्वनि मुख से उच्चरित होती है और श्रवण द्वारा उसका ग्रहण होता है। अतः वक्ताओं और श्रोताओं के कारण इनमें परिवर्तन होता रहता है।

(अ) वक्तागत कारण—

(१) वाक्यंत्र की विभिन्नता—किन्हीं भी दो व्यक्तियों का वाक्यंत्र पूर्णतः समान नहीं होता। इसी कारण एक व्यक्ति के उच्चारण में दूसरा कुछ परिवर्तन कर लेता है फिर तीसरा उसमें कुछ और परिवर्तन कर लेता है और इस प्रकार बहुत कुछ परिवर्तन होता रहता है जो सहसा प्रत्यक्ष रूप से दिखाई नहीं पड़ता है। इसी के फलस्वरूप ऋ और रि तथा श और ष के उच्चारण में अभेद हो गया है। इसी वाक्यंत्र की भिन्नता के कारण एक व्यक्ति दूसरे का अनुकरण पूर्णतः नहीं कर पाता। यदि एक व्यक्ति जो पढ़ा लिखा नहीं है यदि किसी शिक्षित व्यक्ति से कनैक्शन शब्द सुनता है तो वह उसे कनक्शन बना लेता है। ऐसे शब्द बहुतायत

दिखलाई पड़ते हैं। इस अनुकरण की अपूर्णता के और भी निम्नलिखित कारण हैं। यह अनुकरण की अपूर्णता: श्रोता और वक्ता दोनों से ही सम्बन्ध रखने वाली है।

(i) **अज्ञान**—इस अनुकरण की अपूर्णता का मुख्य कारण अज्ञान है। किसी भी शब्द का वह चाहे देशी हो अथवा विदेशी, यदि उसका अर्थ ठीक प्रकार से ज्ञात नहीं होता अथवा बिल्कुल नहीं जानते ऐसी दशा में अज्ञान के कारण वह शब्द अशुद्ध उच्चरित होने लगता है, जैसे कम्पाउन्डर का कम्पोटर, डाक्टर का डाकधर और इसी प्रकार के परिवर्तन हैं।

(ii) **भ्रामक व्युत्पत्ति**—इस अज्ञान के कारण ही बहुधा भ्रामक शब्दों की व्युत्पत्ति कर ली जाती है। इसमें प्रायः ऐसा देखा जाता है कि जब कोई विदेशी शब्द जिसका ज्ञान नहीं होता, परन्तु व्यवहार में आ जाता है और प्रयुक्त होने लगता है, ऐसी दशा में उस शब्द का उच्चारण अपनी भाषा में मिलते-जुलते शब्द के अनुसार कर लिया जाता है और उसका अर्थ भी अपनी के अनुकूल ही कर लिया जाता है, यथा—अरबी का इन्तकाल तदनुरूप हिन्दी में अन्तकाल बन गया। गुजराती में व्हेल शब्द बैलगाड़ी के लिए आता है। रेलवे का उसी व्हेल से सम्बन्ध जोड़ गुजराती लोग वेल-वेल कहने लगे। लाइब्रेरी का रायबरेली हो गया (आदि शब्द हैं)।

(iii) **प्रयत्न लाघव, मुख-सुख या उच्चारण सुविधा**—ध्वनि-परिवर्तन का प्रधान कारण यही है कि भाषा साध्य न होकर विचारों की अभिव्यक्ति का साधन है। अतः प्रत्येक वक्ता यह चाहता है कि कम से कम प्रयास के द्वारा अधिक से अधिक बात कह दे। इस सुविधा एवं शीघ्रता के कारण शब्दों की ध्वनि ही में अनेक परिवर्तन हो जाते हैं। इसमें वक्ता की शारीरिक और मानसिक असुविधा ऐसा करवाती है। इसलिए योग्य और संस्कृत वक्ताओं की भाषाओं में यह ध्वनि-विकार नहीं मिलता जितना कि स्त्री और बच्चों की ध्वनियों में मिलता है क्योंकि वे भाषा को मधुर और कोमल बनाने का प्रयत्न करते हैं तथा अंग्रेजी के टाक, वाक, नाइट, लाइट, साइट, Talk, Walk, Night, Light, Sight आदि। गोविन्द का गोविन्द, सपत्नी का सौत आदि। मुख-सुख अथवा प्रयत्न लाघव का वास्तविक अर्थ है उचित शिक्षा अथवा संसर्ग के अभाव और अवयव-दोष से होने वाली वह प्रवृत्ति जो उच्चारण को सरल बना लेती है। वास्तव में यह भी अपूर्ण अनुकरण के कारण ही होता है।

(IV) **भावुकता एवं बनकर बोलना**—कभी-कभी भावुकता के वशीभूत होकर शब्दों के उच्चारण बदल दिये जाते हैं। प्रायः प्रेमाधिक्य के कारण ही ऐसा होता है। प्रेम में ही व्यक्ति भावुक हो जाता है। उदाहरण के लिए चाची से चचिया, चच्ची, बेटी से बिटिया, बिट्टो (रानी), सावित्री से सवितिया, सावो आदि। इसी प्रकार कभी-कभी मद में आकर मनुष्य बनकर बोलने लगते हैं। प्रायः देखा जाता है कि वक्ता अपने को चतुर और फुर्तीला दिखाने के लिए बेनो और बाइयो (बहनों,

भाइयो, का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार के उदाहरण नित्य प्रति के जीवन में बहुत मिलते हैं, पर इनका ध्वनि पर स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता है।

(ब) श्रोतागत कारण

अनुकरण की अपूर्णता ध्वनि-परिवर्तन का मुख्य कारण है इसके कुछ कारणों का हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं जिनका सम्बन्ध वक्ता से है, परन्तु कुछ ऐसे कारण भी हैं जो उसके श्रोता रूप से सम्बन्धित हैं।

(i) **श्रवणेन्द्रिय में त्रुटि**—जब मनुष्य किसी ध्वनि को उचित रूप से सुन नहीं पाता तो उसका ठीक उच्चारण भी नहीं कर सकता। इसका कारण भी अज्ञान अथवा शीघ्रता हो सकता है।

(ii) शीघ्रता—कभी-कभी शीघ्रता में होने के कारण शब्द को पूर्णतः सुनने की चेष्टा नहीं की जाती और जल्दी में जो ग्रहण कर लिया जाता है वही वाणी द्वारा प्रस्तुत होने लगता है। कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि जान-बूझकर भी शीघ्रता की जाती है, यथा मार डाला का माड्डाला। इस प्रकार की प्रवृत्ति शहरी मुसलमानों में अधिक पायी जाती है, यथा—कहाँ जा रहा है का क्या जा रिहा है। खाना खाकर आया हूँ को खाना खाई आया, उन्होंने कहा था का उन्नें किहा था आदि।

(स) बाह्य कारण—उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी कारण होते हैं जिनका वक्ता या श्रोता के व्यक्तित्व से कोई सम्बन्ध नहीं होता वरन् किन्हीं बाह्य परिस्थितियों पर आधारित होते है अथवा किसी भाषा विशेष की प्रवृत्ति विशेष से सम्बन्ध रखते हैं। इसमें प्रमुख कारणों को हम निम्नांकित प्रस्तुत करते है—

(१) **भौगोलिक प्रभाव**—भौगोलिक परिस्थिति का ध्वनि-विकार पर बहुत प्रभाव पड़ता है। यदि कोई जाति किसी ऐसे स्थान पर रहती है जहाँ पर अन्य जातियों से सम्पर्क कम हो पाता है तो उनकी भाषा में ध्वनि परिवर्तन कम होंगे। यदि किसी देश की जाति दूसरे देश में चली जाती है तो उसके उच्चारण में भेद हो जाता है। यथा संस्कृत का 'स' ईरानी में 'ह' और बंगला में 'श' हो जाता है, सप्ताह का हप्ताह। इसी प्रकार प्राचीन काल में जो भेद भारोपीय भाषा तथा संस्कृत की ध्वनियों में पाये जाते हैं उनका भौगोलिक परिस्थिति भी एक बड़ा कारण थी। इस प्रकार जलवायु के परिवर्तन से ध्वनियों में बहुत कुछ विकार हो जाते हैं।

(२) **सामाजिक प्रभाव**—भाषा सामाजिक वस्तु है। समाज की अवस्था के अनुकूल भी ध्वनियों का परिवर्तन होता रहता है। यथा समाज में किसी कारण से दुःख की अवस्था होती है तो लोग धीमे-धीमे अधिक बोलते हैं। इस प्रकार वहाँ संवृत की अधिक प्रवृत्ति हो जाती है। यदि संघर्ष का वातावरण होता है तब शीघ्रता में मनुष्य गलत-सलत बोलकर ही काम चलाते हैं क्योंकि शुद्ध बोलने का अवकाश

ही नहीं मिलता है। इसके विपरीत जहाँ शान्तिमय वातावरण होता है वहाँ विद्या व्यसन अधिक होता है, लोगों का उच्चारण शुद्ध होता है और परिवर्तन कम होते हैं। संस्कृत भाषा का विशाल वाङ्मय ऐसे ही समय का है।

(३) **ऐतिहासिक प्रभाव**—ध्वनि के उच्चारण में ऐतिहासिक वातावरण का भी पूर्ण प्रभाव पड़ता है। भारतीय भाषाओं में मूर्धन्य ध्वनियाँ कहाँ से आ गयी इसके लिए हमें इतिहास से ही पता चलता है। यद्यपि भारोपीय भाषा में मूर्धन्य ध्वनियां नहीं थीं किन्तु ये द्रविड़ संसर्ग से प्राप्त हुई। इतिहास से यह भी पता चलता है कि जिस भाषा के वक्ता विदेशियों विजातियों से अधिक मिलते-जुलते हैं उसी भाषा की ध्वनियों में अधिक विकार होते हैं। इस विजाति संसर्ग के अतिरिक्त सांस्कृतिक भेद भी भाषा में विभेद उत्पन्न करता है।

(४) **अन्य भाषाओं का प्रभाव**—जब विभिन्न भाषा-भाषियों का आपस मे सयोग होता है तो उनकी ध्वनि पर एक दूसरे का प्रभाव पड़ता है और ध्वनियो मे परिवर्तन हो जाते है, यथा मुसलमानों और अंग्रेजों के आने से हमारी प्राचीन ध्वनियों में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया।

(५) **लिपि के कारण**—कभी-कभी लिपि के कारण भी ध्वनियों में परिवर्तन देखा जाता है। मध्यकाल में ख में 'र' और 'व' ध्वनियों का भ्रम हो जाने के कारण उसे 'ष' लिखा जाने लगा था। बाद में ष का उच्चारण ही ख हो गया, यथा—वर्षा का बरखा, भाषा का भाखा, आदि अंग्रेजी में Gupta और Mishra आदि में अन्तिम a के कारण हिन्दी में गुप्त और मिश्र का गुप्ता और मिश्रा हो गया। वैदिक भाषा में भी यज्ञेन यज्ञमन्त का जज्जेन जज्जमन्त उच्चरित होता है।

(६) **शब्दों की लम्बाई के विस्तार में कमी**—शब्दों की लम्बाई जब अधिक विस्तृत होती है तब सुगमता के कारण उसका छोटा रूप बना लिया जाता है और ऐसा करने से ध्वनि परिवर्तन के कारण शब्द अपने वास्तविक रूप को छोड़कर कुछ का कुछ हो जाता है, यथा उपाध्याय जी का 'झा', शुक्ल दिवस के लिए सुदी Post and Telegraph के लिए P. T. आदि। बहुधा ऐसा स्वराघात शीघ्रता तथा सुविधा के कारण ही होता है।

(७) **सादृश्य**—कुछ शब्दों में सादृश्य के कारण परिवर्तन हो जाते है जैसे दुक्ख के आधार पर सुक्ख में भी 'क्' का आगम हो गया। द्वादश के सादृश्य पर एकदश का एकादश हुआ। कुछ आगम छन्द और मात्रा के कारण भी होते हैं, यथा प्राकृतों में कमा काम हो जाता है इसको हम मिथ्या सादृश्य अथवा अन्ध सादृश्य भी कह सकते हैं।

उपर्युक्त कारणो के अतिरिक्त भी ध्वनि-विकार के कारण कुछ निम्नांकित हैं—

(१) **बलहीन व्यञ्जन**—जिन शब्दों में बलहीन व्यंजन अधिक होते हैं उनमे ध्वनि परिवर्तन अधिक होते है। बली व्यंजन व्यंजनों को संघर्ष में परास्त कर उनको निकाल देते हैं।

(२) **विदेशी ध्वनि का अपनी भाषा में अभाव**—काव्य में कविगण अनेक शब्दों को तुकभाषा, कोमलता आदि के कारण तोड़ मरोड़ डालते हैं। हिन्दी के रीतिकालीन कवियों के काव्यों में यह प्रवृत्ति बहुत पायी जाती है।

(३) **स्वराघात**—जिस ध्वनि पर स्वराघात होता है वही ध्वनि से विकृत हो जाती है। यथा कुष्ठ से कोढ़ यहाँ पु पर स्वराघात हुआ है।

अंध विश्वास के कारण भी ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है।

ध्वनि परिवर्तन के कारणों पर विचार करने के बाद हम अब यह दिखाना चाहते हैं कि ध्वनियों में परिवर्तन की दिशायें कितने प्रकार की होती हैं अथवा ध्वनि परिवर्तन के भेद क्या-क्या हैं ?

ध्वनि परिवर्तन की दिशायें अथवा भेद— ध्वनि परिवर्तन मुख्यतया दो प्रकार का होता है प्रथम Unconditional अथवा स्वयम्भू इसके विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता, जैसे अकारण अनुनासिकता का नियम। यद्यपि अकारण तो कुछ भी नहीं होता, परन्तु फिर भी उसका कारण अज्ञात होने के कारण स्वयम्भू ही कहा गया है। दूसरे को Conditional अथवा परोद्भूत कहते हैं। सामान्यतया द्वितीय प्रकार के परिवर्तन ही ध्वनियों में अधिक पाये जाते हैं। इन ध्वनि विकारों के मुख्य-मुख्य भेदों का वर्णन हम करते हैं।

(A) **मात्रा भेद**—शब्दों के कभी स्वर ह्रस्व से दीर्घ हो जाते हैं और कभी दीर्घ से ह्रस्व हो जाते हैं। यथा—

ह्रस्व से दीर्घ—प्रिय=पीय, अक्षत=आखत, कंटक=काँटा आदि।

दीर्घ से ह्रस्व—आश्चर्य=अचरज, वानर=बन्दर, आषाढ़=असाढ़ आदि।

(B) **लोप**—यह व्यंजन और स्वर दोनों में ही होता है। यह तीन प्रकार से होता है—आदि, मध्य और अन्त। निम्नांकित हम इसके भेदों को स्पष्ट करते हैं—

(क) स्वर लोप

(१) **आदि स्वर लोप**—अनाज=नाज, अहाता=हाता, उपायन=बायन।

(२) **मध्य स्वर लोप**—बलदेव=बल्देव, गरदन=गर्दन, तरबूज=तर्बूज।

(३) **अन्त्य स्वर लोप**—प्रायः इस प्रकार का लोप बोल-चाल के शब्दों में पाया जाता है यद्यपि लिखने में कभी नहीं देखा जाता—

आम=आम्, तिल=तिल्, बाहु=बाँह, जाति=जात, दाम=दाम्।

(ख) व्यंजन लोप

(१) **आदि व्यंजन लोप**—श्मसान=मसान, स्थाली=थाली, स्थान=थान। अंग्रेजी में भी उच्चारण की कठिनाई के कारण बोलने में आदि व्यंजनों का लोप देखा जाता है, यथा—Knife=Nife, Know=No, Write=Rite आदि।

(२) **मध्य व्यजन लोप**—भोजन—भोअण, सूची—सुई, घर द्वार=घर बार। अंग्रेजी में भी ऐसा मिलता है daughter, sight, brought, caught.

(३) **अन्त्य स्वर लोप**—कति=कइ, प्रिय=पिऊ, पुनर=पुण, यावत=**जब**।

(ग) अक्षर लोप

अक्षर का लोप स्वर+व्यंजन से है। कभी शब्दों में पूरे-पूरे अक्षरों का भी लोप हो जाता है। ऐसा अधिकतर उच्चारण की सुविधा के कारण भी हो जाता है। सस्कृत की धातुओं के रूप में ऐसा ही लोप पाया जाता है। यथा 'हा' धातु के लोट् लकार के मध्यम पुरुष के एक वचन मे जहीहि और जहि दो रूप होते हैं। इसमें जहीहि की हि का लोप हो जाने से ही 'जही' बना है। अक्षर लोप भी चार प्रकार का होता है—

(१) **आदि अक्षर लोप**—त्रिशूल=शूल, शहतूत=तूत, defence=fence।

(२) **मध्य अक्षर लोप**—शष्पपिंजर=शष्पिञ्जर, वितास्ति=बीता।

(३) **अन्त्य स्वर लोप**—माता=मा, मौक्तिक=मोती, सपादिक=सवा।

(४) **समाक्षर लोप**—इसमें यदि एक या अधिक दो बार अक्षर साथ-साथ आते हैं तो एक का लोप हो जाता है। ऐसा सभी भाषाओं में होता है। कानकटा=नकटा, खरीददार=खरीदार, सुके-केले=सुकेले। Part-tune=Partune, समान अक्षरों में भी ऐसा हो जाता है। मधुदुध=मदुध, आदत्त=आत्त, पर्यंक ग्रन्थि=पलत्थी।

(C) **आगम**—कभी-कभी शब्दों में नई ध्वनियाँ आ जाती हैं। आगम भी स्वर-व्यंजन दोनों में ही होता है। यह भी आदि, मध्य, अन्त्य, सम चार प्रकार का होता है।

(च) स्वरागम

(१) **आदि स्वरागम**—स्कूल=इस्कूल, स्तबल=अस्तबल, स्नान=अस्नान।

(२) **मध्य स्वरागम**—मर्म=मरम, कर्म=करम, जन्म=जनम।

(३) **अन्त्य स्वरागम**—स्वप्न=सपना, करतूत्=करतूति, प्रिय=प्रिया।

(४) **सम स्वरागम या अपनिहित**—कुछ शब्दों में मुख-सुख के लिए शब्द के आरम्भ या मध्य में ऐसे स्वर की आवश्यकता पड़ती है जो बाद में आया हो अर्थात् एक स्वर पहले से रहता है और फिर वही उसके पूर्व आ जाता है। इस प्रकार सम स्वर का आगम हो जाता है। इसे स्वर-भक्ति भी कहते हैं। यह प्रवृत्ति अवेस्ता मे अधिक मिलती है। संस्कृत भवति (Bhavti) का अवेस्ता (Bhavaiti), संस्कृत तरुण Taruna का अवेस्ता Tauruna इन दोनों में वे ही स्वर आये हैं जो पहले से वर्तमान हैं। कभी-कभी वही स्वर न आकर उसकी प्रकृति अग्र, पश्च आ जाती है।

स्टेशन=इस्टेशन, स्थिति=इस्थिति, स्त्री=इस्त्री, ऐसा अधिकतर उच्चारण मे होता है, लिखने में इस तरह नहीं लिखा जाता।

(च) व्यंजनागम

(१) आदि व्यंजनागम—ओष्ठ = होंठ, अस्थि = हड्डी, औरंगजेब = नौरंगजेब।

(२) मध्य व्यंजनागम—विष्ण इह = विष्णु विह्न, सुन्दरी = सुन्दरी, सुमन = सम्मन। निरर्थक — निरर्थक

(३) अन्त्य व्यंजनागम—भौं = भौंह, छाया = छाँव = छाँवह, कल = कल्ह।

(D) विपर्यय—जब शब्दों के वर्णों का आपस में स्थान परिवर्तन हो जाता है उसे विपर्यय कहते हैं। यह भी स्वर, व्यंजन एवं अक्षर तीनों में हो होता है। इसके दो भेद हैं—पार्श्ववर्ती और दूरवर्ती।

(अ) स्वर-विपर्यय

(१) **पार्श्ववर्ती स्वर-विपर्यय**—कछु = कुछ, उल्का = लूका, अग्निका = इमली।

(२) **दूरवर्ती स्वर-विपर्यय**—फाटक = फटका, पागल = पगला।

(ब) व्यंजन-विपर्यय

(१) **पार्श्ववर्ती व्यंजन-विपर्यय**—चिह्न = चिन्ह, गृह = घर, ब्रह्म = ब्रह्म।

(२) **दूरवर्ती व्यंजन-विपर्यय**—जलेबी = जबेली, वाराणसी = बनारस, नुक्सान = नुस्कान, तमगा = तगमा।

(स) अक्षर विपर्यय

(१) **पार्श्ववर्ती अक्षर-विपर्यय**—मेहनत = मेनहत, चाकू = काचू।

(२) **दूरवर्ती अक्षर-विपर्यय**—लखनऊ = लखलऊ, मतलब = मनतल, पहुँचना = चहुँपना, बताशा = बशाता।

इसके अतिरिक्त एकांकी विपर्यय और आद्य शब्दांश विपर्यय और होते हैं, परन्तु ऐसे शब्दों का भाषा पर स्थायी प्रभाव नहीं रहता है।

(E) संधि और एकी भाव—भाषा में अनेक ध्वनि विकार सन्धि द्वारा होते हैं, यथा स्थविर से थइर बना फिर थेर हो गया। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में मध्य व्यंजन लोप होने से यह बहुत होता है यथा—चर्मकार = चम्म आर = चमार, मयूर = मऊरो = मऊर = मोर, वचन = वअण = वयणु = बैन = या वयन, सपत्नी सवतु = सउत = सौत, चामर = चँवर = चउर = चौर।

(F) सावर्ण्य या समीकरण—इसमें एक ध्वनि दूसरी से प्रभावित करती है कभी कोई वर्ण दूसरे वर्ण को सजातीय बना लेता है। इसे सावर्ण्य कहते हैं और कभी उसे विजातीय बना देता है उसे असावर्ण्य कहते हैं। सावर्ण्य भी स्वर और व्यंजन दोनों प्रकार का होता है। स्वर और व्यंजनों में भी पुरोगामी और पश्चगामी दो भेद किये गये हैं।

(त) स्वर सावर्ण्य

(१) **पुरोगामी स्वर सावर्ण्य**—जुल्म = जुलुम, सुरज = सुरुज, पिपीलिका = पिपिलिका

(२) **पश्चगामी स्वर सावर्ण्य**—अंगुलि = उंगली, इक्षु = ऊख।

(थ) व्यंजन सावर्ण्य

(१) **पुरोगामी**—चक्र=चक्क, मुक्त=मुक्क, व्याघ्र=वग्घ, वज्र=वज्ज ।

(२) **पश्चगामी व्यंजन सावर्ण्य**—कर्म=काम, सप्त=सत्त, खड्ग=खग्ग, भुक्त=भुत्त, दुग्ध=दुद्ध, शर्करा=शक्कर ।

इन दोनों के भी दूरवर्ती और पार्श्ववर्ती दो भेद किये जाते हैं—

(G) **असावर्ण्य या विषमीकरण**—सावर्ण्य से यह उलटा है। पास-पास आने वाले दो समवर्णों के उच्चारण में कभी-कभी असुविधा होती है। अतः उनमें से एक ध्वनि के बदल जाने से वे असवर्ण हो जाती हैं। इसी को विषमीकरण कहते हैं। यह भी स्वर और व्यंजनों में पुरोगामी और पश्चगामी भेदों के साथ होता है।

व्यञ्जन विषमीकरण

(१) **पुरोगामी व्यंजन विषमीकरण**—लांगल=[illegible], काक=काग, कंकण=[illegible]।

(२) **पश्चगामी व्यंजन विषमीकरण**—नवनीत=लवनी (लौनी), दरिद्र=दलिद्दर ।

स्वर विषमीकरण

पुरोगामी स्वर विषमीकरण—तिलक=टिक्ली, पुरुष=पुरिस ।

पश्चगामी स्वर विषमीकरण—मुकुट=मउर (मौर), नूपुर=नेउर ।

(H) **ऊष्मीकरण**—कभी-कभी कुछ ध्वनियाँ ऊष्म में परिवर्तित हो जाती हैं। क्लेम (भारोपीय) शतम् (संस्कृत)।

(I) **अनुनासिकता**—कुछ वर्णों में अनुनासिकता आ जाती है, यथा—उष्ट्र=ऊँट, सत्य=साँच, कूप=कुँआ, श्वास=साँस, अश्रु=आँसू ।

(J) **घोषीकरण**—अघोष ध्वनियों को घोष में परिवर्तित कर दिया जाता है सकल=सगल, सगहो, शाक=साग, मकर=मगर, घूक=घुग्घू ।

(K) **अघोषीकरण**—यहाँ घोष ध्वनियों को अघोष बना दिया जाता है। मदद=मदत, मदद=मदत, नगर=नकर ।

(L) **महाप्राणीकरण**—अल्पप्राण ध्वनियाँ जब महाप्राण हो जाती हैं वहाँ महाप्राणीकरण होता है। बाष्प=बाफ, पृष्ट=पीठ, वृश्चिक=बिच्छू, धृष्ट=ढीठ, हस्त=हाथ ।

(M) **अल्पप्राणीकरण**—इसमें महाप्राण ध्वनियों को अल्पप्राण कर दिया जाता है। भोधामि=बोधामि, धधामि=दधामि, भभार=बभार ।

(N) **अभिश्रुति**—किसी स्वर, अर्द्ध स्वर या भाषा की प्रवृत्ति के कारण जब किसी शब्द में अभिनिहित के द्वारा आया हुआ स्वर परिवर्तित हो जाता है तो उसे अभिश्रुति कहते हैं। यह सर्वप्रथम जर्मन भाषाओं में देखा गया है।

(O) **अपिश्रुति**—एक ही धातु से बने दो या तीन शब्दों में केवल अक्षर परिवर्तन होने से अर्थ और रूप में भेद हो जाता है। इसमें व्यंजन ज्यों के त्यों बने रहते हैं। केवल स्वरों में परिवर्तन होता है। सेमेटिक परिवार की भाषाओं की यह विशेषता है। इसी को अक्षरावस्थान अथवा अक्षर श्रेणीकरण भी कहते हैं।

क़तल्=क़तल, कातिल, क़ुत्ल आदि (अरबी)
करेना, करनी, कराना (हिन्दी)
Sing, Sang, Sung (अंग्रेजी)
भृतः, भरति, वभार (संस्कृत)।

(P) **भ्रामक उत्पत्ति**—कुछ विकार नियमों के विपरीत हो जाते हैं। यह विशेषतः विदेशी शब्दों के ग्रहण मे होता है। Artichoke आर्टीचोक। किन्तु बंगला में हाथी चोख हो गया। हाथी चोख का अर्थ होता है हाथी की आंख। [illegible]

विशेष ध्वनि विकार—कुछ भाषाओं में कुछ विशेष ध्वनि विकार हो जाते है। इस प्रकार के विकारों को विद्वानों ने स्वयम्भू माना है। जैसा कि हम आगे कह चुके हैं। इस प्रकार के विकार अपनी पड़ोसी ध्वनियों के प्रभाव में प्रभावित होते हैं, पर वे स्वयम्भू ध्वनि-विकार अकारण होते हैं, यथा संस्कृत स का अवेस्ता और फारसी में ह हो जाता है, सिन्धु=हिन्दु।

सप्तम उल्लास

अर्थ विचार–अर्थ विज्ञान तथा उसके परिवर्तन की दिशायें

परिवर्तन के कारण

अर्थ परिवर्तन में बौद्धिक नियम

शब्द और उसकी शक्तियाँ

अर्थ विचार

भाषा के दो प्रमुख तत्व प्रतीत होते हैं—(१) विचार, (२) व्यक्त ध्वनि संकेत। भाषा के लिए पहले मन का विचार आवश्यक है क्योंकि मानव जो कुछ चिन्तन या विचार अथवा इच्छा व्यक्त करता है उसे वह प्रकट करना चाहता है। इनको प्रकट करने का साधन मुख से निकले हुए कुछ व्यक्त ध्वनि संकेत हैं। मुख से निकली हुई सार्थक ध्वनियाँ ही भाषा के अन्तर्गत आती हैं। भाषा समाज सापेक्ष है। अतः जो ध्वनियाँ अव्यक्त हैं अथवा सामाजिक सहयोगेच्छा से साधन नहीं बनती केवल मनोभावों को ही व्यक्त करती हैं, वे भाषा में शामिल नहीं की जातीं। इस प्रकार के दो आधार होते हैं—भौतिक एवं मानसिक। भाषाओं के भौतिक आधार से तात्पर्य मानव शरीर और उसके अवयवों से है जो उच्चारण का वेग तथा वर्णात्मक ध्वनियाँ इशारे आदि सभी की अभिव्यक्ति करते हैं और मानसिक आधार का सम्बन्ध भाषा की आत्मा से है, विचारों के अनुसार जो कुछ हम कहते हैं अथवा सुनते हैं उनके भिन्न शब्द और वाक्य बनते हैं और वे स्मृति का रूप धारण करते हैं ये स्मृति रूप ही भाषा के भावात्मक अंग का निर्माण करते हैं और इस प्रकार भाषा का सम्बन्ध मानव हृदय से है। अतः विभिन्न दशाओं में अन्तःकरण की प्रवृत्ति के अनुसार शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों मे बदल जाते हैं। भाषा के इस आधार पर विचार करने से ही अर्थ-विज्ञान की उत्पत्ति हुई जो भाषा-विज्ञान का एक प्रधान अंग है।

"If grammar (including phonology, morphology and syntax) be conceived of as the first layer of the description of language, it now seems that it must be complemented by a second and higher layer, that of semantics." *Samuel Abraham Ference Kiefer—A Theory of Structural Semantics Preface 7.*

अर्थ परिचय—अर्थ-विज्ञान की परिभाषा देते हुए ये महाशय लिखते हैं—
"Semantics deals with the evolution of the meanings of words and with the reasons for their survival decay, disappearance and sometimes revival as well as with the cause of creation of new words."

अर्थ विचार का कार्य क्षेत्र शब्दों के अर्थों के विकास, उन अर्थों के बचे रहने, ह्रास और लोप तथा कई बार उनके पुनरुद्धार से है तथा उन हेतुओं से भी, जिनके द्वारा नये शब्द उत्पन्न होते हैं। प्राचीन यूनान के भाषा विचारकों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। क्या शब्दों का अर्थ उन्हीं में निहित और स्वाभाविक है अथवा लोगों ने समझौते से विशेष शब्दों के विशेष अर्थ जोड़ दिये हैं। ऐसा पाश्चात्य विद्वान् स्टुअर्ट का कहना है, किन्तु वास्तव में यह यूरोपीय विद्वानों का एकांकी दृष्टिकोण है। हम ऐसा मान सकते है कि यूरोप मे सर्वप्रथम इस विषय पर विचार यूनान में ही हुआ किन्तु भारतवर्ष मे कई हजार वर्ष पूर्व व्यास, पतञ्जलि व्याड्रि आदि मनीषियों ने इस विषय पर बहुत कुछ प्रकाश डाला है।

शब्दार्थ का सम्बन्ध—यूरोप के विद्वानों का कथन है कि यह पूर्णतया निश्चित है कि शब्दो के अर्थ स्वाभाविक नहीं अपितु समझौते का फल है। फ्रेंच, लैटिन, जर्मन, ग्रीक आदि भाषाओं में-एक पदार्थ के लिये विभिन्न नाम नही होते, परन्तु भारतीय मत के अनुसार शब्दार्थ का नित्य सम्बन्ध है और किसी पदार्थ को विभिन्न नाम, मूल भाषा के एक नाम, पद अथवा उसके विभिन्न पदार्थों से अपभ्रंश होकर पड़े हैं, समझौत से नहीं। आदिकाल मे उस परम सत्ता से योग द्वारा मनीषियों ने आकाश में व्याप्त वाणी को सुना। उस वाणी और उससे प्राप्त लोक के शब्दों मे शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य था। व्याड्रि ने इस दृष्टि से कहा था—"सम्बन्धास्य न कर्त्तास्ति शब्दानां लोक वेदयो. शब्दै-दैवनहि शब्दानां सम्बन्धः स्यात् कृतः कथम्" लोक और वेद के शब्दार्थों के सम्बन्ध का कोई कर्त्ता नहीं है। शब्दों द्वारा शब्दों का सम्बन्ध कैसे होगा। इस सिद्धांत के पक्ष में महाभाष्यकार पतञ्जलि का विचार दृष्टव्य है। "किं स्वाभाविक शब्दैरर्थाभिधानम् आहोस्विद् वाचनिकम्। स्वाभाविकम् इत्याह, अर्थ अनादेश्यव निमित्तत्वेन—अन्वाख्यान क्रियते।"

क्या शब्द स्वतः ही अर्थों को व्यक्त करते हैं अथवा वाणी द्वारा समझौते से निश्चित हुए हैं—उत्तर ? यह सम्बन्ध स्वाभाविक है क्योंकि किसी भी वैयाकरण ने अर्थों का उपदेश नहीं दिया। व्याकरण में यदि कहीं अर्थ से शब्द का अनुशासन है तो वह निमित्तमात्र है। अतः शब्द अर्थ का सम्बन्ध स्वतः ही है, परन्तु उसका ज्ञान संकेत के द्वारा ही होता है और इस संकेत का ज्ञान सृष्टि के आरम्भ मे ईश्वरीय प्रेरणा से आदि ऋषियों को ज्ञात हुआ। उसके बाद शास्त्रों के ज्ञान और आप्तोपदेश से सबको प्राप्त हुआ। जैसे आज भी छोटे-छोटे बच्चों को संकेत के द्वारा ही अर्थों से परिचित कराया जाता है। भाषा मे अर्थ का विशेष बाह्य महत्व है, अर्थ ही वाणी का, पुष्प और फल कुछ बाह्य प्रभावों तथा अपकर्षादि से भी अर्थो मे रूपान्तर हो जाता है। हिन्दी में 'बारी' का अर्थ फलों का बाग है, पर बंगला में इसका अर्थ घर हो गया। इसी प्रकार संस्कृत का नील शब्द गुजराती में लीलो बना है जिसका अर्थ है हरा रंग। प्रायः मूल के एक ही शब्द विभिन्न भाषाओं में अलग-अलग रूप धारण करते है और अलग-अलग अर्थ भी देते हैं। उदाहरण के लिए संस्कृत मे

'युग' अंग्रेजी में 'योक' और हिन्दी मे 'जुआ' शब्द देखे जा सकते हैं। कभी २ जिसका अर्थ प्राचीन काल में या उसकी अपेक्षा बाद में कुछ और था किन्तु फिर अधिक परिष्कृत हो जाता है, 'साहस' संस्कृत का बड़ा प्रसिद्ध शब्द है जिसका पहले प्रयोग बुरे एवं जघन्य कार्यों के करने वाले के लिए होता था और ठीक भी है कि हत्या और लूटमार आदि ऐसे नीच कार्यों के लिये साहस की आवश्यकता थी, किन्तु कालान्तर के बाद साहस शब्द का प्रयोग अच्छे अर्थ में होने लगा और साहस पुरुष का एक गुण माना जाने लगा। हिन्दी का कपड़ा शब्द इसी का उदाहरण है। संस्कृत और पालि में इस शब्द के रूप क्रमशः 'कर्पट' और 'कप्पट' थे और जिसका अर्थ पुराने फटे कपड़े से था किन्तु कुछ समय के बाद आज कपड़ा शब्द अच्छे कपड़ों के लिए प्रयोग होता है। पुर्तगाल में फिरंगी शब्द डाकू के लिए प्रयुक्त होता था किन्तु आज फिरंगी शब्द यूरोपियन जाति के लिए होता है। इसी प्रकार जो शब्द पहले अच्छे अर्थ मे प्रयुक्त होते थे। कुछ समय के बाद धीरे २ वे बुरे अर्थों मे प्रयोग होने लगे। जैसे—

हिन्दी में महाजन, महापात्र, महाराज, प्रजापति(कुम्हार)आदि शब्दों के अर्थ जो पहले अच्छे में होते थे अब उनका अर्थ गिर गया। महाराज शब्द रसोई पकाने वाले ब्राह्मण को कहते हैं, जिसमें तिरस्कार की भावना है। इसके अतिरिक्त अर्थापकर्ष के उदाहरण उन शब्दों मे अधिक मिलते हैं जिनका कामवासना से सम्बन्ध है—भोग प्रसग, समागम, आशिक, माशूक, लैला मजनू आदि। यहाँ हम अर्थ विज्ञान की विभिन्न दिशाओं, उसके परिवर्तनादि के कारणो पर विचार करते हैं। अर्थ विज्ञान भी ध्वनि-विज्ञान की तरह भाषा-विज्ञान का एक विशिष्ट अंग है। यद्यपि भाषा-विज्ञान मे अर्थ-विचार का प्रारम्भ थोड़े ही समय से हुआ है। यह अभी पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो पाया है। भारतवर्ष में अर्थ के विषय में विवेचन प्राचीन काल में भी मिलता है। हमारे प्राचीन ग्रन्थों में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि मन का वाणी से स्थान ऊँचा है क्योंकि किसी भी शब्द का अर्थ मन के द्वारा ही स्वीकृत होता है। अतः मन से तात्पर्य भाषा के आभ्यन्तर रूप अर्थ ही से है। यथा सैन्धव का अर्थ नमक और घोड़ा है किन्तु जब रसोई घर में सैन्धव की आवश्यकता होगी तो वहाँ नमक ही उपस्थित किया जायेगा, उसी प्रकार एक सवार के माँगने पर घोड़ा ही अर्थ किया जायेगा। अतः अर्थ मन की उपज है। वैसे तो "सर्वे शब्दाः सर्वार्थवाचकाः" होते हैं किन्तु जिस वस्तु की जिस समय आवश्यकता होती है उस समय उस शब्द का वही अर्थ लिया जाता है। इसी कारण 'गोपथ ब्राह्मण' में कहा है "रूपं सामान्यादर्थसामान्यं नेदीयः" अर्थात् शब्दों की औच्चारणिक या शाब्दिक समानता की अपेक्षा अर्थ की समानता का ही अधिक अन्तरंग समझना चाहिए। इस प्रकार शब्द और अर्थ का अत्यधिक सम्बंध है।

किसी अभीष्ट अर्थ को व्यक्त करने के लिए ही शब्द का प्रयोग किया जाता है, किन्तु फिर भी किसी शब्द के अर्थ की वास्तविक सीमा क्या है, इसका निर्धारण

करना प्राय. दुष्कर होता है । जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं कि अनेक शब्द अनेकार्थक होते हैं । संक्षेप में हम कह सकते है कि अर्थ-विज्ञान में सामान्य रूप से शब्दों के सर्वसम्मत, प्रचलित या प्रसिद्ध अर्थों को लेकर उनके विकास या ऐतिहासिक परम्परा को दिखलाया जाता है ।

अर्थ-विकास की दिशाएँ—अर्थ विकास के अनेक रूप हो सकते है, परन्तु अर्थ-विज्ञान के प्रकाण्ड पण्डित ब्रील ने अर्थ के विकास की तीन प्रमुख दशाओं का अपने अर्थ-विचार नामक ग्रन्थ में उल्लेख किया है। उन तीनों अवस्थाओं का हम निम्नांकित वर्णन करते है ।

अर्थ विस्तार—इस दशा में शब्द का मौलिक अर्थ तो रहता ही है किन्तु उसके अतिरिक्त उस अर्थ का और अधिक विस्तार हो जाता है । तिलों के द्वारा निकाले हुए तरल पदार्थ को तैल कहा जाता था, किन्तु आज तैल शब्द का प्रयोग सभी प्रकार के तैलों के लिये होता है जैसे मूँगफली, लाहा, सरसों, आदि । यहाँ तक कि मछली का तेल, बिच्छू का तेल आदि जीव जन्तुओं के सारतत्व के लिये भी इसी शब्द का प्रयोग होता है । प्रवीण उसी को कहा जाता था जो वीणा के वजाने मे योग्य होता था किन्तु उस बजाने की योग्यता पर आधारित कर आज प्रवीण का प्रयोग किसी भी कार्य में चतुर व्यक्ति के लिए होता है । गवेषणा का अर्थ केवल गौ के खोजने के लिये आता था, किन्तु आज किसी भी विषय की खोज के लिए गवेषणा का प्रयोग होता है । साहित्य में निबन्धों की शैलियों में एक गवेषणात्मक शैली भी होती है । प्राचीन काल मे द्रव्य लकड़ी से बनी हुई वस्तु को कहते थे, किन्तु आज वही द्रव्य धन, आत्मा आदि गुणवान पदार्थों के लिये प्रयुक्त होता है और द्रव्य का प्रायः प्राचीन अर्थ विलुप्त ही हो गया है । कभी-कभी व्यक्ति वाचक नामों का भी अर्थ-विस्तार हो जाता है, जैसे माहिल मध्यकाल में ऊरई के सरदार का नाम था और उसका कार्य राजपूत राजाओं को आपस में भिड़ाना था । इस दुर्गुण के साम्य के आधार पर आज किसी भी फूट डालने वाले को अथवा चुगली करने वाले को हम माहिल कहने लगते है । इस तरह बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं ।

(२) **अर्थ-संकोच**—सामान्य अर्थवाची शब्दों का कालान्तर में जब विशिष्ट अर्थ हो जाता है उस समय अर्थ संकोच होता है । ब्रील के अनुसार—"जो जाति जितनी अधिक सभ्य होगी उसकी भाषा में उतना ही अधिक अर्थ-संकोच मिलेगा ।" इस दशा मे शब्द का अर्थ सीमित हो जाता है । गो शब्द की उत्पत्ति गम् धातु से हुई है । इसका अर्थ है गमन करने वाला किन्तु अब केवल गो (गाय) के लिये आता है । 'क्रोष्टा', 'स्तोता' के समान वैदिक काल में चिल्लाने वाले के लिये प्रयुक्त होता था, किन्तु लौकिक संस्कृत में अर्थ गीदड़ हो गया । 'वर' शब्द का मौलिक अर्थ याचना किया जाना, अथवा जो माँगा जाय था, किन्तु आज वह विशेष रूप से दूल्हा के अर्थ मे आता है । वैदिक संस्कृत में कथ् और कुप् धातुएं काँपने और चलने आदि के भौतिक अर्थों में आती थीं ।

ऋग्वेद में "यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्यः-पर्वतान् प्रकुपितां अरम्णात्" प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ है कांपती और हिलती हुई पृथ्वी तथा कुपित पर्वत का अर्थ है चलता फिरता पहाड़, परन्तु कुछ समय के बाद इन धातुओं का अर्थ संकुचित होकर मानसिक हो गया। इसी प्रकार 'रम्' धातु का अर्थ ऋग्वेद में ठिकाने आना अथवा स्थिर कर देना था, किन्तु आज इसका अर्थ रमण करना हो गया है। इस तरह मूल में मूर्त्त या ऐन्द्रियक अर्थ रखने वाले शब्दों का बाद में अर्थ संकुचित होकर अमूर्त या मानसिक अर्थ को प्रकट करने वाला हो जाता है। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं।

(३) **अर्थादेशः अर्थान्तरण**—इस दशा में शब्द का मौलिक अर्थ समाप्त हो जाता है और उसके स्थान में दूसरा अर्थ आ जाता है। मुख्य रूप में ऐसा भाव-साहचर्य के कारण अधिक होता है। ऋग्वेद में असुर शब्द देवता वाचक है और इसी अर्थ में ईरानी में भी (अहुर) है, किन्तु बाद की संस्कृत में यही शब्द राक्षस, दैत्य आदि का द्योतक हो गया और 'अ' का अर्थ निषेधात्मक समझ कर सुर का अर्थ देव हुआ। संस्कृत का वाटिका शब्द बंगला में बाड़ी हो गया है, उसका अर्थ बगीचे से हटकर घर हो गया है। उपवास का अर्थ अग्नि के पास रहना था, यज्ञ में प्रायः यजमान अग्नि के पास रहा करते थे, किन्तु आज उपवास का अर्थ भूखा रहना ही है। इसी प्रकार शुश्रूषा का अर्थ सुनने की इच्छा था किन्तु आज उसका अर्थ इससे बिल्कुल भिन्न सेवा हो गया है। उपेक्षा का अर्थ पास से देखना था, किन्तु आज उदासीनता है। ऐसे अनेकों शब्द हैं जिनके अर्थ में आदेश हुआ है और उनका प्राचीन अर्थ धीरे-धीरे विलुप्त हो गया है।

इन उपर्युक्त तीन दिशाओं के अतिरिक्त दो दिशायें और मानी गई हैं। प्रथम अर्थोत्कर्ष और द्वितीय अर्थापकर्ष है। अर्थोत्कर्ष में शब्द के अर्थ का उत्कर्ष हो जाता है। संस्कृत में साहस शब्द का प्रयोग बुरे अर्थ में होता था, यथाः—

मनुष्यमारणं स्तेयं परदाराभिमर्शनम्।
पारुष्यमनृतं चैव साहसं पंचधा स्मृतम्॥

आज साहस शब्द का प्रयोग अच्छे अर्थ में और प्रशंसा के लिए होता है, किन्तु इसको विद्वानों ने अलग दिशा न मानकर अर्थ-विस्तार में ही माना है। अर्थापकर्ष भी अर्थ-संकोच में ही अंतर्भूत हो जाता है। इसमें कभी-कभी अर्थ में परिवर्तन होकर 'बुरे' अर्थ हो जाता है, यथा 'हरिजन' शब्द का अर्थ भगवद्भक्त के लिये होता था, किन्तु अब एक विशेष जाति के लिये प्रयुक्त होने लगा। इसी प्रकार गभिणी और गाभिन शब्दों में भी यही बात पूर्ण रूप से दिखलाई देती है। ऐसे अनेकों उदाहरण मिलते हैं।

अर्थपरिवर्तन के कारण—उपर्युक्त हमने अर्थ-विकास की तीनों दिशाओं का संक्षेप में वर्णन किया है। यह अर्थ-विकास भाषा में भिन्न २ रूपों में दिखाई देता है। इस परिवर्तन के मूल में कार्य करने वाले कौन-कौन से कारण हो सकते हैं। इस पर

ही हम विवेचन करते हैं। ऊपर हम कह चुके हैं कि अर्थ परिवर्तन में भावसाहचर्य का ही विशेष रूप से हाथ रहता है, किन्तु इसके अतिरिक्त कुछ भौगोलिक और सामाजिक कारण भी होते है। इनको हम बाह्य कारण भी कह सकते हैं। अर्थ परिवर्तन के प्रधान-प्रधान कारणों का नीचे उल्लेख किया जाता है—

(१) **आलंकारिक प्रयोग**—अपने भाव या अभिप्राय को दूसरों पर स्पष्ट तथा व्यक्त करने और प्रभाव डालने के लिये मानव स्वभाव से ही समास शैली का प्रयोग करता है। वह चाहता है कि संक्षेप में ही अधिक से अधिक कह दे। अतः उसे ऐसा करने के लिये अलंकारों का आश्रय लेना पड़ता है और इस प्रकार धीरे-धीरे उस आलंकारिक प्रयोग में अलंकार पर ध्यान नहीं रहता है, अपितु उस अलंकार को प्रकट करने वाले शब्द का ही उस अर्थ में प्रयोग चल पड़ता है, जैसे किसी को मूर्ख कहने के लिये पहले गदहे से उपमा दी गई यथा वह गदहे के समान मूर्ख है अथवा वह पशु के समान व्यवहारशून्य है, किन्तु अब उनका प्रयोग केवल सीधा इसी रूप मे होता है कि वह गदहा है, अथवा वह निरा पशु है आदि। अलंकार के कारण अर्थ-परिवर्तन सभी दिशाओं में होता है। मानव के स्वभाव को स्पष्ट करने के लिए हमें पशुओं, जातियों तथा वेजान वस्तुओं के सहारे अलंकार का प्रयोग करना पड़ता है और इस प्रकार के प्रयोग नित्य-प्रति के व्यवहार में इतने अधिक प्रचलित हो गये हैं कि उनको सामान्य तौर पर अलंकार नहीं समझा जाता है, यथा-'नाक का कटना' (अपमान होना), 'कटुवचन' (अप्रिय वाणी), 'मधुर भाषण' (प्रियालाप) 'लौह-पुरुष' (शक्तिशाली), 'कालिख लगना' (कलंकित होना), 'बैल' (अज्ञानी) 'गाय' (सज्जन), 'काग' (चालाक), 'पत्थर हृदय' (कठोर हृदय) आदि। ये सभी शब्द अपने प्रसिद्ध मौलिक अर्थ के स्थान में प्रयुक्त न होकर सम्भवतः दूसरे अर्थों में प्रयोग किये गये हैं। इस प्रकार के प्रयोग साहित्यिक और व्यवहारिक दोनों प्रकार की भाषाओं में प्रचुरता से मिलते हैं।

(२) **कवियों द्वारा**—कवि नवीन शब्दों की रचना तो करते ही हैं, किन्तु वे उनको नवीन अर्थ में भी प्रयुक्त करते हैं। प्रायः ऐसा वे अपनी शैली को रोचकतापूर्ण बनाने के लिए करते हैं। इस प्रकार के प्रयोग आधुनिक कवियों में बहुत मिलते हैं और आधुनिक कलाकारों की स्वेच्छा के कारण विनय, शिष्टता, आदर और प्रेम का अर्थ देने वाला शब्द प्रश्रय, आश्रय के लिये प्रयुक्त होने लगा है।

(३) **अज्ञान के कारण**—मानव अनुकरणशील प्राणी है, परन्तु अज्ञानवश वह पूर्ण अनुकरण नहीं कर पाता। अतः अज्ञान, आलस्य, मनोयोग व भ्रमवश के कारण प्रत्येक भाषा के शब्दों में अर्थ परिवर्तन मिलते हैं, जैसे उत्क्रान्ति का अर्थ मृत्यु है, किन्तु वह क्रान्ति के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। स्याही का अर्थ लिखने की काली स्याही से है क्योंकि स्याह का अर्थ काला है और आरम्भ में लोग काले रंग से लिखते थे। इसलिए उसे स्याही कहा गया, परन्तु आज किसी भी रंग की स्याही, स्याह

नाम से प्रयुक्त होती है। इसी प्रकार घड़ी शब्द का अर्थ पहले २४ मिनट का समय था, किन्तु अब उसका प्रयोग समय बताने वाली घड़ी के लिए ही होता है।

(४) **अन्य भाषा के शब्दों का प्रभाव**—'संसर्गजाः दोषगुणाः भवन्ति' संसर्ग से दोष और गुणों की उत्पत्ति होती है। इसके अनुसार एक भाषा के दूसरी भाषा के संसर्ग में आने से उनके शब्दों का परस्पर विनिमय होता है, किन्तु कभी-कभी ऐसा होता है कि शब्द अपने अर्थों में दूसरी भाषा में आने पर परिवर्तन पा जाता है। यथा फारसी में 'मुर्ग' शब्द का अर्थ पक्षी था, किन्तु हिन्दुस्तानी बोलियों में उसका अर्थ एक विशेष पक्षी के लिये रूढ़ हो गया। फारसी का दरिया (नदी) शब्द गुजराती में समुद्र के अर्थ में प्रयुक्त होता है। संस्कृत का भक्त या भत्त (भात या पका चावल), अरबी में 'बहत' हो गया है जिसका वहाँ अर्थ खीर है।

(५) **आत्म-प्रशंसा की भावना**—शिष्टता और नम्रता की भावना के विरुद्ध मनुष्य कभी-कभी दूसरों को अपनी चतुराई प्रदर्शन करने के लिए ऐसी बात भी कह जाता है, जो दूसरों को चुभे या उत्तेजित करे। अधिकतर इस प्रकार के भाषणों में दूसरे को मूर्ख बनाने का प्रयत्न अधिक होता है, यथा आप तो बुद्धि के समुद्र हैं 'सौजन्य' के साक्षात् अवतार हैं। आइये महात्मा जी, महाशय जी, देवाना प्रिय (मूर्ख) आदि। संस्कृत पण्डितों में अधिकतया पल्लव-ग्राहि (कम ज्ञान वाला) योग्यता से युक्त पण्डितों के लिए कुक्कुट-मिश्र-दाद्रा का प्रयोग मिलता है। इसमें व्यंग्य की भावना अधिक होती है। इस प्रकार के प्रयोगों में दुर्गुणों को ही प्रकट किया जाता है, जैसे "अक्ल की पुड़िया", "बुद्धिमत्ता के अवतार", "धर्मावतार", "लक्ष्मीपति" आदि। इस प्रकार के प्रयोग नित्य-प्रति के जीवन में अधिक मिलते हैं।

(६) **वातावरण में परिवर्तन**—इसके कारण भी अर्थ में परिवर्तन हो जाया करते हैं। इस प्रकार के कारणों के अतीत भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि आते हैं। यथा वेदों की प्राचीन ऋचाओं में 'उष्ट्र' का प्रयोग जंगली बैल के लिए हुआ है, पर बाद में संभवतः ऋषि जब मरुभूमि में आए होंगे तो इसका प्रयोग ऊँट के लिए होने लगा होगा, इसमें भौगोलिक परिस्थिति का ही विशेष हाथ है। समाज में प्रयोग होने वाले शब्दों के अर्थों में विभिन्नता आ जाती है, यथा विद्यार्थी की 'कलम' और माली की 'कलम' दोनों के अर्थों में अन्तर है।

(७) **सभ्यता, शिष्टता, नम्रता आदि का प्रदर्शन**—शब्दों के अर्थों के परिवर्तन में इनका बहुत बड़ा स्थान है, यथा तू के स्थान में तुम, तुम के स्थान में आप, आप के स्थान में श्रीमान् आदि शब्दों का प्रयोग देखा जाता है। अन्धों के लिये सूरदास या प्रज्ञाचक्षु कहा जाता है। गर्भिणी के लिए संस्कृत में 'अन्तर्वत्नी', हिन्दी में 'पाँव भारी होना' आदि कहा जाता है। साँप को कीड़ा कहना, मुर्दे को मिट्टी कहना, मरने को स्वर्गवास आदि प्रयोगों में शिष्टता की भावना का प्रदर्शन है। यदि कोई व्यक्ति अतिथि से पूछता है कि आपका 'दौलतखाना' कहाँ है। यहाँ 'दौलतखाना' का अर्थ घर ही लिया जायेगा न कि धन का खजाना। इसी प्रकार किसी का नाम

पूछने के लिए श्रीमान् किन-किन अक्षरों को सुशोभित करते हैं। इसी प्रकार इंगलिश में 'What is your name' न कह कर नम्रता प्रदर्शन के लिए 'What nomination do you go by' प्रयुक्त करते है। आपके लिए 'गरीब परवर' आदि। यदि किसी से कुछ कहना हो तो 'सेवा में सविनय प्रार्थना है', ऐसा प्रयोग होता है, किन्तु दूसरे के लिए 'कृपया श्री मुखारविन्द से उपदेश देने का किंचित कष्ट करेंगे', इसी प्रकार अशुभ तथा भयसूचक बातों के प्रयोग को परिवर्तित कर शिष्टता के रूप में कहा जाता है। किसी को विधवा होने पर चूड़ी फूटना, सोहाग लुटना, सिन्दूर धुलना आदि कहा जाता है। इसी तरह अश्लील शब्दों के लिए सभ्यतापूर्वक बोला जाता है। 'पाखाना जाने' को मैदान जाना, टट्टी जाना, शौच जाना तथा विलायत जाना आदि कहा जाता है। काम-शास्त्र से सम्बन्धित अङ्गों के लिए भी शब्दों के प्रयोग बहुत परिवर्तन के साथ होते हैं।

(८) **बल का अपसरण**—किसी शब्द के उच्चारण में जब ध्वनि को अधिक बलपूर्वक उच्चरित किया जाता है तो शेष ध्वनियाँ धीरे-धीरे विलुप्त हो जाती हैं। 'उपाध्याय जी' का 'झा' इसी कारण से रह गया है क्योंकि इसमें 'ध्या' ध्वनि पर अधिक जोर दिया जाने लगा। ध्वनि की ही भाँति अर्थ मे भी बल-अपसरण कार्य करता है। जब किसी शब्द के प्रधान अर्थ पर से हटकर बल उसके 'गौड़' अर्थ पर दिया जाता है तो कालान्तर के बाद वह प्रधान अर्थ पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है और कभी रहता भी है तो केवल संकेतित रूप में, यथा 'गोस्वामी' शब्द का अर्थ गायों का स्वामी था, किन्तु बल-अपसरण के द्वारा ही इसका अर्थ माननीय हुआ और गायों की सेवा के कारण धार्मिक भी हो गया। गोसाईं तुलसीदास में गोसाईं शब्द का अर्थ माननीय धार्मिक ही है। आज गोस्वामी (गुसाईं) एक जाति भी बन गई है। अरबी शब्द 'गुलाम' तथा अंग्रेजी का नेव (Knave) ये दोनों भी इसी वर्ग में आते हैं। दोनों का प्राचीन अर्थ लड़का था, पर बल के अपसरण के कारण दोनों का अर्थ अब बहुत नीचे गिर गया है। एक अर्थ है सेवक और दूसरे का अर्थ है शैतान।

अर्थ परिवर्तन में बौद्धिक नियम—बुद्धिगत नियमों और अर्थ-विचार में क्या भेद है और किस प्रकार इनका अर्थ परिवर्तन में महत्व है तथा किन-किन दशाओं में होता है। ध्वनि-नियम जिस प्रकार देश और काल की सीमा के भीतर कार्य करते हैं, बुद्धि नियम सीमा के भीतर नहीं रहते वे स्वतन्त्र होकर चाहे जितनी भाषाओं में तथा कालों में व्यापक रूप से लग सकते हैं। यहाँ हमको बौद्धिक नियमों का अर्थ परिवर्तन के साथ क्या सम्बन्ध है, इस पर विचार प्रकट करना है।

जब अर्थ के अनुसार अर्थों में परिवर्तन होता है तब उन विकारों का बुद्धिगत कारण होता है। उन कारणों का विचार करके जो नियम स्थिर किये जाते हैं, वे बौद्धिक नियम कहलाते है। जब केवल अर्थों में विकार आने की तथा इन विकारों के कारणों की विवेचना होती है, तब वह अर्थ विचार कहलाता है जैसा कि ऊपर

वर्णन किया जा चुका है। बौद्धिक-नियम कई प्रकार के होते हैं। नीचे उदाहरण-सहित हम उनका उल्लेख करते हैं—

(१) विशेष भाव का नियम—जब एक अर्थ, भाव अथवा विचार, को प्रकट करने के लिये अधिक शब्द प्रयुक्त होते हैं और फिर कारणवश शब्द कम हो जाते हैं, तब इस विचार का कारण 'विशेष भाव' माना जाता है। अनेक में मिलकर एक की ओर विशेष भाव रखने की इस प्रवृत्ति में शब्दों तथा शब्दार्थों का प्रायः ह्रास होता है। इस विशेष भाव के कारण अनेक प्रत्ययों का ह्रास अथवा लोप हुआ करता है। ये प्रत्यय प्रारम्भ में बहुसंख्यक और बहुप्रकार के थे, परन्तु धीरे-धीरे समयानुसार उनका लोप होता गया। पहले संस्कृत में तर, तम, ईयस्, इष्ठ दो प्रकार के प्रत्यय इस अर्थ में आते थे। पर पीछे से प्रयोग के नाते दूसरे प्रकार के प्रत्यय विजयी होते गये यथा—गरीयस, लघीयस्, वरीयस्, महीयस्, श्रेयस्, प्रेयस् और गरिष्ठ, लघिष्ठ, महिष्ठ, वरिष्ठ, श्रेष्ठ, प्रेष्ठ इत्यादि। दूसरी ओर संख्या वाचकों में तम के संक्षिप्त रूप 'म' की विशेषता देख पड़ती है। पहले प्रथम, पञ्चम, सप्तम के समान रूप ही व्यवहार में आते हैं। ईयस् वाले रूप केवल दो ही मिलते हैं, यथा—द्वितीय और तृतीय। इसी प्रकार इष्ठ का 'ठ' भी केवल चतुर्थ और षष्ठ इन्हीं दो रूपों में बच गया है। इस प्रकार तारतम्य का बोध कराने में एक प्रत्यय ने और संख्या का बोध कराने में दूसरे ने विशेषता प्राप्त की है, जबकि दोनों पहले एक अर्थ में थे, यही विशेष भाव का नियम कहा जाता है।

आजकल की देश भाषाओं में इस प्रकार के प्रत्यय लुप्त हो गये हैं। उनका कार्य कुछ शब्दों से चल जाता है, यथा—बंगला 'चेय', गुजराती 'थी', हिन्दी 'अपेक्षा' आदि। मराठी, बंगला तथा हिन्दी तीनों में ही 'अधिक' शब्द से तुलना का बोध होता है। संस्कृत वैयाकरण घनिष्ठ, श्रेष्ठ, उत्तम आदि के प्रत्ययों का अर्थ करता है, पर हिन्दी का प्रयोक्ता इन बने बनाये तैयार शब्दों को ही लेकर आगे बढ़ता है। वह कहता है, यथा—(१) वह सम्बन्ध और भी घनिष्ट है, (२) मोहन विद्या में अधिक श्रेष्ठ है, (३) उसका कार्य तुमसे भी अधिक उत्तम है। इस प्रकार हिन्दी बंगला आदि में इस भाव के प्रत्यय बिल्कुल नहीं रह गये हैं। यह प्रकृति संस्कृत तक में पायी जाती है, जैसे—श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर और श्रेष्ठतम्।

प्राचीनकाल की विभक्तियों के स्थान में परसर्गों का आना 'विशेष भाव' के नियम का दूसरा उदाहरण है। संस्कृत, ग्रीक, लैटिन के समान प्राचीन भाषाओं में कर्त्ता, कर्म, करण आदि के कारक सम्बन्धों का बोध ऐसे प्रत्ययों द्वारा हुआ करता था जो उन शब्दों में अभिन्न रूप से मिले रहते थे। जब इन कारकों से मन: कल्पित सभी सम्बन्धों का बोध स्पष्ट रूप से नहीं हो सका, तो वक्ता लोग कुछ क्रिया विशेषणों को भी साथ जोड़ने लगे। संस्कृत में पहले उपसर्गों का क्रिया से ऐसा ही घनिष्ठ सम्बन्ध था। बंगला, हिन्दी आदि देश-भाषाओं के परसर्गों का इतिहास इस विशेष भाव की ही कहानी है। ने, को, के, से, में आदि विभक्तियाँ ही वियोग और

विश्लेषण द्वारा विशेष भाव की प्रवृत्ति प्रकट कर रही है। अंग्रेजी के सम्बन्ध कारक वाले चिन्ह 'S' में भी इसी विशेष भाव का सिद्धान्त पाया जाता है। विभक्ति का यह चिह्न इतना स्वतन्त्र हो गया है कि वह दो तीन शब्दों के बाद भी रखा जाता है। इसी प्रकार की प्रवृत्ति हिन्दी तथा बंगला में भी पायी जाती है।

(२) **भेदीकरण का नियम**—तात्पर्य के अनुसार अथवा किसी ऐतिहासिक कारण से जो शब्द एक बार पर्याय रहते हैं या देखने में पर्यायवाची मालूम होते हैं, वे ही शब्द जिस व्यवस्थित प्रतिक्रिया के द्वारा भिन्न-भिन्न अर्थों में आने लगते हैं, उसे भेदीकरण अथवा भेदभाव का नियम कहते हैं। इतिहास में सीधी सी बात है कि जब मेल से अथवा लड़ाई से किसी प्रकार ही भिन्न भाषाओं अथवा बोलियों का सामना होता है, तब एक बार उन बोलियों का शब्द भंडार आप से आप बढ़ जाता है, पर धीरे-धीरे उस बड़े भंडार की व्यवस्था की जाती है या तो कुछ शब्द अप्रयुक्त या अप्रसिद्ध हो जाते हैं अथवा पर्यायवाची शब्दों में थोड़ा अर्थभेद कर लिया जाता है। उदाहरण के लिये भारत में विदेशियों के आने से देशी भाषाओं में विदेशी शब्द बढ़े, पर आज उन शब्दों के अर्थ में पूरा भेद किया जाता है। समाज में पर्यायवाची शब्द तो कभी चलते ही नहीं यदि एक शब्द के आगे बढ़ने पर अन्य आता नहीं तो उसके अर्थ में कुछ न कुछ आंशिक भेद तो अवश्य ही कर लिया जाता है। डाक्टर, वैद्य, हकीम, कविराज चारों ही पर्यायवाची शब्द हैं, पर हिन्दी में चारों के अर्थों में स्पष्ट भेद आ गया है। डाक्टर से ऐलोपैथी और होम्योपैथी आदि के, वैद्य से सीधे आयुर्वेदिक देशी चिकित्सा जानने वाले, हकीम से यूनानी चिकित्सा वाले आदि चिकित्सकों का बोध होता है और कविराज का अर्थ होता है बंगाली चिकित्सक और इस प्रकार हिन्दी में अंग्रेजी, संस्कृत, उर्दू और बंगला चारों भाषाओं के शब्द आ गये हैं, किन्तु इनमें से प्रत्येक भाषा का वक्ता क्रमशः अंग्रेजी, उर्दू, संस्कृत तथा बंगाली डाक्टर, हकीम, वैद्य तथा कविराज एक ही शब्द से सबका अलग-अलग बोध कर सकता है, किन्तु हिन्दी में चारों का अलग-अलग अर्थ हो गया है। इसी प्रकार पाठशाला, मदरसा, स्कूल शब्दों में भी कैसा भेद देख पड़ता है एवं मास्टर और पंडित, लम्प और प्रदीप, बाजार और हाट, विद्यालय अथवा कालेज आदि के समान पर्यायवाची शब्दों में भेद के नियम ने काम किया है।

उपर्युक्त उदाहरण विदेशी भाषाओं में आये हुये शब्दों के हैं, परन्तु स्वयं इसी तत्सम शब्द से निकले तद्भव शब्द में भी भेदीकरण का नियम काम करता है, यथा पुस्तक और पोथी, कार्य और काज, धात्री और धाड़ी (बंगला), देवता और देया (बंगला), गर्भिणी और गाभिन आदि। 'धाड़ी' है तो 'धात्री' का ही तद्भव रूप, पर बंगला में पशुओं के लिये ही प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार गाभिन शब्द भी पशुओं के सम्बन्ध में ही आता है। जिस प्रकार तत्सम और तद्भव शब्दों में अर्थ-भेद हो जाता है। उसी प्रकार तत्सम और देशी शब्दों में भी भेदीकरण का कार्य चलता है जैसे-'वियाना' देशी शब्द है। वह प्रायः पशुओं के लिये आता है। पर प्रसव करना

अथवा होना स्त्रियों के लिये प्रयुक्त होता है। वास्तव में बात ऐसी है कि देशी विदेशी तद्भव आदि कहीं के भी शब्द हों जब वे एकार्थवाची हो जाते है, तब शीघ्र ही भेदीकरण का कार्य आरम्भ हो जाता है। जैसे बच्चों के लिये प्रयुक्त शब्दों को ही लीजिये। गाय के बच्चे को बछड़ा, घोड़े के बच्चे को बछेड़ा, भैंस के बच्चे को पड़वा, सुअर के बच्चे को छौना, भेड़ अथवा बकरी के बच्चे को मेमना, मछली के बच्चे को पोना, साँप के बच्चे को पोआ, कुत्ते के बच्चे को पिल्ला आदि। इसी प्रकार सभी भाषाओं मे भिन्न जीवों के बच्चों को भिन्न शब्द आते है। यथा अंग्रेजी मे child, calf, kid, colt, cub आदि।

समूह वाचक शब्दों में भी अर्थभेद का अच्छा उदाहरण मिलता है। जैसे मित्रों की टोली, भाषाओं की गोष्ठी, पशुओं का गल्ला, डाकुओं का गिरोह, देहातियों का झुण्ड, अहीरों का गोल, टिड्डियों का दल, जनता की भीड़, बगुलों की पाँत आदि ग्रंथ के नामों मे भी इसी ढंग का भेद होता है। वास्तविक और यौगिक अर्थ को महत्वहीन बनाने वाली सबसे बड़ी प्रक्रिया यही भेदीकरण है। एक ही 'भू' धातु और एक ही उपसर्ग 'अनु' से बने अनुभाव और अनुभव में कितना भेद हो जाता है और भी बुद्धि और बोध, श्रद्धा और श्राद्ध, वेद और विद्या आदि एक ही धातु से निकले है, किन्तु अर्थभेद कितना अधिक हो गया है। मनुष्य का विचार संस्कार जितना अधिक बढ़ता जाता है। यह अर्थ विचार मे अमरकोष में से नानार्थक शब्द देना तथा पर्यायवाची शब्द अर्थ, अंक, सारग, हरि, पद, नाग, द्विज, विधि, इस अर्थ-भेद की प्रवृति भी उतनी ही बढ़ती जाती है। यह प्रसिद्ध बात है कि भिन्न कोटि के व्यक्तियों के कारण एक ही व्यापार के लिये कई शब्दों का व्यवहार होता है। जैसे देवता को 'चने का भोग लगाया' मैंने भी चना खाया है। महात्माओं ने भी चना पाया है। इसी प्रकार मान्य और पूज्यों के दर्शन करने और मित्रों को देखने जाते है, रास्ते की धूल को धूल अथवा गर्द कहते हैं। पर जब पवित्रता का भाव रहता है तब रज अथवा रेणु शब्दों का ही प्रयोग होता है, जैसे-गुरुचरण रज। नम्रता दिखाने मे भी भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग होता है, जैसे—'आपका दौलत-खाना' 'मेरा गरीबखाना', 'इन लोगों का घर' इन तीनों का अर्थ एक ही है। कभी २ पर्यायवाची शब्दों मे एक शिष्ट और दूसरा अशिष्ट बन जाता है, जैसे दोस्त और यार, उस्ताद और उस्ताद जी। प्रणय और प्रेम में भी हिन्दी ने बड़ा भेद किया है। प्रणय केवल दाम्पत्य प्रेम को कहते हैं। इसी प्रकार अन्य अभिवादन और आशीर्वाद सूचक शब्दो में भी है। अब थोड़ा भेद-प्रवृत्ति की सीमा का भी विचार कर लेना चाहिये—

(१) जिन शब्दों में अर्थभेद होता है, उन्हें उस भाषा में पहले से ही विद्यमान रहना चाहिये। भेदीकरण विद्यमान सामग्री में ही कार्य करता है। वह कुछ नयी सामग्री उत्पन्न नहीं करता।

(२) पहले अर्थभेद स्पष्ट रहता है। पर जब संचय अधिक हो जाता है, तब फिर मानव-मन उन भेदों को भूलने लगता है। अन्त में जाकर अनेक शब्दों का लोप हो जाता है, जैसे—खाद्, भक्ष, अद्, अश् आदि में पहले भेद रहा होगा पर अब नहीं है।

(३) अर्थभेद का सभ्यता से सम्बन्ध रहता है। जो समाज जितना ही अधिक सभ्य होगा उसकी भाषा में अर्थभेद उतना ही अधिक होगा।

(३) उद्योतन का नियम—जिस प्रक्रिया के द्वारा उचितानुचित अथवा अन्य कोई दूसरे विशेष अर्थ रूप विशेष के साथ सम्बन्ध हो जाता है, उसे उद्योतन कहते ह और इस प्रकार जो द्योतकता आ जाती है वही पीछे से उन रूपों की सहज सम्पत्ति मालूम होने लगती है। उदाहरण के लिये हिन्दी का 'हा', प्रत्यय पहले सामान्य सम्बन्ध प्रकट करता था, जैसे—स्कुचिहा लड़का, उतरहा आदमी, पुरविहा चावल आदि पर संसर्ग के प्रभाव से अब इस प्रत्यय में गर्व का भाव घुस गया है, जैसे-रूपयहा कुनिहा, मोटरहा आदि। दूसरा उदाहरण 'ई' प्रत्यय का है। साहबी, नबाबी, गरीबी, अमीरी, मुनीमी आदि में सामान्य अर्थ है। पर पीछे से साहबी ठाट, नबाबी चाल, मुनीमी ढंग, स्कूली रंग, आदि प्रयोगों के प्रभाव से 'ई' में एक नयी द्योतकता आ गयी है। यही उद्योतन अथवा अर्थोद्योतन है। प्रारम्भिक काल में लिंग भेद के प्रत्यय भी प्रायः उद्योतन से ही बन गये थे। घटनावश या कभी किसी बलाबल के विचार से जो प्रत्यय स्त्रीवाचक अथवा पुरुषवाचक शब्दों के साथ लग गये हैं। पीछे से वे उन्हीं लिंगों के द्योतक बन बैठे। संस्कृत के 'अ', 'ई' आदि प्रत्यय लिंग द्योतक इसी प्रकार बने हैं। वे ही प्रत्यय हिन्दी में आकर दूसरे प्रकार के संसर्ग मे पड़ने से पुल्लिंग और बड़प्पन का सूचक बन गया, जैसे–मौसी से मौसा, डोरी से डोरा, घंटी से घंटा, मटकी से मटका, पोथी से पोथा आदि। कभी-कभी प्रकृति का एक अंश उद्योतन के द्वारा प्रत्यय बन जाता है, जैसे–'पश्चात्' प्रकृति है उससे बना 'पाश्चात्य'। पर पीछे से 'आत्य' को ही प्रत्यय मान लिया गया है और अब हम पौर्वात्य दाक्षिणात्य भी कहने लगे हैं। इसी प्रकार अंग्रेजी में Deopotism और Patriotism आदि शब्दों में 'इजम्' प्रत्यय है, परन्तु कुछ समय बाद 'टिज्म' को ही प्रत्यय स्वीकार कर लिया गया और 'ईगो' से ईगोटिज्म जैसे शब्द बनने लगे।

(४) विभक्तियों के भग्नावशेष का नियम—जब विभक्तियाँ ध्वनि-नियम या किसी अन्य कारण से विलुप्त हो जाती हैं तो भी यह जरूरी नहीं है कि वे जनता के मन से भी मिट गयी हैं। इसी मनोवृत्ति के कारण प्रायः प्राचीन काल की कुछ अप्रयुक्त विभक्तियाँ भी भाषा में मिल जाया करती हैं। इस मनोवृत्ति का पोषण करके विभक्तियों को जीवित रखने वाली तीन बातें होती है—(१) परंपरा, (२) वाक्य अथवा पद में शब्द का स्थान, (३) उपमान, जो सहज ही दूसरी मिलती जुलती

रचनाओं से हमारी स्मरण शक्ति पर प्रभाव डाल देता है यथा अगत्या अर्थात् दैवात्, हठात् आदि प्रथम प्रकार के हैं। गयावक्त, मुआयैन्न, सीधा आदमी, आदि दूसरे प्रकार के और 'गढ़त', 'पढ़त', 'लड़त' आदि तीसरे प्रकार के उदाहरण हैं। कुछ पुराने रूप केवल बोलियों में भी पाये जाते हैं, जैसे-सिर-माथे रखना, भूखों मरना आदि में विभक्तियाँ अपने स्थान के कारण अभी तक बच रही हैं। भेद नियम के समान ही इस विभक्ति शेष के नियम की भी निर्धारित सीमा है।

(५) **मिथ्या प्रतीति का नियम**—कभी-कभी भ्रम से हमें जिस अर्थ का भान होने लगता है, वही अर्थ उस प्रत्यय अथवा शब्द में भी पीछे से स्थिर हो जाता है, जैसे—अंग्रेजी का आक्सन oxen को ox आक्स का बहुवचनान्त रूप समझते हैं, पर वास्तव में पहले संस्कृत उक्षन् के समान ही oxen भी Anglo section काल में एक वचन की प्रकृति है। इसमें कोई भी बहुवचन की विभक्ति नहीं है पर अब उसमें जब बहुवचन का भ्रम हुआ तो उसमें से दो अंश निकाले, आक्सन् (एक-वचन) अन् (बहुवचन) का प्रत्यय। इसी प्रकार 'चेरीज', 'पीज' आदि शब्द पहले एकवचन के थे पर भ्रम से वे बहुवचन मान लिये गये हैं और 'ज' बहुवचन का चिह्न माना जाने लगा है। कभी-कभी जहाँ विभक्ति अथवा प्रत्यय रहते हैं, उन पर ध्यान न जाने से एक दूसरे प्रकार की मिथ्या प्रतीत होती है, जैसे—'काबुल वाला' के स्थान पर 'काबुली वाला' और त्रिविध के स्थान पर 'त्रिविध प्रकार' का प्रचलन भी इसी भ्रान्ति के कारण हुआ है।

(६) **उपमान का नियम**—मनुष्य अनुकरणप्रिय होता है, यदि उसे शब्द बनाना पड़ता है तो वह किसी एक चलते शब्द के अनुकरण पर नया शब्द गढ़ लेता है, वह उचित नियमों की चिन्ता नहीं करता है। मुख्यतः चार बातों में उपमान का विशेष प्रयोग होता है—(१) भाव प्रकाशन की कठिनाई दूर करने के लिये, (२) स्पष्टता लाने के लिये, (३) किसी विषय या सादृश्य पर जोर देने के लिये, (४) किसी प्राचीन अथवा अर्वाचीन नियम से संगति मिलाने के लिये। प्राचीन भारोपीय काल में उत्तम पुरुष एकवचन वर्तमान के प्रत्यय थे—मि और ओ। आदिष्ट क्रियाओं में 'ओ' और अनादिष्ट क्रियाओं में 'मि' लगता था, पर उपमान के प्रभाव से यह भेद धीरे-धीरे मिट गया। संस्कृत में लोगों ने 'मि' को अपनाया और ग्रीक में 'ओ' को। तथापि संस्कृत में 'भवा' जैसे रूप ग्रीक के 'फेरो' और लैटिन के 'फेरो' जैसे रूपों में स्मारक माने जा सकते हैं। इस प्रकार उपमान शब्दों के विनाश और उत्पत्ति दोनों का बीज बनता है। संस्कृत के व्यञ्जनांत शब्दों को लोगों ने स्वरान्त शब्दों के समान बना लिया है। पाली प्राकृत और हमारी देश भाषायें इसके प्रमाण हैं। नाम्, पितरम्, कर्मन्, मनस् आदि रूप हिन्दी में अकारान्त हैं। लोगों ने विभक्तिहीनता को ही सुविधाजनक पाया और इसको उपमान ने धीरे-धीरे पूर्ण कर दिया और इस प्रकार की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। उपमान का क्षेत्र बढ़ता ही गया। आज हमारी भाषा में विभक्ति-हीनता ही चारों ओर दीख पड़ती है।

(७) नये लाभ—भाषा में जहाँ कुछ रूप नाश को प्राप्त होते हैं वहाँ कुछ नये रूपों का प्रादुर्भाव भी होता है। हिन्दी की विभक्तियों ने को, से, का, की, के तथा संयुक्त क्रियाओं के रूप इसी प्रकार बने हैं। क्रिया विशेषता भी नवीन उत्पत्ति है।

(८) अनुपयोगी रूपों का विनाश—जब एक अर्थ को प्रकट करने वाले कई वाचक पाये जाते हैं। ऐसी दशा में व्यवहार में कोई एक ही रूप अधिक प्रयोग में लाया जाता है और इस तरह धीरे-धीरे उस अर्थ के कुछ रूप नष्ट हो जाते हैं, जैसे—संस्कृत की क्रियाओं के वचन, पुरुष, लकार के अनुसार बहुत रूप थे, किन्तु आधुनिक भाषाओं मे इनके बहुत कम रूप रह गये है, जैसे—हम जाते हैं, वे जाते हैं, आप जाते हो, वे लिये जाते है, एक क्रिया है, किन्तु संस्कृत में इनके विभिन्न रूप आते है, भूतकाल का उपयोग।

अष्टम उल्लास

वाक्य विज्ञान

वाक्य की परिभाषा

वाक्य के भेद तथा तत्व

वाक्य के विभिन्न प्रकार

परिवर्तन के कारण

भाषा में वाक्य का प्राधान्य तथा शब्द वाक्य का महत्व

वाक्य विचार

शब्द स्फोट को मान्यता प्रदान करने वाले आचार्य वाक्य के प्रत्येक शब्द का स्फोट मानते हैं। हर एक शब्द के स्फोट मानने में उन्हें शब्दों को कई विभाजनों में विभक्त करना पड़ता है। शब्दों के विभाजन के बारे में इन विद्वानों में एकमत नहीं है। यास्क ने इन्हें चार भागों में विभक्त किया है—(१) नाम, (२) आख्यात, (३) उपसर्ग, (४) निपात। कुछ विद्वान पाँचवा भेद 'कर्म प्रवचनीय' मानते हैं। पतञ्जलि ने इस पाँचवे भेद का उपसर्गों में अन्तर्भाव करके यास्कादि के मत की पुष्टि कर दी है। "द्विधा कैश्चिद् पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधाऽपि वा। अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृतिः प्रत्ययादिवत् ॥" (वाक्य पदीय)। भाषा में असंख्य शब्द हैं वह अनन्त है, अपार है। अपने जीवन में हम अनेक नवीन शब्दों का बोध करते रहते हैं। नवीन शब्दों का बोध करना ही नयी भाषा सीखने का सरल उपाय है। एक ही भाषा के प्रत्येक शब्द से अनेक प्रकार के शब्दों का आविर्भाव होता है। हम शब्दों के नियमों के द्वारा प्रतिदिन नवीन शब्दों का निर्माण करते रहते हैं। शब्दों की बार-बार आवृत्ति वाक्य का बोध कराती है। विद्वानों में वाक्य स्फोट मानने वालों के प्रथम गुरु वाण्यपिणि जी हैं। हर एक वचन अथवा वाक्य शब्द ब्रह्म है। भर्तृहरि जी ने यह स्वीकार किया है कि शब्द तत्व या शब्द ब्रह्म तो स्फोटात्मा है, वह अव्याहतकला वाला अर्थात् काल से अबाधित है इसका संकोच विकास नहीं होता।

अव्याहता कला यस्य कालशक्तिमुपाश्रिता।
जन्मादयो विकारा षट् भावभेदस्य योनयः ॥

(वाक्य पदीय १-३)

वाक्य की परिभाषा संस्कृताचार्यों के अनुसार—वर्णों की अखण्ड सामुदायिकता ही पद है। पदों की अखण्ड सामुदायिकता वाक्य है। पद में वर्ण समुदाय अखण्ड और एकात्म्य रूप से रहता है, वाक्य में सभी पद अखण्ड और एकात्म्य रूप से उपस्थित रहते हैं। अतः वाक्य वर्णों और पदों की एकात्मता या अखण्डता के अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं है अथवा वर्णों और पदों की अखण्डता ही वाक्य है। वाक्य ही भाषातत्व शास्त्र की एकमात्र मुख्य इकाई है। प्रत्येक शब्द का अर्थ नामाख्यात उपसर्ग भेद से नहीं वरन् षड्भाव विकारों की सरल पद्धति से अपने आप बन जाता है। वाक्य स्फोट प्रतिभात्मा स्वरूप या आत्मा स्वरूप है, नित्य है, कालशक्ति है, अखण्ड मूर्तिमान सा है। इसकी अनुभूतियाँ अभिव्यक्ति वैकृत ध्वनि से होती है। यह स्वयं प्राकृत ध्वनि या अव्यक्त ध्वनि रूप है, ज्ञानाणु रूप कहिये या शब्दाणु रूप कहिये या प्रकाशाणु या वैद्युतीयाणु रूप कहिये, सचमुच कुछ इसी प्रकार की

प्रतिभात्मा स्वरूप आलोक स्वरूप अलौकिक तत्व है। स्फोट के सम्बन्ध में शब्द के माने वाक्य ही होता है पद नहीं। व्यञ्जकत्व सदा ही वाक्य स्फोट का ही काम करता है। इस प्रकार विभिन्न संस्कृताचार्यों ने वाक्य के लक्षण में अपने-अपने विचारों को व्यक्त किया है। याज्ञवल्क्य शिक्षा में शुद्ध अशुद्ध वाक्य बोलने वाले के गुण और दोषों का विवेचन इस प्रकार किया है—

माधुर्यमक्षर व्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।
धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठका गुणाः॥
गीति शीघ्री शिरःकम्पी तथा लिखित पाठकः।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः॥

मिठास, अक्षरों की स्पष्टता पदों का पृथक-पृथक उच्चारण, स्वरों का उचित चढ़ाव-उतार, धीरता और लय के अनुसार पढ़ना ये पाठकर्त्ता के छः गुण हैं। इसके विपरीत-गाकर हड़बड़ी करके, सिर हिलाते हुए चुपचाप या जैसा लिखा है वैसा पढ़ते हुए अर्थ समझे बिना या दबे स्वर से पढ़ने वाला पाठक अधम होता है।

संस्कृत के वैयाकरणों का मत है कि पद या शब्द से अर्थ नहीं निकलता है। इसलिए वाक्य ही सत्य या कूटस्थ है। इन वाक्यों का अर्थ छः कारणों से व्यक्त होता है—प्रतिभा, संसर्ग विशेषार्थक किन्तु निराकांक्ष पदार्थ संश्लिष्ट अर्थ क्रिया तथा प्रयोजन। तात्पर्य यह है कि मनुष्य का सम्पूर्ण वाग्व्यापार वाक्य में ही होता है पढ़े, सुने या लिखे से वाक्य से ही अर्थ समझा जाता है इसलिए केवल वाक्य से ही अर्थ निकलता है और वाक्य का प्रयोग या वाक्यों में वाग्व्यापार को ही भाषा कहते हैं।

यहाँ वाक्य की रचना, वाक्य के प्रकार आदि पर हम श्री हरीशंकर शर्मा के भाषा विज्ञान के आधार पर विश्लेषण करते हैं।

भारतीय व्याकरण-दर्शन के अनुसार सच्चा अर्थ स्फोट (अव्यक्त शब्द) में रहता है। वर्णों में व्यक्त ध्वनि बाद में सामने आती है। इन व्यक्त ध्वनियों का रूप शब्दों और पदों में दीख पड़ता है, पर अन्त में पूरे वाक्य में ही सच्चे अर्थ की कल्पना होती है। इस प्रकार व्यवहार की दृष्टि से केवल वाक्य सार्थक होता है, वर्ण अथवा शब्द नहीं। इसी से वाक्य-स्फोट ही प्रधान माना जाता है, किन्तु भाषा-विज्ञान में वाक्य-विचार का समावेश उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में ही हुआ है। वाक्य विज्ञान के अध्ययन का सूत्रपात करने का श्रेय बर्गमैन और डैलब्रुक को है। भाषा का चरमावयव वाक्य ही है शब्द नहीं क्योंकि स्वतन्त्र रूप से शब्द अथवा पद निरर्थक ही होते हैं। उदाहरणार्थ 'गाय', अथवा 'घोड़ा'—इन शब्दों का पृथक अस्तित्व तो है किन्तु अभिप्राय की दृष्टि से ये निरर्थक ही हैं। जब तक इन स्वतन्त्र शब्दों का प्रयोग वाक्यों में नहीं होता तब तक ये सम्पूर्ण अर्थ नहीं देते। आदिम युग में भी मनुष्य की भाषा अभिप्राय अथवा अर्थ की दृष्टि से वाक्यमूलक ही रही होगी, शब्दमूलक नहीं। उस समय के वाक्य निश्चित रूप से ही सम्पूर्ण विचारों के वाचक रहे होंगे।

अध्ययन पद्धतियाँ—वाक्य विज्ञान की तीन प्रमुख अध्ययन पद्धतियाँ है—ऐतिहासिक, वर्णनात्मक एवं तुलनात्मक।

ऐतिहासिक—इसके अन्तर्गत वाक्यों की संरचना को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे देखा जाता है। उदाहरण के लिये हिन्दी-वाक्य का ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए उसके विभिन्न स्रोतों की विकासात्मक स्थितियों का उल्लेख अपरिहार्य होगा, यदि हम संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश के क्रम में हिन्दी वाक्य को देखेंगे।

वर्णनात्मक—वाक्य के अवयवों का कालक्रम-निरपेक्ष अध्ययन वर्णनात्मक वाक्य-विज्ञान का परिप्रेक्ष्य है। वाक्य मे उपस्थित अवयवो का यथार्थ विश्लेषण वर्णनात्मक वाक्य-विज्ञान का विषय है। उसका सम्बन्ध एक काल-विशेष की वाक्य-रचनाओं से होता है।

तुलनात्मक—तुलनात्मक पद्धति में अध्ययन-परिवेश में द्विकालिकता एवं संकालिकता दो आ जाती है। जब इसका सम्बन्ध द्विकालिकता से होता है तब यह सम्बद्ध भाषा के वाक्यों के पूर्वरूपों को ध्यान मे रखता है, इसके विपरीत जब संकालिकता की तुलनात्मकता को आधार बनाया जाता है, तब तात्कालिक एकाधिक भाषाओं के वाक्य-अध्ययन-विश्लेषण के विषय होते है।

वाक्य—वाक्य भाषा की महत्त्वपूर्ण इकाई है। वाक्य में रचना-पक्ष को प्रश्रय देने वाले विद्वानों ने जो परिभाषाएँ दी है वे रचना रूप अथवा प्रक्रिया से सम्बद्ध हैं। इसके विपरीत भाषा के प्रयोजन पक्षों को अधिक महत्त्वपूर्ण मानने वाले विद्वानो की परिभाषाएँ उद्देश्य-संवलित है। ऐसी स्थिति मे ब्लूमफील्ड की परिभाषा सर्वाधिक समीचीन प्रतीत होती है कि "वाक्य एक पूर्ण उक्ति है।"

(१) मीमांसकों ने पद और वाक्य के सम्बन्ध में दो सिद्धांत दिये है अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद। अभिहितान्वयवादी पदों को महत्त्व देते हैं। वे मानते है कि पदों के योग से वाक्य निर्मित होते है। इन्हें पदवादी भी कहा गया है। वे मानते हैं अन्विताभिधानवादी वाक्य को महत्त्व देते है। इनका कहना है कि वाक्य को तोड़ने से यह बनते हैं। ये पृथक् सत्ता को अस्वीकार करते है। इन्हें वाक्यवादी भी कहा गया है।

(२) "पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेष वपुर पदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लासतीत्यभिहितान्वय वादिनामतम्—काव्यप्रकाश।

"पदार्थी एवं वाक्यार्थः" पुण्यराज

(३) इस प्रकार वह अन्विताभिधानवाद के अधिक निकट ठहरता है। इस सम्बन्ध मे भर्तृहरि का कथन-दृष्टव्य है।

पदे नवर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात, पदानामत्यन्त प्रविवे को न कश्चन्।

—वाक्य पदीय, ब्रह्म काण्ड १३

(४) न्य एव वाक्यार्थ ... ादिन

५ अभिहितान्वयवादी पदों के योग से वाक्य की सिद्धि तो मानता है पर साथ ही तीन प्रतिबन्धों की चर्चा भी करता है। वह वाक्य के हेतु आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति को अनिवार्य मानता है।

आकांक्षा—वाक्य में साकांक्ष पद-योजना पाई जाती है। जैसे ही शब्द बोला जाता है, वैसे ही यह आकांक्षा होती है कि इससे आगे क्या होगा।

योग्यता—वाक्यान्तर्गत पद-योजना सापेक्ष होती है। इससे अभिप्राय यह है कि वाक्यों में प्रयुक्त पदों में व्यवस्था एवं अर्थ-पूर्ति के हेतु पारस्परिक निर्वाह की दृष्टि से योग्यता का अभाव हो तो दो प्रकार की बाधाएँ सामने आ सकती हैं—अर्थमूलक और व्याकरणिक।

आसत्ति—निकटस्थ अवयवमूलक औद्भूति का स्थितिगत महत्त्व है। इसके विपरीत आसत्तिमूलक औद्भूति कालिक महत्त्व की है। बोध के लिए योग्यता और आकांक्षा ही पर्याप्त नहीं है वरन् आसत्ति की भी अपेक्षा होती है।

श्लिष्टता के आधार पर—संसार में पाई जाने वाली भाषाओं को ध्यान में रखकर श्लिष्टता के आधार पर वाक्य के तीन भेद किये जा सकते हैं—अश्लिष्ट, विश्लेषणीय तथा अविश्लेषणीयश्लिष्ट।

अश्लिष्ट—हिन्दी तथा अंग्रेजी के वाक्य इसी प्रकार के हैं—

हिन्दी—मैंने कई पुस्तकें पढ़ीं।

अंग्रेजी—I read many books.

विश्लेषणीयश्लिष्ट—कुछ भाषाओं में ऐसे वाक्य होते हैं जिनके योजकपद संधि के द्वारा मिलकर एक हो जाते है। संस्कृत, लैटिन आदि में इसी प्रकार की वाक्य-योजना मिलती है—

पठाम्यहम् = पठामि + अहम्; अहम् + पठामि।

अविश्लेषणीयश्लिष्ट—चैरोकी, मैक्सिकन जैसी भाषाओं में योजकपद अंशत. खण्डित होकर इस प्रकार मिल जाते हैं कि उनमें मूल रूपों को पहचानना भी सम्भव नहीं होता है।

चैरोकी—नाधोलिरसीन (हमारे निकट नौका लाओ)।

—नातेन = लाओ

—अमोखोल = नौका

—निन = हम

मैक्सिकन—नीनकक (मैं मांस खाता हूँ)

—क = खाना

—नकत्ल = मांस

—नेवत्ल = मैं

रचना के आधार पर—साधारण, मिश्र और संयुक्त।

साधारण वाक्य—इनमें उद्देश्य अथवा कर्ता तथा क्रिया रहती है।

मिश्र वाक्य—मिश्रित विचारों को व्यक्त करने के लिए प्रधान और उसके अधीन उपवाक्यों की आवश्यकता होती है।

संयुक्त वाक्य—एकाधिक सहयोगी उपवाक्यों के योग से बनने वाले वाक्यों को सं० वा० कहा जाता है।

अर्थ के आधार पर—वाक्य के अनेक पदभेद सम्भव हैं। विधानार्थी, निषेधार्थी, प्रश्नार्थी, आज्ञार्थी, इच्छार्थि, सन्देहार्थी, संकेतार्थी, विस्मयार्थी आदि।

विधानार्थी—तुम जाते हो।

निषेधार्थी—तुम नहीं जाओगे।

प्रश्नार्थी—क्या तुम जाओगे ?

आज्ञार्थी—तुम जाओ।

इच्छार्थी—तुम्हें जाना चाहिए।

सन्देहार्थी—तुम जाते होगे।

संकेतार्थी—शायद, तुम्हें जाना पड़े।

विस्मयार्थी—अरे ! तुम जाओगे।

क्रिया के आधार पर भी वाक्यों के भेद किये जाते हैं—

क्रियायुक्त वाक्य—क्रिया का वाक्य में अप्रतिम महत्त्व है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर वाक्यपदीय कर भर्तृहरि ने जो व्याख्या प्रस्तुत की है, वह विचारणीय है—

आख्यात शब्दः संघातोऽसिः संघातवर्त्तिनी।
एकोऽनवयवः शब्दाः क्रमो बुद्ध्यानुसं हृतिः॥
पदमाद्यं पृथक् सर्वं पदः साकाङ्क्षमित्यपि।

वाक्यपदीय, २, १

पुण्यराज ने यहाँ तक कह दिया है कि वाक्य की आत्मा ही क्रिया है—

आख्यातशब्दो वाक्यमित्यस्मिन् पक्षे क्रिया वाक्यार्थः।

वार्तिककार ने भी क्रिया की सर्वाधिक महत्ता की ओर संकेत किया है—

"आख्यात साव्ययकारणविशेषणं वाक्यम्।"

यस्पर्सन, शेरह्वेज तथा स्टोक ने भी क्रिया के महत्त्व के सम्बन्ध में इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं—

"The verb is a life giving element, which makes it particularly valuable in building up sentences; a sentence nearly always contains a verb and only exceptionally do we find combinations without a verb which

might be called complete sentences. Some grammarians even go so far as to require the presence of a verb in order to call a given piece of communication a sentences."

—Otto Jesperson–A Philosophy of Grammar PP. 86.

"In sentences with transitive and intransitive verbs, the most important part of the predicate is the verb."

—G. Scheurweghs–Present Day English Syntax PP. 90

"A verb is a word that is used as the main word of a sentence or of a clause, in a sentence and agrees with in its subject in number and person, expressed or understood."

–H. R.Stokoe–The Understanding of Syntax PP. 188

क्रियाविहीन वाक्य—नैयायिक उन वैयाकरणों से सहमत नहीं हैं जो क्रिया को वाक्य के एकमात्र अनिवार्य तत्व के रूप में स्वीकार करते हैं। शब्दशक्ति प्रकाशिका के लेखक जगदीश काश्यप का कथन है कि वाक्य परस्पर साकांक्ष और योग्य पदों का समवाय है, वह क्रिया को महत्वपूर्ण नहीं मानता। इसी प्रकार के विचार यूनानी दार्शनिक अरस्तू के हैं। इनके विचारों में और नैयायिकों के विचारों में पर्याप्त साम्य है।

"क्रियारहितं न वाक्यमस्तीति प्राचां प्रवादो निर्युक्तिक स्वादश्रद्धेयः।"

—शब्दशक्ति प्रकाशिका, कारिका १३

"Language in general includes so many parts as Letter, Syllable, Connecting Word, Noun Verb, Inflexion or Case, Sentence or Phrase."

–Poetics XX Butcher's Ed. P. 71

"A sentence or phrase is a complete significant sound, some at least of whose parts are in themselves significant; for not every such group of words consists of verbs and nouns, but it may even dispense even with the verb."

–O. P. Cit P. 75

वाक्यों के भेद तथा परिवर्तन—वाक्य में उद्देश्य और विधेय के पारस्परिक सम्बन्ध के अध्ययन से ही हम वाक्यों के प्रकारों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। भाषाओं के आकृतिमूलक अथवा रूपात्मक वर्गीकरण का आधार भी उनकी वाक्य रचना की विभिन्नता है। विभिन्न भाषाओं में उपलब्ध वाक्यों के अध्ययन से चार प्रकार के वाक्य मिलते हैं—(१) समास प्रधान, (२) व्यास प्रधान, (३) प्रत्यय प्रधान और (४) विभक्ति प्रधान। कभी-कभी शब्दों अथवा पदों की रचना में परिवर्तन हो जाने के कारण वाक्यों में परिवर्तन होते रहते हैं।

नये वाचक चिन्ह—भाषा निरन्तर प्रगति करती है। जो भाषा जितनी अधिक प्रगतिशील होगी उसमें अभिव्यक्ति की सहजता के लिये उतने ही शब्दों की अथवा पदों की रचना होगी उसके अनुसार ही फिर वाक्य रचना भी परिवर्तित होती रहेगी।

अन्य भाषा की वाक्य रचना का ग्रहण—किसी भाषा के शब्द समूह पर तो एक भाषा का प्रभाव पड़ता ही है, किन्तु दो भाषायें एक दूसरे की वाक्य रचना में भी प्रभावित होती हैं। ऐसा प्रायः तब होता है जब दो जातियों अथवा संस्कृतियों का मेल होता है।

परिस्थितिजनक विशेषता—एक दीन व्यक्ति के वाक्य टूटे फूटे होंगे—पर सम्भ्रान्त व्यक्ति के वाक्य विचाराभिव्यक्ति से पूर्ण होंगे। आपत्ति काल में हम वाक्यों की बनावट पर अधिक ध्यान नहीं देते। युद्धकाल के व्याख्यानों के वाक्य सेना को दिये गये आदेशों की भाँति ही स्पष्ट और सीधे सादे होते हैं।

बल प्रदर्शन—वाक्य रचना में कभी कभी हम बल देने के लिये वाक्य के अन्तर्गत उसके पदों के क्रम में परिवर्तन कर देते हैं।

विभक्तियों का घिस जाना—सम्बन्ध-तत्व को बताने वाली विभक्तियाँ जब घिस जाती हैं तो अर्थ-तत्व की रक्षा के लिये सहायक शब्द जोड़ने पड़ते हैं। ऐसा करने से वाक्य संयोग से वियोग की प्रवृत्ति धारण करता है। संस्कृत की धातुयें और विभक्तियाँ जब टूटीं तो उनके लिये सहायक शब्दों की आवश्यकता पड़ी। 'गच्छति' के स्थान पर 'जाता है' और 'रामाय' के स्थान पर 'राम के लिये' बनाने पड़े।

संस्कृत आचार्य दण्डी ने वाक्य की महत्ता इस प्रकार प्रतिपादित की है—"पदानां रूपमर्थो वा वाक्यार्थादेव जायते" पदों के रूप और अर्थ का ज्ञान वाक्यार्थ से ही जाना जाता है।

अर्थशास्त्र में वाक्य का लक्षण इस प्रकार है। पद-समूहो वाक्य-अर्थ परिसमाप्तौ "पदों का समूह वाक्य होता है जिसमें अर्थ अच्छे प्रकार समाप्त हो। "पदानां तु वाक्यम्।" एक दूसरे की अपेक्षा रखने वाले पदों का जो निरपेक्ष समूह है वह वाक्य कहलाता है।

वस्तुतः समस्त श्रेष्ठ, शिष्ट, सराहनीय और चित्ताकर्षक वार्तालाप वाक्य में ही होता है। वार्तालाप और भाषण में स्वभावतः शब्द कृपणता की जाती है और

जहाँ तक सम्भव होता है वे एक दो शब्दों से ही काम चला लेने का प्रयत्न करते है। उदाहरण प्रस्तुत है—

राम और श्याम का वार्तालाप सुनिये

राम—चलिएगा।

श्याम—कहाँ।

राम—सभा में।

श्याम—हो आइये।

उपर्युक्त वार्तालाप का भाव वाक्यों में निम्न प्रकार होगा।

राम—क्या आप मेरे साथ वहाँ चलियेगा जहाँ मैं जा रहा हूँ ?

श्याम—आप ऐसे किस स्थान पर जा रहे है जहाँ आप मुझे भी ले जाना चाहते हैं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार एक ही शब्द एक वाक्य का बोधक होता है किन्तु वह तभी सम्भव होता है जब उन शब्दों का पूर्वापर सम्बन्ध भी बना हुआ हो। जब पूर्वापर सम्बन्ध नहीं होता वहाँ पूरा वाक्य कहना ही पड़ता है। भाषाओं की प्रकृति चार प्रकार की होती है—अयोगात्मक, सप्रत्ययोपसर्ग, धातुरूपात्मक और सम्पृक्त। इसका विस्तृत विवेचन आकृतिमूलक वर्गीकरण में कर दिया गया है। प्रत्येक वाक्य के दो भेद होते हैं—उद्देश्य और विधेय। वाक्य में तीन और तत्व होते हैं—वक्ता, सम्बोध्य और भाव। वक्ता-तत्व ये स्पष्ट करता है कि कौन व्यक्ति किससे क्या कह रहा है और श्रोता से उसका क्या सम्बन्ध है।

सम्बोध्य या श्रोता-तत्व के द्वारा यह निश्चित होता है कि श्रोता की योग्यता, अवस्था और प्रकृति कैसी है।

भाव-तत्व के अन्तर्गत उस सम्पूर्ण विषय, भाव या परिस्थिति का समावेश होता है जो वक्ता उस सम्बोध्य को बताना चाहता है। यूनान और रोम के भाषण शास्त्रियों ने इस सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया। उन्होंने सम्पूर्ण भाषण क्रिया या वाग्व्यापार में चार अपरिहार तत्व माने हैं—डिक्सन (भाषा शैली), डिलिवरी (भाषण शैली), जेस्चर (मुख-मुद्रा) तथा पोस्चर (खड़े होने या शारीरिक क्रिया करने की गति और ढंग)।

नवम् उल्लास

रूप विचार-शब्द का विवेचन
शब्द और नाद ब्रह्म का सिद्धांत
पद का महत्व और विकास
शब्दों के प्रकार
शब्द में सम्बन्ध तत्व और अर्थ तत्व
संस्कृत भाषा में संज्ञा तथा धातु रूपों का विकास एवं महत्व
कृत और तद्धित प्रत्ययान्त शब्द
रूप परिवर्तन की दिशा और उसके कारण

शब्द को भर्तृहरि जी पवित्र ज्योति या शुद्ध ज्योति मानते हैं, दीपादि की ज्योति अति विकृत तथा अति विकसित होने से न तो पवित्र है न शुद्ध। कभी-कभी हमारे अन्तस्तल या मस्तिष्क में ज्ञान की जो पवित्र और शुद्ध ज्योति सी जगमगाती सी प्रतीत होती है, ठीक वही आकार प्रकार, शब्द की पवित्र और शुद्ध ज्योति का होना है। यह जैसी ज्योति होती है वही ज्योति शब्द का वास्तविक रूप है—

"प्राप्तरुपविभागाया यो वाच: परमो रस: ।
यत्तत्पुण्यतमं ज्योतिस्तस्य मार्गोऽयमाञ्जस: ॥
प्रत्यस्तमितरुपाया यद्वाचो रुपमुत्तमान् ।
यदग्निनेव तमसि ज्योति: शुद्ध प्रवर्तते ॥"

(वा० प० १-१२, १८)

पुरुष सूक्त में 'मुखादग्निरजायत' मंत्र जिस अग्नि की मुख से उत्पत्ति बतलाई गई है। वह यही शब्द रूप शुद्ध और पवित्र ज्योति (अग्नि) का निर्देश करती है।

शुद्ध और पवित्र ज्योति रूप शब्द परमाणु या अतितमसूक्ष्मतम अणु रूप में विद्यमान रहते हैं। यह ज्योति इन्हीं अतितम शब्दाणुओं की है जो अणु है वही ज्योति है, वही शब्द है। शब्द तत्व की जिस प्रकार की व्याख्या ऊपर दी गई है वह है सत्वगुण की व्याख्या। प्रकृति या हिरण्यगर्भ को आप चाहे सत्वगुण का पुञ्ज कहें या शब्दाणुओं का पुञ्ज कहें, दोनों एक ही बातें हैं। यहाँ अन्तर पारिभाषिक शब्द सम्बन्धी है, तत्व या विषय सम्बन्धी नहीं। सत्वगुण के भी अतितम सूक्ष्मतम कण ही होते हैं उनकी विशेषतायें, जैसी—ग्रन्थकार के—'सांख्य-योग दर्शन का जीर्णोद्धार' नामक ग्रन्थ में दी है। सत्व के कण या शब्द के कण निर्मल स्वच्छ, शुद्ध ज्योतिर्मय, प्रतिबिम्बग्राही, पारदर्शी, निर्विकार, सड़न गलन से रहित, आनन्दमय, ज्ञानमय, बुद्धिमय, चमकीले, हल्के, लचकीले, ढलने योग्य, चैतन्यता के मूल आधार, नित्य क्रियाशील, समस्त ब्रह्माण्ड के समस्त स्वरूपों की शक्ति के स्रोत, स्फूर्ति और शान्त स्वभाव वाले होते हैं। भर्तृहरि जी शब्दब्रह्म की या सत्वगुण की इस अवस्था का एक दूसरा नाम 'प्रतिभा' भी देते हैं।

इसी प्रतिभात्मा स्वरूप शब्द ब्रह्म से या शब्दाणुओं से हमारा निखिल ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है, शब्दाणु ही जगत्कारणकारक दोनों हैं। प्रतिभात्मा रूप शब्दाणुपुञ्ज को भर्तृहरि जी ने 'नेत्र' नाम से भी पुकारा है। यह पुरुष सूक्त के 'चक्षो: सूर्योऽजायत' मंत्र के भाव की गुञ्जायमान ध्वनि की ओर संकेत करते हुये पौराणिक भावनानुसार महाकाल रुद्र रूप प्रकृति के तृतीय नेत्र खुलने का प्रच्छन्न व्याख्यान कर रहा है। स्थान और करण की टक्कर कम्प उत्पन्न करती है। इस

कम्प की प्राणवायु का अव्यक्त शब्द, व्यक्तता प्राप्त होकर नाद, घोष, श्वास रूप मे परिणित होकर, हृस्वदीर्घप्लुत और लघु, गुरु आदि परिमाणों का शरीर धारण करता है। तब षड्जादि सप्त स्वर तथा स्वर, अन्तःस्थ ऊष्माण, स्पर्शादि स्फुट ध्वनियों की स्फुटता तथा अर्थावलम्बनकारी स्फोट की प्रभा दीप्त हो जाती है। ससार की समस्त इतिकर्तव्यता का मौलिक आधार ये ही शब्द है। सविकल्पक ज्ञान की सम्पादिनी शब्द तत्व की शक्ति ही मनुष्य सभ्यता मे कला-कौशल शिल्प, दर्शन, विज्ञान, साहित्य, धर्म, राजनीति आदि-आदि सबकी जननी है, उसी के बल से सब उछलते, उन्नति, स्थिति, पतन भी पाते हैं। जीवधारियों की भीतरी (मूर्च्छावस्था में) और बाहरी चेतनता (व्यवहारावस्था में) का जो बोध हमें होता है वह भी इसी शब्द तत्व के व्यक्त या अव्यक्त रूप मे होता है। हम किसी को जीवित या मृत की सज्ञा उसमे विद्यमान व्यक्ताव्यक्त शब्द तत्व की स्थिति मे ही देते है। जब तक नाड़ी या हृदय शब्द करता है तब तक हम उसे जीवित मानते है, इसके अभाव में मृत। अत शब्द तत्व ही परा प्रकृति है, अन्तिम शुद्ध बुद्ध ज्योतिर्मय, ज्ञानमय, नित्य-क्रियाशील, चेतनमय प्रतिभामय सत्व-गुण-पुञ्जमय है।

"स्वशक्तौ व्यज्यमानायां प्रयत्नेन समीरिताः।
अभ्राणीव प्रचीयन्ते शब्दाख्याः परमाणवः॥
लब्धक्रियः प्रयत्नेन वक्तुरिच्छानुवर्तिनः।
स्थानेष्वभिहितो वायुः शब्दत्वं प्रतिपद्यते॥
यस्य कारणसामर्थ्यात् वेग - प्रचयधर्मिणः।
सन्निपाताद् विभज्यन्ते साखल्यो हि मूर्तयः॥
आणवः सर्वशक्तित्वात् भेदसंसर्गवृत्तयः।
छायातपतमः शब्दभावेन परिणामिनः॥
अन्तः करणतत्वस्य वायुराश्रयतां गतः।
तद्धर्मेण समाविष्टस्तेजसैव विवर्तते॥
विभज्य स्वात्मनो ग्रन्थीन् श्रुति रूपैः पृथक् विधैः।
प्राणो वर्णानभिव्यज्य वर्णेष्वेवोपलीयते॥
षड्जादि भेदः शब्देन व्याख्यातो रूप्यतेयतः।
तस्मादर्थ विधाः सर्वाः शब्दमात्रासु निश्रिताः॥
शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
छन्दोभ्य एवप्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तत॥
वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत साहि प्रत्यवमर्शिनी॥
सा सर्वविद्या शिल्पानां कलानाञ्चोपबन्धनी।
तद्वशादभिनिष्पत्तौ सर्वं वस्तु विभज्यते॥

भेदोग्राह् विवर्तेन लब्धाकार परिग्रहाः ।
आम्नाता सर्वविद्यासु वागेव प्रकृतिः परा ॥
अण्डभावमिवापन्नो यः क्रतुः शब्दसंज्ञकः ।
वृत्तिस्तस्य क्रिया रूपा भागशो भजते क्रमम् ॥

स्फोट, नाद और अर्थ में भेद

शब्द में दो उपादान रूप होते हैं। उनमें से एक 'निमित्त' कहलाता है दूसरा अर्थ में प्रयुक्त होता है। इनमें से निमित्त रूप शब्द तो ध्वनि या नाम है, अर्थ में प्रयुक्त होने वाला स्फोट कहलाता है। इन दोनों रूपों का आपस का सम्बन्ध भिन्न-भिन्न मत वाले भिन्न-भिन्न मानते आ रहे हैं। न्याय शास्त्र वालों का कथन है कि ये दोनों कारण और कार्य रूप सम्बन्ध रखते हैं। जिस प्रकार तन्तु और पट का सम्बन्ध है उसी प्रकार का सम्बन्ध निमित्त और स्फोट में है। सांख्यवालों का कहना है कि इन दोनों का तादात्म्य सम्बन्ध है। प्राचीन लोग इन दोनों का स्वाभाविक भेद मानते हैं। कुछ और लोग हैं जो यह कहते हैं कि सुवर्ण और कुण्डल की तरह तादात्म्य तो नहीं है पर उनमें बुद्धि विषयक भेद अवश्य प्रतीत होता है। बुद्धि में ये दो पृथक् से भासमान होते तो हैं, पर है एक ही वस्तु। निमित्त शब्द और स्फोट शब्द के सम्बन्ध के बारे में भर्तृहरि जी दृष्टान्त द्वारा कहते हैं कि निमित्त शब्द अरणि के समान है। जिस प्रकार अरणि में अव्यक्त अग्नि द्वितीय अरणि के घर्षणादि क्रिया से व्यक्त होती है उसी प्रकार बुद्धि में स्थित स्फोट, निमित्त शब्द के घर्षणादि प्रयत्नों से पृथक्-पृथक् श्रुति रूप अग्नि के उत्पादन में समर्थ हो जाती हैं। जब हम बोलते हैं तो हम भली प्रकार सोच विचार लेते हैं कि क्या कहना है, तब उस सोचे स्फोट को किसी अर्थ में सम्बद्ध कर लेते हैं। तदनन्तर उस स्फोट शब्द को स्थान और कारणों को प्रयत्नों से व्यक्त करने की चेष्टा करते हुए उसे ध्वनि रूप में प्रकट और ग्रहण करते हैं। स्फोट का न आदि है न अन्त, न इसमें क्रम है न अक्रम, न इसका पूर्वार्द्ध है न परार्द्ध। पर इसकी अभिव्यक्ति नाद से होती है। नाद स्थूल है, अतः इसकी अभिव्यक्ति क्रम से ही होती है, क्रमवान् नाद से क्रमशः व्यक्त होने के कारण वह स्फोट क्रमहीन होते हुये भी क्रमवान् या भेदवान् सा प्रतीत और गृहीत सा होता है।

भाष्यकार पतंजलि जी कहते हैं "अतश्च शब्दपूर्वं कोऽर्थ सम्प्रत्ययः; यो हि नाम्ना आहूयते नाम च यदा यदाऽनेन नोपलब्धो भवति तदा पृच्छति किं भवानाह इति।" शब्द के धर्म या शक्ति (ग्राह्यत्व ग्राहकत्व) एकाश्रयी होने से अभिन्न होते हुए भी विभिन्नता से अनुभूत किये जाते हैं, अतः व्याख्यानावसर में भेदकतया प्रतीत होने से शब्द की ग्राह्यत्व-ग्राहकत्व शक्तियाँ कारण कार्य रूप में अविरोध अबाध रूप से चलती हैं। वाक्य-स्फोट प्रतिभात्मा स्वरूप या आत्मा स्वरूप है, नित्य है, काल-रहित है, अखंड मूर्तिमान सा है। इसकी अनुभूति या अभिव्यक्ति वैकृत ध्वनि से होती है यह स्वयं प्राकृत ध्वनि या अव्यक्त ध्वनि रूप है, ज्ञानाणु रूप कहिये या शब्दाणु

रूप कहिए या प्रकाशाणु या वैद्युतीयाणु रूप कहिए, सचमुच कुछ इसी प्रकार का प्रतिभात्मा स्वरूप आलोक स्वरूप अलौकिक तत्व है ।

पद्यते गम्यतेऽनेनेति पदम् –शरीर का वह भाग जिसमें गमन किया जाता है, परन्तु यास्क ने 'निरुक्त' में लिखा है "चत्वारि पद जातानि" चार पदों की श्रेणियाँ हैं । वाक्य का अवयव भी पद और पाद कहलाता है सागर नन्दी ने अपने नाटक लक्षणरत्न कोश में वाक्य के लिए भी पद शब्द का उल्लेख किया है "क्रिया कारक युक्तं वाक्य पदम्" । प्राचीन मनीषियों ने वाक्यावयव अर्थ में प्रसिद्ध पद के अनेक लक्षण किए हैं यथा अर्थ पदम् अर्थवान् की पद संज्ञा होती है विभक्त्यन्तं पद सेयम । नाटयशास्त्रे सुप्तिङन्तं पदम् । सुप् और तिङ् विभक्तियां जिनके अन्त में हों उनकी पद संज्ञा हो । 'वर्ण समुदाय पदम्' महाभाष्य, "वर्ण संघातः पदम्" कौटिल्य । इन सभी वचनों का अभिप्राय है वर्णों के समूह को पद कहते हैं । बाबूदेव शास्त्री ने इस लक्षण को अधिक स्पष्ट किया है "एक दूसरे की अपेक्षा रखने वाले वर्णों का जो निरपेक्ष समुदाय है उसको पद कहते हैं ।" पाश्चात्य विद्वान् एम० मार्टिनेट के अनुसार "A word is the result of the associations, a given meaning with a given combination of sounds capable of a given grammatical use". द्वितीय विद्वान् ग्रे के अनुसार—"A complex of sounds which in itself possesses a meaning fined and accepted by convention."

ध्वनियों का संघात जिसमें समाज के समझौते से अर्थ जोड़ा गया है । वह वाक्य कहलाता है । यास्क ने पदों की चार श्रेणियाँ बताई हैं । नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ।

प्रत्येक वाक्य में दो प्रकार के विशिष्ट तत्व होते हैं । एक तो, भावों के प्रतिरूप विषयानुभव की अभिव्यक्ति के तत्व; और दूसरे इन भावों के परस्पर विशेष सम्बन्ध के संकेतक तत्व । वस्तुतः ये दो तत्व सम्बन्ध तत्व (मोर्फीम) व अर्थ तत्व 'सेमान्टेम' हैं, जैसे 'घोड़ा दौड़ता है ।' अर्थतत्वों से हमारा अभिप्राय भाषा के उन तत्वों से है जो प्रतिमाओं के भावों की अभिव्यक्ति करते हैं । (अर्थात) जो अर्थ अथवा विचार का उद्बोध कराते हैं और सम्बन्ध तत्व भाषा के वे अंग हैं जो इस प्रकार व्यक्त भावों में परस्पर सम्बन्ध की अभिव्यक्ति करते हैं । उदाहरणार्थ यहाँ सामान्य रूप से घोड़े के दौड़ने के भाव की अभिव्यक्ति का सम्बन्ध वर्तमान काल और प्रथम पुरुष के एक वचन से है । परिणामतः सम्बन्ध तत्व बुद्धि द्वारा स्थापित अर्थ तत्वों के परस्पर सम्बन्ध के द्योतक हैं । वाक्य अथवा शब्द में सम्बन्ध तत्वों के क्रम, उनके स्थान, उनकी व्याप्ति अथवा भाषा में उनके महत्व से कोई अन्तर नहीं पड़ता । ग्रीक शब्द "एपोयैसेन" (=उसने किया) के "ए" आगम "स" प्रत्यय, और "एन" पर प्रत्यय को सम्बन्ध तत्व ही मानते हैं । रूपग्राम (सम्बन्ध तत्व) ही पद विधायक है । रूप ग्राम पदान्तर्गत अर्थमूलक इकाइयाँ होती है

"The formative element of a word as opposed to root, is called the semanteme." इनका अर्थगत खंडन नहीं हो सकता है। विभिन्न विद्वानों ने रूपग्राम की परिभाषायें दी हैं। उनका हम यहाँ उल्लेख करते है जिससे विद्यार्थियों को समझने में सरलता प्रतीत हो–

"A linguistic form which bears no partial phonetic-semantic resemblance to any other form is a simple form or morpheme."

–*Bloomfileld–Language.*

"Any form, whether free or bound, which cannot be divided into smaller meaningful parts is a morpheme."

–*Bloch and Trager-Outline of Linguistic Analysis.*

"A morpheme is a recurrent sequence of phonemes or a class of recurrent sequences of phonemes which contrasts with other sequences of class of sequences of the same type."

–*Archibald A. Hill-Introduction to Linguistic Structures.*

"मंषिम लघुतम अर्थयुक्त इकाई है, किन्तु वह अर्थ की इकाई नहीं है। उसका सम्बन्ध भाषा के रूप-पक्ष से भी है और अर्थ-पक्ष से भी।"

--डा० देवीशंकर द्विवेदी-भाषा भाषिकी

रूप विज्ञान में रूप का वही महत्व है जो ध्वनि विज्ञान में ध्वनि का। रूप-ग्राम का महत्व ध्वनि ग्राम के समकक्ष है। एक रूपग्राम के अन्तर्गत आने वाले विभिन्न रूपों की संज्ञा संरूप (cellomorph) है। वस्तुतः रूप और संरूप कोई प्रक्रनिगत अन्तर नहीं है। इस संदर्भ में रॉबिन्स का यह कथन समीचीन है कि रूप और संरूप में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। रूपग्राम अथवा रूप व संरूप मूलक विभाजन सार्वभौम नहीं है और रूपग्राम, रूप, संरूप में कोई महत्वपूर्ण अन्तर नही है। रूप के विकास परिवर्तन के कारण दिशाओं तथा उसके प्रकारों का नीचे उल्लेख करते हैं---

वर्णों के जिस समूह से कोई अर्थ निकलता हो उसे शब्द कहते हैं और वाक्य में पहुँचकर परस्पर संबंध प्रकट करने वाले रूप में व्यक्त होने वाले शब्दों को पद कहते हैं। पाणिनि ने इसे स्पष्ट करने के लिए सूत्र ही दिया है---सुप्तिङन्तं पदम्। (सुबन्तं तिङन्तं च पद संज्ञा स्यात्) सुप् से युक्त तथा से युक्त शब्द ही पद कहलाता

है। वाक्यों में शब्द पांच प्रकार का अर्थ लेकर प्रयुक्त होते है रूपार्थक, भावार्थक, शक्तिभावित, कूट तथा औपचारिक। यास्क ने अपने निरुक्त में चार प्रकार के शब्द माने हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। कुछ आचार्यों का मत है कि शब्द तीन प्रकार के होते है—सुबन्त, तिङन्त तथा निपात उपसर्ग। नाम पद तीन प्रकार के होते है—स्त्रीलिङ्ग वाची जैसे रमा, पुल्लिङ्ग वाची जैसे रामः और नपुंसकलिङ्ग वाची जैसे पुस्तकम्। आख्यात या क्रिया-पद भी तीन प्रकार के होते हैं—(१) कर्तृवाच्य, जैसे-राम ने रावण को मारा, (२) कर्मवाच्य जैसे-राम के द्वारा रावण मारा गया, और भाववाच्य. जैसे-मुझसे खाया नहीं जाता। पद के दो अंग माने जाते है—सम्बन्धक योग और अर्थकर योग। कुछ भाषाओं की ऐसी प्रकृति है कि उनमें जब कोई शब्द वाक्य में पहुँचता है तब वह अपना रूप बदल देता है, जैसे संस्कृत का 'रामः' शब्द सप्तमी के एकवचन में 'रामे' बन जाता है। इस प्रकार शब्दों के रूप में परिवर्तन करने के लिए प्रयुक्त हुई इन ध्वनियों को सम्बन्धक योग (मॉर्फीम) कहते हैं। सम्बन्धक योग पांच प्रकार के होते हैं। शब्दक्रम, ध्वनियोग, शब्दयोग, परसर्ग और काकु। शब्द दो प्रकार के होते है—धातु-मूलक और प्रत्ययमूलक। विश्व की अधिकांश भाषाओं में विशेषतः सेमिटिक और हिन्द यूरोपीय भाषाओं में शब्दों का निर्माण धातुओं और प्रत्ययों से होता है। चीनी आदि कुछ ऐसी भाषाएं हैं जिनमें धातुओं और प्रत्ययों का प्रयोग नहीं होता। संस्कृत आदि भाषाओं में प्रत्यय और उपसर्ग लगाकर शब्द बनाए जाते है, किन्तु अंगरेजी आदि भाषाओं में उपसर्ग तो लगते हैं किन्तु प्रत्ययों का प्रयोग अलग और शब्द से पूर्व होता है। संस्कृत भाषा में दो प्रकार के प्रत्ययों का प्रयोग होता है—कृत् प्रत्यय और तद्धित प्रत्यय। इनके अतिरिक्त उपसर्गों के प्रयोग से भी शब्दों का निर्माण होता है जो मूल धातुओं में लगकर उनका अर्थ ही बदल देते है—

उपसर्गेण धात्वर्थः बलादन्यत्र नीयते।
प्रहाराहारसंहार-विहार-परिहारवत्॥

जिस प्रकार ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है, उसी प्रकार शब्दों में भी परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन निम्नांकित प्रकारों में से किसी एक प्रकार से होता है—शब्दागम्, शब्दविपर्यय, शब्दलोप, शब्दपरिवर्तन, शब्दविकार।

संस्कृत भाषा में संज्ञा तथा क्रिया पदों के रूपों का विशेष महत्व रहा है। उसके रूप वैज्ञानिक आधार पर दिये गये हैं। संस्कृत में धातु और प्रातिपदिक शब्दों के साथ पाँच प्रकार के प्रत्यय लगाकर पदों की रचना की जाती है।

विभक्ति, कृत, तद्धित, स्त्री प्रत्यय तथा णिच् प्रत्यय। धातु के अन्त में ति, तस् आदि और प्रातिपदिक के अन्त में सुप् प्रत्यय लगते हैं। कृदन्त में तव्यत् आदि तद्धित में णादि तथा स्त्री प्रत्यय में आ, ई तथा प्रेरणार्थक धातुओं में णिच् आदि प्रत्यय लगते हैं। सुप् प्रत्ययों का स्वरूप निम्न प्रकार है—

सुप् प्रत्ययों का स्वरूप

	एक वचन	द्वि वचन	बहु वचन
प्रथमा	सु (:)	औ	जस् (अः)
द्वितीया	अम्	औट् (औ)	शस् (अः)
तृतीया	टा (आ)	भ्याम्	भिस् (भिः)
चतुर्थी	ङे (ए)	भ्याम्	भ्यस् (भ्यः)
पञ्चमी	ङसि (अः)	भ्याम्	भ्यस् (भ्यः)
षष्ठी	ङस् (अः)	ओस् (ओः)	आम्
सप्तमी	ङि इ	ओस् (ओः)	सुप् (सु)

इस प्रकार तीनों लिंगों, तीनों वचनों तथा सातों विभक्तियों में संज्ञा शब्दों के रूप चलते हैं। सम्बोधन के रूप प्रायः प्रथमा विभक्ति के समान रहते हैं। रूप भेद से पद चार प्रकार के होते हैं—संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, अव्यय। अव्ययों के रूप नहीं चलते। जे० म्यूर संस्कृत मूल उद्धरण के आधार पर संज्ञा तथा धातु रूपों का विवेचन करते हैं, जो इस प्रकार है—

संस्कृत के विवरणात्मक व्याकरण में नामिक प्रत्ययों को दो बड़े वर्गों में विभक्त किया जाता है—मुख्य और गौण। भारतीय वैयाकरणों की पारिभाषिक शब्दावली में कृत और तद्धित। प्रथम कोटि में वे सारे रूप आते हैं, जो सीधे धातु के साथ कोई प्रत्यय जोड़कर बनाये गये हैं (जैसे, वच् से वचेस् 'वाणी') और द्वितीय कोटि में वे जो पहले से ही बने नामिक शब्दों के आधार पर बनाये गये हैं (उदा० अश्व-'घोड़ा' से अश्वन्त्-'घोड़े वाला')। धातु रूप संज्ञा शब्द ऐसी प्राचीन कोटि है जो प्राचीनतम भारत यूरोपीय भाषाओं में अधिकतर ह्रास की प्रवृत्ति से युक्त है। संस्कृत में अन्यत्र की अपेक्षा समास रूप में वे भली-भाँति सुरक्षित हैं। इस प्रकार के शब्द पाद्। पद-'पैर', लैटिन पेस् (Pes), पेदिस् (Pedis) वाच्-'वाणी', लैटिन वोक्स (Vox) संज्ञा शब्दों का काम करने वाले धातु रूप या तो भाव बोधक अथवा कर्तर्थक संज्ञाओं के रूप में प्रयुक्त हो सकते हैं (परवर्ती स्थिति में व स्त्रीलिंग हैं) : द्रुह्–(१) 'द्रोह', द्रोह करने वाला', 'द्रोह करता हुआ'; द्विष् (१) 'द्वेष', (२) 'शत्रु'; भुज् (१) 'भोग', (२) 'भोगने वाला'। समासान्त पद के उत्तर पद के रूप में प्रयुक्त होने पर ये शब्द केवल द्वितीय प्रक्रिया से युक्त होते हैं।

यह कोटि जो वैदिक भाषा में साधारण विस्तार से युक्त है, पुरानी प्रवृत्ति के अनुसार परवर्ती काल में अधिक सीमित हो गयी है अर्थात् एक अपवाद के साथ—जबकि ये प्रातिपदिक समासान्त पद के उत्तर पद के रूप में प्रयुक्त होते हैं। इस स्थिति में वैदिक और शास्त्रीय दोनों भाषाओं में धातु रूप नामिक प्रातिपदिकों के रूप में स्वतन्त्रता से प्रयुक्त हो सकते हैं। वैदिक भाषा में अन्यत्र स्वतन्त्र रूपों की

अवस्था में और अधिक विस्तार में भी प्रयुक्त होते हैं, जैसे दृशे 'देखने के लिये' क्रोडि के समस्त रूप।

संस्कृत शब्द रूपों की जटिलता इस तरह अंशतः में अन्तिम स्वनिम-चिह्नों की प्रक्रिया की इतनी अधिक नहीं है, जितनी इन विभक्ति-चिह्नों के विविध प्रकार के शब्द रूपों से जोड़ने की और उदात्त स्वर तथा अपश्रुति की दृष्टि से मूल-शब्द के अपने परिवर्तन की। मूल-शब्दों के वर्गों और उन पर आधृत शब्द रूपों का वर्गीकरण सामान्यतः पाँच प्रमुख वर्गों में आता है—(१) हलन्त शब्द, (२) ऋकारान्त शब्द, (३) इकारान्त, उकारान्त शब्द, (४) आ-कारान्त, ई-कारान्त, ऊ-कारान्त शब्द, (५) अकारान्त (अ-विकरण-युक्त)। भाषाओं के व्याकरण की प्रक्रिया के अनुसार और सुविधा की दृष्टि से भी, वर्णनात्मक व्याकरण ग्रन्थ इन वर्गों का विवरण प्रायः यहाँ दिये गये क्रम से बिल्कुल उल्टे क्रम में देते हैं। चूँकि ऊपर वर्णित विभक्ति-चिह्नों की सामान्य प्रक्रिया हलन्त शब्द रूपों में अधिक स्पष्ट मिलती है। हलन्त शब्दों में मूल प्रकृति-शब्द (पद्, आदि) और न्, न्त्, स्, आदि से अन्त होने वाले प्रत्यय जनित शब्द आते हैं। इनमें परवर्ती दो वर्गों में हैं, नपुंसक तथा पुल्लिंग स्त्रीलिंग। इन शब्दों की रचना की विशेषताओं और उन दो वर्गों के परस्पर सम्बन्ध के विषय में विवेचन किया जा चुका है। नपुंसक तथा नपुंसकेतर शब्दों के विभक्तिक रूप केवल कर्त्ता तथा कर्म में ही भिन्न हैं। इस दृष्टि से हलन्त शब्द इकारान्त-उकारान्त शब्दों से भिन्न है (मध्वः : सुनोः) और यह भिन्नता हलन्त शब्दों के साथ कतिपय अन्य भाषाओं की प्रक्रिया से भी स्पष्ट है। इन शब्दों के सामान्य अन्त इस समस्त शब्द रूप भाग परिवर्तन के साथ जोड़े जाते हैं। संस्कृत ध्वनि संघटना का विशिष्ट विकास कुछ जटिलता का कारण है, (उदा० विश्—'बस्ती' : प्रथमा विट्, द्वितीया विशम्, तृतीया बहुवचन विड्भिः, सप्तमी ब० व० (वैदिक) विक्षु, किन्तु समस्या का यह अंश पदरचना की अपेक्षा ध्वनि-विचार से अधिक सम्बद्ध है।

संस्कृत में ऋकारान्त शब्द हलन्त शब्द न मानकर अजन्त शब्दों में वर्गीकृत किये जाते हैं, संस्कृत के कतिपय विकासों के कारण है, जिन्होंने इनकी स्वरात्मक प्रकृति को बढ़ाने में योग दिया है। यह खास तौर पर द्वि० तथा ब० बहुवचनान्त रूपों में मिलता है, जो संस्कृत के अपने विकसित अभिनव रूप हैं। हलन्त शब्दों के सादृश्य पर द्वि० बहुवचन रूप पित्रः होता, किन्तु इस रूप के स्थान पर—आन्, ईन्, ऊन् के सादृश्य पर आधारित ऋन् अन्त वाले एक नये रूप का आदेश हो गया है। संस्कृत ऋकारान्त शब्द उन विशेषण रूप इकारान्त-उकारान्त शब्दों से, जिनमें चतुर्थी तथा षष्ठी ए० व० में प्रत्ययांश का गुण रूप और उदात्तत्व पाया जाता है, स्पष्ट रूप में भिन्न है (अग्नये, अग्नेः)। इन शब्दों का अत्यधिक प्राचीन और मौलिक विभाजन एक ओर नपुंसक और दूसरी ओर पु० स्त्री० वर्गों में होता है। परवर्ती दो वर्गों के शब्द रूप मूलतः अभिन्न थे और संस्कृत में मिलने वाला इनका परस्पर

भेद गौण विकास है। दूसरी ओर नपुंसक तथा पुं०-स्त्री० वर्गों का परस्पर भेद (मध्वे: : अग्नेः) जो उदात्त स्वर के स्थान परिवर्तन के कारण पाया जाता है।

नपुंसक शब्दों के विभक्तिज रूप सामान्य विभक्ति-चिह्नों के योग से युक्त थे, जो दुर्बल विभक्तियों में मूलतः उदात्त स्वर का वहन करते थे। इस पद्धति से विभक्तिज रूपों को निष्पन्न करने वाले प्रातिपदिकों की संख्या वैदिक भाषा में बहुत कम है और नपुंसकों के अतिरिक्त इसमें कुछ पुल्लिग तथा स्त्रीलिंग संज्ञा शब्द भी सम्मिलित हैं : अविः, अव्यः 'भेड़', क्रतुः, क्रत्वः। संस्कृत मे इकारान्त-उकारान्त शब्दों मे प्रचलित विभक्ति चिह्नों के प्रकार दूसरी भा० यू० भाषाओं मे भी मिलते हैं तु० ष० षष्ठी (सम्बन्ध) ए० व० गॉथिक अन्स्तइस् (anstais) सुनउस् (Sunaus), लिथुआनी नक्तेस् (Naktes), उकारान्त शब्दो के सप्तमी ए० व० का-औ (सूनौ) इकारान्त शब्दों (अग्नौ) में भी उपस्थित कर दिया गया है, किन्तु वैदिक भाषा में अग्ना (अर्थात् अग्ना (इ) भी है। चतुर्थी, पं०, ष० तथा स० ए० व० के विशिष्ट स्त्रीलिंग सुबन्त रूप (गत्यै, गत्याः, गत्याम्, धेन्वै, धेन्वाः, धेन्वाम्) ईकारान्त शब्द रूपों से ले लिए गये हैं। ये रूप ऋग्वेद तक कम है, किन्तु प्राक् शास्त्रीय संस्कृत साहित्य में अत्यधिक प्रचलित है। वैयाकरणों ने स्त्रीलिंग संज्ञा शब्दों की इन विभक्तियों में विकल्प से इन रूपों (गत्यै, आदि) अथवा सामान्य पुल्लिग-स्त्रीलिंग सुबन्त रूपों (गतये, आदि) का विकल्प से विधान किया है। इकारान्त शब्दों के दो भिन्न वर्गों का परस्पर भेद, जो संस्कृत भाषा में पूरी तरह दिखायी पड़ता है, परवर्ती संस्कृत में सुरक्षित नहीं किया गया है। कतिपय रूपों मे विभक्ति चिह्न तथा प्रत्यय का मिश्रण (देव्यै, देव्याः) विशिष्ट स्त्रीलिंग इकारान्त-उकारान्त शब्दों के साथ प्रयुक्त होते है। सप्तमी ए० व० में एक विशिष्ट विभक्ति चिन्ह-म है। आकारान्त शब्द, रूप की दृष्टि से ईकारान्त शब्दों से प्रभावित हुये हैं। चतुर्थी विभक्ति से आगे के ए० व० रूप-यै,-याः,-याम् जोड़कर बनाये जाते हैं, जो देवी शब्द के रूपों से लिये गये हैं। इस विशेषता में ईरानी भी हाथ बटाती हैं। अवे० चतुर्थी एक वचन दएनयाइ (daenayai), आदि।

संस्कृत भाषा में अकारान्त शब्दों का वर्ग सबसे अधिक संख्या वाला है (ऋग्वेद में समस्त नामिक शब्दों में ४९ प्रतिशत)। इनकी विशेषता शब्द रूपो मे उदात्त स्वर का स्थान परिवर्तन है और यह स्थिति हमेशा रही जान पड़ती है। अ-विकरण वाले ये शब्द या तो पुल्लिग है या नपुसक लिग और ये केवल प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति के रूपों में ही भिन्न है। यह शब्द रूप कुछ विशिष्ट लक्षणो से समन्वित हैं, जिन्हे संक्षेप में उपस्थित किया जा सकता है। इस शब्द रूप पर सार्वनामिक शब्द रूपों का काफी प्रभाव पड़ा है। तृतीया विभक्ति चिह्न का एन उसी स्रोत से लिया गया है। प्राचीन विभक्ति चिह्न-आ वैदिक भाषा मे अभी भी मौजद है, यद्यपि यह--एन से बहुत कम प्रचलित है। अवेस्ता में केवल--आ विभक्ति चिह्न

युष्माः द्वितीया बहुवचन स्त्रीलिंग का उदाहरण दिया जा सकता है। प्रथमा एकवचन अहम् (अवे० अजेम्) (ajem) में अम् प्रत्यय पाया जाता है जो अन्यत्र पुरुषवाचक सर्वनामों के शब्द रूपों में प्रचलित है। पंचमी एकवचन के रूप मत्, त्वत्-(अवे० मत्, mat, थ्वत् owat तुल० प्रा० लैटिन मेद् med, तेद् ted) ठीक उसी तत्व से निर्मित है, जो अ-विकरण युक्त प्रातिपदिको के विभक्तिज रूपों मे मिलता है। ऋग्वेद में षष्ठी एकवचन से प्रभावित एक विशिष्ट रूप ममत् मिलता है।

प्रथमा बहुवचनान्त वयम् (अवे० वएम् vaem) में ठीक वही अधिक तत्व अम् है, जो प्रथमा एकवचन मे मिलता है। द्वितीया विभक्ति से आगे की विभक्तियो के बहुवचनान्त मूल प्रातिपदिक अष्म, युष्म से बनाये गये है जो ग्रीक (एओलिक) अम्मे amme और उम्मे umme से ठीक मिलते-जुलते हैं। सप्तमी के प्राचीन रूप अस्मे, युष्मे वैदिक संहिताओं में मिलते हैं, इस विशेषता के साथ कि इनका प्रयोग चतुर्थी तथा षष्ठी में भी किया जा सकता है। लौकिक संस्कृत में पुरुषवाचक सर्वनामों के द्विवचन रूपों में अन्य शब्दों की तरह तीन विभक्ति रूप मिलते हैं। वैदिक भाषा में इनसे कहीं अधिक विशिष्ट रूप उपलब्ध हैं। प्रथमान्त रूप आवम्, युवम्, द्वितीयान्त रूप आवाम्, युवाम् से भिन्न है। प्रथमा द्विवचन युवम् ठीक उसी मूल तत्व से बनाया गया है जो प्रथमा बहुवचन में है।

प्राचीनता के कारण संस्कृत भाषा अधिक सुगमता से विश्लेषणीय है और उसके धात्वंश सम्बद्ध तत्वों से अधिक सरलता से अलग किये जा सकते हैं और इस स्थिति में यह अन्य भारत-यूरोपीय भाषाओं की अपेक्षा अधिक सुगमता से विश्लेषणीय है। यह इसलिये है कि वे प्रत्यय जिनके द्वारा वर्तमान कालिक तथा लुङन्त प्रकृत्यंशो का निर्माण किया जाता है, सामान्यतः समापिका क्रिया के अन्य रूपों और नामिक व्युत्पत्तियों से अलग रखे जाते है : सुनोति 'रस निकालता है', परोक्ष लिट् सुषाव, सुषुम, भविष्यत रूप 'सोष्यति', कर्मवाच्य निष्ठा रूप सुत। तिङन्त रूपों में प्रचलित विशिष्ट धात्वंशों से किस तरह उदित हुये हैं। इनके अतिरिक्त विस्तारित धातुओं का अधिक प्राचीन तिथि से सम्बद्ध एक अन्य वर्ग है, जिसमें ऐसे रूपों को शामिल कर लिया गया है, जिसकी प्रक्रिया का पता चलाना अब अधिकांश रूप में असम्भव है। ये तत्व धातु के केवल रूप के सह-अस्तित्व के द्वारा अथवा केवल पदान्त तत्व में भिन्न समानार्थक धातुओं द्वारा बड़ी सरलता से पहचाने जा सकते हैं। ये तत्व उन व्युत्पन्न प्रत्ययों से अभिन्न है, जिनका विवरण नामिक प्रातिपदिकों की रचना का विचार करते समय दिया जा चुका है और इनका सुविधा की दृष्टि से ठीक उसी क्रम में विवरण दिया जा सकता है। नामिक शब्दों की रचना का विवेचन करते समय जिन प्रत्ययों का विवरण दिया गया है, उनके साथ इन तत्वों की अभिन्नता स्पष्ट है और यह इस तथ्य के अनुसार है कि नामिक तथा धातुक प्रकृत्यंशो की रचना मूलतः एक से सिद्धान्तों के आधार पर की जाती है। धातुक मूल रूपो का

विस्तार केवल संयुक्त किये हुए प्रत्यय हैं और जैसा कि कभी-कभी इनके साथ किया जाता है, इनके पद रचनात्मक वर्गीकरण की दृष्टि से आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार के धातु गुण कोटि में दो रूपों में मिल सकते हैं, एक ओर वह रूप जो चेत्-'समझना', '[illegible]-'[illegible]', [illegible]-'[illegible]' आदि में मिलता है, और दूसरी ओर वह जो त्रस्-'डरना', क्षद्-'विभक्त करना', धो-'भूलना' आदि में मिलता है। कहने का मतलब यह है कि मूल धातु अथवा उसका विस्तारित रूप-दोनों में से किसी एक का गुण रूप हो सकता है, किन्तु भारत-यूरोपीय अपश्रुति सिद्धान्त के अनुसार यह आवश्यक नहीं है कि दोनों रूपों का गुण रूप हो। गुण रूप की इन दोनों कोटियों का परस्पर भेद जहाँ तक धातुओं के अर्थ का अथवा उनकी निरुक्ति का सम्बन्ध है, किसी विशेष महत्त्व से रहित है। यह केवल नामिक प्रातिपदिकों के सम्बन्ध में है कि इस तरह के अन्तर का कोई महत्व है। वहाँ यह प्रक्रिया नपुंसक कर्म बोधक संज्ञा शब्द और विशेषणों अथवा कर्त्रर्थ संज्ञा शब्दों के अन्तर को उपस्थित करती है [illegible] आरम्भिक युग में उस समय, जबकि संज्ञा और क्रिया कम स्पष्टता के साथ एक दूसरे से बहुत कम अलग किये जाते थे, मूलतः प्रातिपदिक रूप थे और ठीक उतने ही नामिक रूप थे जितने कि धातु रूप, इसलिये यह कल्पना करना उचित है कि विस्तारित धातुओं की दो कोटियों के रूपों में परस्पर अन्तर मूलतः ठीक वही था, जो नामिक शब्दों की रचना में मूलाधार है। कहने का मतलब यह है कि धातु रूप त्रस् (trc`s-) (संस्कृत त्रसति) मूलतः एक नामिक प्रातिपादिक रहा होगा, जिसका अर्थ है 'डरता हुआ, डरने वाला' और इसका वैकल्पिक रूप तॅर्स् (tors; लैटिन तर्रेओ (terreo) जैसा प्रातिपदिक रहा होगा जिसका अर्थ 'डर' था। संस्कृत क्रिया में दो पद होते हैं, परस्मैपद और आत्मनेपद, जिनका अन्तर समस्त तिङ् प्रक्रिया में पुरुष-विभक्ति-चिह्नों के दो वर्गों द्वारा दिखाया गया है। दोनों के अर्थों का परस्पर अन्तर संस्कृत वैयाकरणों द्वारा उन्हें प्रदत्त नामों, परस्मैपदम् 'दूसरे के लिये पद' और आत्मनेपदम् 'अपने स्वयं के लिये पद', से अभिव्यक्त किया गया है। आत्मनेपद का प्रयोग तब होता है, जब क्रिया का कर्त्ता किसी न किसी तरह कर्म के फल से विशेषतः सम्बद्ध हो जाता है, जब ऐसा नहीं होता, तब परस्मैपद का प्रयोग होता है। उदाहरण के लिये कट करोति 'वह चटाई बनाता है' का प्रयोग चटाई बनाने के व्यापार में संलग्न उस मजदूर के लिए होगा, जो चटाई अपने स्वयं के लिए बनाता है।

संस्कृत क्रिया में चार काल हैं। वर्तमान, भविष्यत, लुङन्त भूत, परोक्ष भूत। वर्तमान कालिक धातु वर्तमान काल के अतिरिक्त तथाकथित अपूर्ण भूत अर्थात् लुङन्त भूतकालिक (Preterite) रूपों का आधार बनाता है। इस तरह भविष्यत् काल के आधार पर एक हेतु हेतुमद भावे लृङ (भूतरूप) बनाया जाता है। वैदिक भाषा में पूर्ण भूत (Perfect) के आधार पर भूतकालिक रूप बनाया जाता है। ये भूतकालिक रूप प्राचीन भाषा में भी बहुत कम मिलते हैं- और परवर्ती भाषा में

तो लुप्त हो ही गये हैं। लुङ् रूप प्रकृत्यंश केवल एक ही तरह के भूतकालिक रूप को उत्पन्न करता है। इस कुछ जटिल प्रक्रिया में अत्यधिक स्पष्ट विभाजन वह है जो एक ओर लिट् और दूसरी ओर अन्य तीन लकारों में मिलता है। लिट् लकार अन्य कालवाचक रूपों से केवल धातु रूप की रचना की दृष्टि से ही भिन्न नहीं है अपितु इस दृष्टि से भी कि इसमें विशेष कोटि के पुरुष वाचक लिङ् विभक्ति-चिह्न मिलते हैं। लिट् तथा शेष तिङन्त रूपों में हमें स्पष्टतः भारत-यूरोपीय प्रक्रिया का अत्यधिक प्राचीन और मौलिक विभाजन मिलता है। दूसरी ओर जब हम भविष्यत् तथा सामान्य भूते लुङ् पर वर्तमान काल की रूप प्रक्रिया के प्रभाव की दृष्टि से विचार करते हैं तो यह स्पष्ट है कि ये मूलतः एक ही कोटि की रचना के केवल विशिष्ट अपायन हैं। उदाहरण के लिये भविष्यत्-य विकरण वाले वर्तमान कालिक धातुओं का केवल एक उपवर्ग है, जिसमें चतुर्थ गण के धातु और विविध नाम धातु सम्मिलित हैं। सामान्य भूते लुङ् और वर्तमान कालिक प्रक्रियाओं का घनिष्ठ सम्बन्ध इस तथ्य के द्वारा देखा जाता है कि कतिपय लुङन्त धातु रूप आकार की दृष्टि से कतिपय वर्तमान कालिक धातु रूपों से अभिन्न है। एक ओर लट्-लङ् का, दूसरी ओर लुङ् का परस्पर सम्बन्ध तीनों कालों के अर्थ को दृष्टि में रखकर ही विवेचन का विषय बनाया जा सकता है। संस्कृत में यह बिल्कुल जटिल नहीं है। लट् लकार केवल वर्तमान काल का संकेत करता है, और लङ् इसके विपरीत भूतकाल का, न अधिक और न कम: हन्ति 'वह मारता है', अहन् 'उसने मारा', आदि। लुङन्त और वर्तमान कालिक धातुओं में अर्थ का स्पष्ट अन्तर केवल इन दो कोटि के भूतकालिक रूपों में मिलता है। इनके अतिरिक्त कई विधियाँ (moods)-निबंध वाचक, अभिप्राय वाचक, आज्ञावाचक और विधिवाचक और परस्मैपदी तथा आत्मनेपदी कृदन्तज रूप भी मिलते हैं, जो वर्तमान कालिक अथवा लुङन्त धातु रूपों से विकल्प से बनाये जाते हैं, किन्तु इन सभी परवर्ती कोटि के रूपों में वैदिक भाषा में वर्तमान के आधार पर बने रूपों और लुङ् के आधार पर बने रूपों के बीच अर्थ का कोई ठोस अन्तर नहीं ढूंढा जा सकता, उदा० करत् अभि० 'वह करेगा', धातुरूप के आधार पर बने कृणवत 'वही' से किसी अर्थ में भिन्न नहीं है। लिट् लकार रूप की दृष्टि से वर्तमान लट् । लुङ् प्रक्रिया से स्वतन्त्र है और विशेष कोटि के पुरुष वाचक लिङ विभक्ति चिह्नों के अस्तित्व की विशेषता से युक्त हैं। लिट् लकार का भूतकाल बोधक आगम युक्त रूप, ऋग्वेद में भी बहुत कम मिलता है, और बाद में शीघ्र ही लुप्त हो गया है। धातु के उपर्युक्त विश्लेषण से इस बात का पता चलता है कि किस तरह प्राचीनतम काल से ही धातु के आधार पर अपने आप वैकल्पिक तिङन्त रूप बनाये जा सकते थे। सभी परिस्थितियों में ये प्रत्यय उन सम्बद्ध प्रत्ययों के साथ तुल्य रूप हो सकते है जो संज्ञा शब्दों के रूपों में उपलब्ध हैं। प्राचीनतम कोटि के उन रूपों में प्रत्यय पूर्णतः संयुक्त हैं और इससे नये और कुछ अधिक पूर्ण धातु बनाये जाते हैं। लौकिक संस्कृत में धातु का वर्तमानकालिक रूप विभिन्न दस प्रकारों में से केवल एक ही आधार पर

बनाया जाता है । वैदिक भाषा में अधिक विस्तार देखने में आता है जब कि सामान्यत दस वर्तमानकालिक गणों मे धातुओं का वर्गीकरण परवर्ती भाषा के वर्गीकरण से सम्बन्ध रखता है, धातुओं की एक ऐसी बड़ी संख्या उपलब्ध है, जिसमें दो, तीन अथवा अधिक विभिन्न गणों के आधार पर वर्तमान काल बनता है । इन स्थितियों को इन उदाहरणों से स्पष्ट किया जा सकता है । कृष 'जोतना', प्रथम गणी 'कर्षति' चतुर्थगणी कृषति; जॄ-'जीर्ण होना' प्रथमगणी जरति, चतुर्थगणी जीर्यति, दा-'विभक्त करना' द्वितीय गणी 'दाति' चतुर्थ गणी द्यति । बीते हुये काल का संकेत करने के लिए विविध भूतकालिक रूपों (अपूर्ण भूत) लुङ भूत, पूर्ण अनद्यतन भूत लङ् और क्रियाति पत्ति लृङ् के पहले आगम् जोड़ दिया जाता है ।

संस्कृत में भी पुरुष विभक्ति चिह्नों के दो वर्ग है, एक परस्मैपद के लिये और एक आत्मनेपद के लिये । आगे चलकर इन्हीं दो वर्गों ने कई उपवर्गों को भी ग्रहण कर लिया है जो तिङन्त रूप प्रक्रिया के विभिन्न भागों में उपलब्ध होते हैं । वर्तमान लुड् प्रक्रिया मे तथाकथित प्रधान अन्तवाले रूप वर्तमान काल और भविष्य काल में मिलते हैं, जबकि एक अलग तालिका, गौण अन्त वाले रूपों की, अपूर्ण भूत, लुङ और विध्यर्थक में उपलब्ध है । अभिप्राय रूप में दोनों में से कोई भी वैकल्पिक रूप से मिलता है । पूर्ण भूत अन्त वाले रूप, जहां उपर्युक्त प्रक्रिया से भिन्न होते हैं, एक दूसरे से अधिक मौलिक रूप से भिन्न हैं, अपेक्षाकृत प्रधान और गौण अन्त वाले रूपों से । लोट् लकार में केवल मध्यम पुरुष के एकवचन और प्रथम पुरुष के एक वचन तथा बहु वचन में एक खास पदान्त विभक्ति चिह्न होता है, जो प्राचीन है और कुछ खास आत्मने पदी विभक्ति चिह्न हैं जो भारतीय नवीन रूप हैं । प्रधान, गौण और परोक्ष लिट् के विभक्ति चिह्न निम्नलिखित तालिका में दिखाये गये हैं—

अ प्रधान विभक्ति चिन्ह

	परस्मैपद			आत्मने पद		
	ए० व०	द्वि० व०	ब० व०	ए० व०	द्वि० व०	ब० व०
उ० पु०	मि	वस्	मम्	ए	वहे	महे
म० पु०	सि	थस्	थ	से	आथे	ध्वे
प्र० पु०	ति	तस्	अन्ति	ते	आते	अन्ते

ब गौण विभक्ति चिन्ह

उ० पु०	अम्, म्	व	म	इ, अ	वहि	महि
म० पु०	स्	तम्	त	थास्	आथाम्	ध्वम्
प्र० पु०	त्	ताम्	अन् उर्	त	आताम्	अत रन्

स परोक्षे लिट् विभक्ति चिन्ह

उ० पु०	अ	व	म	ए	वहे	महे
म० पु०	थ	अथुन्	अ	से	आथे	ध्वे
प्र० पु०	अ	अतुस्	उर्	ए	आते	रे

वैयाकरणों ने संस्कृत भाषा के धातुओं को दस गणों में नियोजित किया है, इसमें उन्होंने उसी पद्धति का अनुकरण किया है जिसमें वे वर्तमान प्रक्रिया को बनाते है, और उस उस वर्ग का नामकरण उस गण के एक खास धातु के नाम से किया है। जिस क्रम में ये गण रखे गये हैं, वह किसी खास अनुसंधेय वैयाकरणिक सिद्धान्त से सम्बद्ध नहीं है और इनके स्पष्टीकरण की सुविधा के लिये यह आवश्यक है कि इन्हें फिर से नये क्रम मे बैठाया जाय। ये धातु दो प्रधान कोटियों में विभक्त किये गये है, (अ) विकरण रहित (२,३, ५,७,८,९ गण) और (ब) विकरण युक्त (१,४,६,१० गण)।

इस प्रकार संज्ञा तथा क्रिया रूपों का विवेचन ऊपर किया गया है। किया के अन्त में तिङ विभक्ति लगती हैं। ये संस्कृत के दसों लकारों में लगती हैं जो निम्न हैं—

लट् लकार	(वर्त्तमान काल में)।
लोट लकार	(आज्ञा अर्थ में)।
लङ् लकार	(सामान्य भूत)।
विधिलिङ्	(विधि)।
लृट्	(भविष्यत्)।
लिट्	(पूर्ण भूत)।
लुङ्	(आसन्नभूत)।
लुट्	(भविष्यत्)।
लृङ्	(हेतुहेतुमद्भूत)।
आशीर्लिङ	(आशीर्वाद)।

प्रत्येक लकार की धातुएं तीनो पदों में विभक्त हैं।

(१) आत्मने पद

(२) परस्मैपद

(३) उभय पद

प्रत्येक पद के तीन पुरुष होते हैं—(१) प्रथम पुरुष (२) मध्यम पुरुष (३) उत्तम पुरुष।

प्रत्येक पुरुष के तीन वचन होते हैं—

(१) एकवचन, (२) द्विवचन, (३) बहुवचन।

संस्कृत धातुयें दस श्रेणियों में विभक्त हैं, प्रत्येक श्रेणी को गण कहते हैं। भ्वादि, अदादि, ह्वादि, दिवादि, स्वादि, तुदादि, रुधादि, तनादि, क्रयादि, चुरादि ये दस गण हैं।

तिङन्त क्रिया के तीन वाच्य हैं—कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य। क्रियापद जिसको समझाता है उसे वाच्य कहते हैं जो क्रिया कर्ता को समझाती है उसे कर्तृवाच्य कहते हैं और जो क्रिया कर्म को समझाती है उसे कर्मवाच्य और जो क्रिया भाव अर्थात धातु के अर्थमात्र को समझाती है उसे भाववाच्य कहते हैं। यथा—स: पश्यति (वह देखता है)—यहाँ 'देखता है' यह क्रिया जो देखता है उसको समझाती है, इसलिए कर्तृवाच्य है। तेन चन्द्रो दृश्यते (उससे चन्द्र देखा जाता है) यहाँ 'देखा जाता है' यह क्रिया जो देखा जाता है उसको समझाती है इसलिए ये कर्मवाच्य है। तेन दृश्यते (उसका देखना)—यहाँ 'देखना' यह क्रिया 'दृश' धातु के अर्थ को ही समझाती है इसलिए ये भाववाच्य है।

धातु दो प्रकार की होती है—अकर्मक और सकर्मक। सकर्मक धातु कर्मवाच्य तथा कर्तृवाच्य में और अकर्मक धातु कर्तृवाच्य और भाववाच्य में प्रयुक्त होती है।

विकास का दूसरा अर्थ है—परिवर्तन, भाषा परिवर्तनशील है। अत: भाषा का प्रत्येक अंग ध्वनि, अर्थ, पद, वाक्य आदि सभी में परिवर्तन होता रहता है। जैसे-जैसे भाषा परिवर्तित होकर विकास की ओर बढ़ती है वैसे ही पदों के सम्बन्ध तत्वों में भी परिवर्तन होता रहता है और इस प्रकार पद विकास होता है। संस्कृत, लैटिन, प्राचीन भाषाएँ कालान्तर में परिवर्तित हुई और आज हिन्दी को हम जिस रूप में देख रहे हैं वह संस्कृत का ही विकसित रूप है। संस्कृत से प्राकृत और अपभ्रंश हुई उसके बाद अपभ्रंश से हिन्दी का विकास हुआ। उसके साथ ही साथ पद रचना में भी विकास हुआ। संस्कृत की क्रियाओं में हमें लिंग भेद नहीं मिलता, किन्तु हिन्दी में लिंग भेद पाया जाता है। संस्कृत में विशेषण का लिंग विशेष्य के अनुकूल हो जाता है, किन्तु हिन्दी में आकर एक ही रह जाता है। विशेषण में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, जैसे संस्कृत में तो शोभन: बालक:, शोभना बाला, शोभनम् पुष्प, किन्तु हिन्दी में सुन्दर लड़का, लड़की, पुष्प तीनों के साथ एक सा रहा। संस्कृत में आशीलिंग और विधिलिंग के अलग-अलग रूप थे, किन्तु हिन्दी में एक रूप हो गया तुम चिरायु हो (आशीर्वाद), वह अपना पाठ पढ़े, (विधि), वह घर जाये (आज्ञा)। यदि पानी पड़े हेतुहेतु मद में क्रिया के लिए सम्बन्ध तत्व (ए) का ही प्रयोग होता है। भाषा में सम्बन्ध तत्व प्रधान रूप से लिंग वचन, पुरुष, कारक, काल और अव्यय आदि के भावों को व्यक्त करते हैं। अत: नीचे हम इन पर अलग-अलग विचार करते हैं।

लिंग

लिंग तीन प्रकार के होते हैं—स्त्रीलिंग, पुल्लिंग, नपुंसकलिंग, किन्तु हिन्दी मे केवल दो ही प्रकार के माने जाते है। सम्पूर्ण भाषाओं मे यह लिंगभेद का सिद्धान्त व्यवहार में एक सा नहीं है। जैसे संस्कृत मे वारि, जल नपुंसक लिंग है, किन्तु इसी का पर्यायवाची पयस् शब्द स्त्रीलिंग है। कुछ भाषा के शब्दों में लिंग भेद स्पष्ट करने के लिये फारसी के नरमादा की तरह शब्द और जोड़े जाते है, जैसे आंडियाकूल (बाघ), पुगाकूल (बाघिन)। अंग्रेजी में Sun सूर्य को पुल्लिंग और चन्द्रमा (Moon) को स्त्रीलिंग माना है, Ship जहाज को भी स्त्रीलिंग माना है जबकि संस्कृत एवं हिन्दी मे दोनों पुल्लिंग ही है और जहाज नपुंसक लिंग है। विकास की दृष्टि से जब इन अनिश्चित (बिना किसी नियम के द्वारा) परिवर्तित होने वाले रूपों पर विचार किया जाय तो मालूम होगा कि किसी विशेष कारण से ही पुरुष के लिए स्त्रीलिंग या स्त्री के लिए पुल्लिंग सजीव के लिए नपुंसक लि० और अचेतन के लिए पुल्लिंग या स्त्री लि० शब्द बने होंगे, इसका साक्षी भाषा का प्राचीन इतिहास ही है। इन लिंगो का प्रयोग इनके विशेष गुणों पर दृष्टिपात करके नामकरण हुआ होगा। जैसे जब स्त्री अन्य दहेज के साथ-साथ पिता के घर से पति के घर में दहेज की भाँति प्रवेश करती है तो उसे कलत्र कहा गया क्योंकि पिता अन्य सामग्री के साथ-साथ कन्या का भी दान करता है। इसी प्रकार सूर्य को प्रचंडता के कारण पुल्लिंग माना और चन्द्रमा को कोमलता एवं शीतलता के कारण स्त्री लिंग स्वीकार किया गया होगा। लिंग हिन्दी भाषाओं में तीन हैं, जैसे—संस्कृत, मराठी, गुजराती आदि में, किन्तु हिन्दी, पंजाबी, राजस्थानी में दो ही लिंग को व्यक्त करने के लिए दो प्रकार काम मे लाए जाते है—

(१) प्रत्यय जोड़कर जैसे लड़का से लड़की, Actor से Actress आदि।

(२) स्वतंत्र शब्द को जोड़कर जैसे अंग्रेजी में—he, she जोडकर She buffalo भैंस, He goat बकरा, She goat बकरी।

(३) कुछ शब्दों मे लिंग भेद बिना प्रत्यय के होता है। उसमें स्त्री लिंग के लिए और शब्द और पुल्लिंग के लिए कुछ और शब्द प्रयुक्त होते है। पुरुष स्त्री भाई, बहिन, माता, पिता, वर-वधू, Boy, Girl, Dog, Bitch, Father अंग्रेजी में हिन्दी की भाँति विशेषण में लिंग भेद नहीं होता—Bad man, Bad woman, Bad book.

क्रिया में लिंगभेद—संस्कृत में लिंगभेद क्रिया में नहीं होता है, जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं, किन्तु हिन्दी में ऐसा पाया जाता है। इसलिए हिन्दी मे क्रिया के दो रूप होते हैं—स्त्रीलिंग, दूसरा पुल्लिंग, यथा वह जाता है, वह जाती है, मोहन आता है, पुष्पा आती है। यह रूप अन्य आर्य भाषाओं में नहीं मिलता है,

जैसे बंगाली, मद्रासी लोग हिन्दी बोलते समय कहते हैं—पुष्पा रोता है, यह रोती जाता है। हिन्दी में ये क्रिया पद संस्कृत के कृदन्त रूपों से विकसित हुए क्योंकि संस्कृत के कृदन्त रूपों में लिंग भेद होता था, जैसे गच्छन् पु० गच्छन्ती स्त्री०, पठन् पठन्ती।

वचन—संस्कृत में तीन वचन होते हैं–एक वचन, द्वि वचन, बहु वचन, किन्तु हिन्दी में केवल दो ही वचन हैं–एक वचन और बहु वचन। कुछ बहु वचन का बोध करने वाले शब्द भी भाषाओं में मिलते हैं–गण, समूह, झुंड, पंजा, जोड़ा, गुच्छ, चौकड़ी आदि। वचन के प्रत्यय क्रिया संज्ञा, सर्वनाम में लगते हैं। हिन्दी में वचन के साथ केवल ए, ओ पुल्लिंग तथा यों दो स्त्री लिंग में लगते हैं, जैसे–बच्चा बच्चे, आदमी आदमियों, बच्ची बच्चियों, स्त्री स्त्रियां आदि। क्रिया में बहुवचन का बोध भी ए और अनुस्वार से होता है, जैसे–आता है, आते हैं, आता था, आये थे, खाता है, खाते हैं आदि। सर्वनामों में हिन्दी में रूप परिवर्तित हो जाते हैं–मैं, हम, मुझे, मुझको, हमें, हमको, मेरे, हमारे, मुझमें, हममें, मेरा, हमारा, तू, तुम, तुझे, तुमको, तुम्हें, तुमको, तेरे, तुम्हारे, वह, वे, उस, उसने, उन, उन्होंने, उसका, उनका, हिन्दी के 'यह' रूप संस्कृत के सर्वनामों के विकृत रूप ही हैं।

पुरुष—पुरुषों की संख्या जैसे-प्राचीन भाषाओं में तीन थी वह अब भी आधुनिक भाषाओं में है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। ये तीन प्रकार के होते हैं–उत्तम, मध्यम, अन्य। इनका प्रभाव क्रिया के रूपों पर भी पड़ता है। जैसे—

	सं०	हि०	अ०
प्र० पु०	सः पठति	वह पढ़ता है।	He reads
	तौ पठतः	वे दोनों पढ़ते हैं।	
	ते पठन्ति	वे सब पढ़ते हैं।	They read
म० पु०	त्वम् पठसि	तू पढ़ता है।	Thou readst
	युवाम् पठथः	तुम दोनों पढ़ते हो।	
	यूयं पठथ	तुम सब पढ़ते हो।	You read
उ० पु०	अहम् पठामि	मैं पढ़ता हूँ।	I read
	आवाम् पठावः	हम दोनों पढ़ते हैं।	
	वयम पठामः	हम पढ़ते हैं।	We read

किन्तु कुछ भाषाओं में यह बात नहीं मिलती है।

काल—काल तीन प्रकार के हैं–भूत, वर्तमान, भविष्य। संस्कृत में भूत के तीन भेद–सामान्य भूत, परोक्ष, अनद्यतन (आज से भिन्न), किन्तु आधुनिक भाषाओं में सबके लिए एक ही भूतकालिक क्रिया का प्रयोग होता है। अतः कालों की स्थिति सुस्पष्ट नहीं है, जैसे–हिन्दी में 'आया' भूत का बोधक है, किन्तु 'यदि मैं आपके यहाँ आया तो आपके साथ अवश्य चलूंगा, यहाँ आया' भविष्य का बोधक है अंग्रेजी में

भविष्य का बोध कराने के लिए वर्तमान काल की क्रिया में will और shall जोड़ना पड़ता है। हिन्दी की काल रचना को हम संस्कृत के आधार पर तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—

१. संस्कृत कालों के विकृत रूप।

२. संस्कृत कृदन्तों से बने हुए।

३. आधुनिक संयुक्त काल।

क्रिया—आधुनिक युग की भाषायें संहिति से व्यवहिति की ओर विकसित हो गई है। इसलिए क्रिया पदों में काफी परिवर्तन हुआ है, प्राचीन भाषा में संस्कृत आदि के जो क्रिया पद जटिल थे, वह धीरे-धीरे अब हिन्दी आदि में अत्यन्त ही सरल हो गये है जैसे संस्कृत में क्रिया के छः प्रयोग, दस लकार, तीन पुरुष और तीन वचन थे वह भी संस्कृत की क्रियायें दस गणों में विभक्त थीं।

हिन्दी में क्रिया पदों की संख्या हार्नली के अनुसार ५०० है, जो कि संस्कृत में २००० से भी अधिक थी। हिन्दी के क्रिया पदों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं। कुछ धातु यौगिक हैं जो मूल धातु संस्कृत से आई हैं। इनकी संख्या ३९३ हार्नली ने मानी है। कुछ ऐसी हैं जो आधुनिक युग में गढ़ी गई हैं या संस्कृत की धातुओं से न बनकर इसके रूपों से सम्बन्धित हैं, ये १८९ हैं। हिन्दी क्रियाओं में कृदन्त के रूप प्रमुख है और होना सहायक क्रिया का प्रयोग होता है।

भाषा विज्ञान के अध्ययन में सम्बन्ध तत्व अथवा रूप-विचार का भी अधिक महत्व है। इस रूप विज्ञान में पद की रचना उसके विकास आदि पर विवेचन किया जाता है। अतः पदों के रूप पर विचार करने से पूर्व पद किसको कहते हैं यह समझ लेना चाहिये। शब्द को ध्वनियों का समूह माना गया है। वाक्य में प्रयोग करने के लिए शब्द में प्रत्यय जोड़कर उसे पद के रूप में परिवर्तित किया जाता है, जैसा कि पाणिनि ने पद की परिभाषा देते हुए कहा है कि "सुप्तिङन्त पदम्" सुप् और तिङ् प्रत्यय जिसके अन्त में हो ऐसा शब्द पद कहलाता है। इस प्रकार पद के दो विभाग हुए प्रथम प्रकृति (शब्द) द्वितीय प्रत्ययांश। रूप-विज्ञान में इन दोनों का सांगोपांग वर्णन आता है, यथा राम प्रातिपदिक शब्द है। उसमें अम् प्रत्यय जोड़ने से रामम् पद हो जाता है। इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि पद वह ध्वनि समूह है जो शब्द और सम्बन्ध तत्व अर्थात् प्रकृति और प्रत्यय के योग से बनता है और वाक्य में जिसका प्रयोग अर्थतत्व और सम्बन्धतत्व दोनों के अर्थ का बोध कराने के लिए होता है। इसका विशेष विवेचन उपर हो चुका है।

अयोगात्मक भाषाओं में शब्द और पद का यह भेद नहीं दिखाई पड़ता है। वहाँ शब्दों में सम्बन्ध दिखाने के लिए किसी सम्बन्ध तत्व की आवश्यकता नहीं होती है, किन्तु योगात्मक भाषाओं में पद बनाने के लिए शब्द में सम्बन्ध तत्व के जोड़ने की आवश्यकता होती है। नीचे हम सम्बन्धतत्व के विकास की दिशाओं पर और उसके परिवर्तन के कारणों पर विचार करते हैं।

सम्बन्ध तत्व—वाक्य में दो तत्व होते हैं प्रथम अर्थतत्व और द्वितीय सम्बन्धतत्व। दोनों में भी प्रधान अर्थतत्व है, सम्बन्ध तत्व का प्रमुख कार्य अर्थतत्वों मे सम्बध दिखलाना होता है, यथा श्याम ने मोहन की किताब को चुरा लिया। उक्त वाक्य में चार अर्थतत्व हैं—श्याम, मोहन, किताब और चुरा लिया। अतः इनके जोड़ने के लिए चार सम्बन्ध तत्वों की आवश्यकता हुई। उपर्युक्त वाक्य में ने, की, को क्रमशः श्याम, मोहन और किताब का सम्बन्ध बतलाते हैं। चुराना से चुराया पद बनाने के लिए सम्बन्ध तत्व इसी में लिया गया है।

सम्बन्ध-तत्व निम्नलिखित प्रकार से दिखाया जाता है—

(१) **स्वतंत्र रूप में**—सम्बन्ध-तत्व स्वतंत्र रूप से भी कार्य करते हैं। हिन्दी के सम्पूर्ण परसर्ग अथवा कारक चिह्न पूर्ण स्वतंत्र हैं, जैसे का, की, के, में, पर। पर आदि संस्कृत के इति, एव, अपि अंग्रेजी के of, in, 's, on, etc आदि शब्द इसी श्रेणी के हैं और वाक्यों में पदों का सम्बन्ध प्रदर्शित करने का कार्य करते हैं।

(२) **सम्बन्धतत्व का अर्थतत्व के साथ संयोग**—ऐसी अवस्था में सम्बन्धतत्व शब्द का अंग बन जाता है। यह शब्द के आदि मध्य अंत कहीं भी जोड़ दिया जाता है। चीनी आदि जैसी भाषाओं में यह सम्बन्धतत्व नहीं मिलता क्योंकि वहां की भाषाओं के शब्द विकृति को प्राप्त नहीं होते, इनके अतिरिक्त अन्य परिवारों की भाषाओं में मिलता है। सामी भाषा में इसकी प्रचुरता मिलती है, यहां की भाषाओं में अर्थ तत्व तीन व्यंजनों द्वारा व्यक्त होता है। यहां के सभी शब्द स्वरों के परिवर्तन से ही बन जाते हैं, व्यंजनों में कोई परिवर्तन नहीं होता है, यथा क् त् ल् से कातिल, कत्ल, कुतिल, कित्ल, कितल आदि। कभी-कभी कुछ व्यंजन भी जोड़ दिये जाते हैं, यथा क् त् ब् से मक्तूब तक्तुब आदि। इसी प्रकार संस्कृत में अपठत् अपठाम, अचोरयत्, अपाणिपादः आदि शिशु से शैशवः इतिहास से ऐतिहासिक हिन्दी म करना से प्रेरणार्थक करवाना स्त्री प्रत्ययान्त पंडित से पंडितानी और पंडिताइन आदि।

(३) **अर्थतत्व की ध्वनियों में परिवर्तन**—अर्थतत्व की ध्वनियों में परिवर्तन करके भी सम्बन्ध तत्व प्रकट किया जाता है। इसमें अर्थतत्वों की स्वर ध्वनियों में ही प्रायः परिवर्तन होता है, जैसे संस्कृत शृङ्ग (सींग) इससे बना हुआ शार्ङ्ग (सींग का बना हुआ) पुत्र से पौत्र हिन्दी में पिटना-पीटाना, मरना-मराना, मामा, मामी, अंग्रेजी में Sing, Sang, Sung, चल से चला-चाल, घोड़ा-घोड़ी आदि।

(४) **ध्वनि गुण**—(मात्रा, सुर या बलाघात)—स्वराघात, बलाघात तथा मात्रा भी सम्बन्ध तत्व का कार्य करते हैं। यह ध्वनि गुण अर्थतत्व की ध्वनियों में होता है, इसके द्वारा उन शब्दों अर्थों में भेद उत्पन्न हो जाता है, यथा अंगरेजी में बलाघात

के द्वारा एक ही शब्द क्रिया और संज्ञा का बोध करा देता है, जैसे conduct-इसके उच्चारण में यदि क पर जोर होगा तो यह संज्ञा को प्रकट करने वाला होगा और यदि ड पर होगा तो क्रिया का बोध करायेगा। चीनी तथा अफ्रीकी भाषाओं में सुर के द्वारा यह सम्बन्ध तत्व प्रकट हो जाता है। अफ्रीका की 'फुल' नाम की भाषा मे 'मिवात' का अर्थ होगा 'मैं मार डालूँगा' यदि अन्तिम अ का वही स्वर हो जो वाक्य की शेष ध्वनियों में है, किन्तु उसी अ का स्वर अन्य ध्वनियो की अपेक्षा उच्च होगा तो अर्थ होगा 'मैं नहीं मारूँगा'।

(५) **शब्द स्थान मात्र**—अर्थतत्व का वाक्य में अथवा वाक्यांश में स्थान मात्र ही कभी-कभी सम्बन्ध तत्व का काम करता है। संस्कृत के समासों में यह बात प्रचुरता से पायी जाती है, यथा 'मल्लग्रामः' (पहलवानो का गाँव), 'ग्राममल्लः' (गाँव का पहलवान), राजपुरुष (राजा का आदमी), पुरुषराज (आदमियों में श्रेष्ठ) आदि। इनमें शब्दों के स्थानों पर ही सब कुछ आधारित है क्योंकि केवल शब्दो के स्थानान्तरण से ही अर्थो में परिवर्तन हो गया है और सम्बन्ध तत्व में अन्तर आ गया है।

(६) **अर्थतत्वों में विकृति न होना**—कभी कभी अर्थतत्वों में सम्बन्ध तत्व नहीं लगाया जाता है और अर्थतत्वों में कोई विकार उत्पन्न नहीं किया जाता। ऐसी अवस्था में अर्थतत्व को ज्यों की त्यों छोड़ देना ही सम्बन्ध तत्व को प्रकट करना है, यथा अंग्रेजी में सामान्य वर्तमान काल में उत्तम पुरुष एक वचन में तथा सभी बहुवचनों में क्रिया को ज्यों का त्यों छोड़ दिया जाता है, यथा I read, you read, we read, they read. हिन्दी में भी धातु का अविकृत रूप क्रिया के आज्ञार्थ का बोधक होता है, यथा लिख्, खा, चल्, जा, रो आदि। संस्कृत में ऐसी संज्ञाएं मिलती हैं, यथा सरित् वणिक्, मरुत्, भूभृत्, विद्युत्, पात आदि।

रूप परिवर्तन की दिशा और उसके कारण—संसार की प्रत्येक प्राचीन से प्राचीन भाषा का अध्ययन करने से पता चलता है कि थोड़े बहुत व्याकरण के नियमों के अपवाद अवश्यक मिलते है और इसी कारण पदों की एकरूपता और अनेकरूपता उनमें मिलती है। पदों या शब्दों के रूपों का परिवर्तन प्रमुखतः दो दिशाओं में होता है—(१) विविधता या एकरूपता, (२) विभ्रम अथवा अस्पष्टता= नवीनरूप-उद्भावना।

विविधता=एकरूपता—संस्कृत के तुभ्यं का विकास तुज्झ> तुज्झ> तुझ-क्रम में हुआ है। नियमानुसार मह्यं, का मज्ज> मज्झ> मुझे होना चाहिए था, लेकिन हुआ है मुझ। संस्कृत से प्रकृति की तुलना करने पर इस परिवर्तन-दिशा की उपादेयता का बोध होता है। संस्कृत में आकारान्त संज्ञाएं बहुत ज्यादा हैं। इनके रूप परिवर्तन के नियम आगे चलकर प्राकृत में स्वगत क्रिया पर भी लागू हुए।

(२) विभ्रम अथवा अस्पष्टता=नवीनरूपता—इस दिशा को एकरूपता— अनेकरूपता भी कह सकते है। हिन्दी के परसर्ग, प्राकृत और अपभ्रंश में घिसकर अधिकांशतः एक रूप हो जाने वाली विभक्तियों के बिल्कुल नवीन एवं अनेक रूपों में विकसित जान पड़ते हैं।

शब्दों में जो विकार भाषा की गठन के सम्बन्ध में होते हैं, उन्हें रूप परिवर्तन कहते हैं, परिवर्तन ध्वनि, अर्थ और रूप तीनों में होता है। मुख-सुख के लिए जो प्रयत्न लाघव होता है, उसे ध्वनि परिवर्तन कहते हैं, पर कभी-कभी शब्दों की रचना मे भी परिवर्तन हो जाता है। उसमें प्रत्यय, विभक्ति, उपसर्ग आदि के द्वारा विकृति आ जाती है, जैसे—'मत्स्य' शब्द से 'मच्छ' बना, 'त्स' का 'च्छ' हुआ। यह प्रयत्न लाघव के कारण ध्वनि सम्बन्धी विकार ही है, किन्तु इसमें 'ली' प्रत्यय लगाकर इसका स्त्री लिंग मछली बना तथा बहुवचन में मछलियाँ हुआ, यहाँ 'ली', 'याँ' आदि प्रत्यय को लगाकर जो परिवर्तन हुए वही रूपात्मक परिवर्तन हैं। रूप विकार या रूप परिवर्तन का सम्बन्ध शब्दों के व्याकरणात्मक रूपों से है। व्याकरण में संज्ञा, क्रिया, सर्वनाम, लिंग भेद, कारक भेद आदि होते हैं। इनके प्रत्येक के अलग-अलग प्रत्यय हैं। अतः रूप परिवर्तन भाषा के विकास के साथ ही साथ उसके संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण और क्रियाओं की बनावट में होता गया।

रूप परिवर्तन के कारण—ध्वनि और अर्थ विकार की भाँति रूप विकार में भी प्रयास की बचत प्रमुख कारण है। ध्वनियों के उच्चारण में पूर्ण अनुकरण का न होना ही इस विकार का प्रमुख कारण है। इन्हीं के कारण ही शब्दों के रूपों में परिवर्तन होता रहता है। इस रूप परिवर्तन में दो प्रवृत्तियाँ प्रमुख हैं—(१) एक-रूपता, (२) अनेकरूपता।

एकरूपता—संसार की प्रत्येक भाषा में यह प्रवृत्ति पाई जाती है, संस्कृत में अकारान्त शब्दों का बाहुल्य है और इकारान्त, उकारान्त आदि कम हैं। धीरे-धीरे अकारान्त शब्द स्थिरता को प्राप्त होते गये और अन्य शब्दों का ह्रास होता गया, इसी के अनुकरण पर प्राकृत आदि भाषाओं में अकारान्त शब्दों का और अधिक प्रयोग हुआ, जैसे—संस्कृत के अग्नि शब्द का षष्ठी में 'अग्नेः' रूप बनता है जो एकारान्त है, किन्तु पालि में उसका 'अग्गिस्स' ही रह गया, वायु से 'वायोः' के स्थान पर 'वाउस्स' आदि। क्रिया पदों में भी इस प्रकार की एकरूपता मिलती है। हिन्दी में 'पढ़ना' से 'पढ़वाना' बोला जाता है, 'चलना' से 'चला' बनता है। संस्कृत का 'गमिष्यति' रूप प्राकृत में 'गच्छति' के आधार पर ही 'गच्छिस्सति' बना।

सादृश्य—इस एकरूपता लाने की प्रवृत्ति में सादृश्य का अधिक हाथ है क्योंकि जब बहुत से रूप प्रकार के होते हैं और उनमें केवल थोड़ी विभिन्नता होती है तो उस विभिन्नता को अलग करने के लिए मानव सादृश्य का प्रयोग करता है जैसे संस्कृत में नपुंसक लिंग के रूप पुल्लिंग से भिन्न हैं, किन्तु प्राकृत में दोनों के

समान बन गये। धीरे-धीरे हिन्दी में नपुंसक लिंग ही समाप्त हो गया, हिन्दी में आज लिंग भेद का कोई नियम नहीं है, जैसे सूर्य शब्द पु० है, किन्तु संस्कृत की 'सविता' पु० शब्द सादृश्य के आधार पर लता आदि की तरह स्त्री लिंग है। इसी प्रकार 'शौर्य' तथा 'सौन्दर्य' पु० और 'शूरता' और 'सुन्दरता' स्त्री लिंग हैं। इस सादृश्य के लिए शब्दों के समान रूप बनाने के अतिरिक्त उनमें अनेकरूपता भी रखी जाती है, जैसे अवधी में एक ही शब्द को एकवचन और बहुवचन प्रयुक्त न करके भेद करते है। एकवचन में लरिका बहुवचन में लरकन होता है, ऐसे ही गाय से गइयन बनता है।

अज्ञान—जिस प्रकार अज्ञान के कारण ध्वनि और अर्थ में परिवर्तन होता है, उसी प्रकार अज्ञान के कारण रूप में भी विकार उत्पन्न हो जाता है क्योंकि अज्ञानवश कभी-कभी अशुद्ध शब्दों का प्रयोग होता है वही प्रचलित हो जाते हैं और उनके शुद्ध रूप भूल जाते हैं, जैसे हिन्दी में 'करना' क्रिया का शुद्ध रूप 'करा' बनता है, किन्तु प्रयोग में 'किया' रूप प्रचलित हुआ और वही शुद्ध माना जाने लगा। इसी प्रकार देना, पाना, उठना आदि। क्रियाओं के रूप दिया, पाया, उठा बनते हैं, किन्तु कुछ क्रियाओं के रूप वैसे ही बनते है, जैसे मरना, धरना, चलना आदि। इस प्रकार ये रूप अज्ञानतावश ही चले। 'मुझे खाना' की जगह 'मैंने खाना है' बोलते हैं। हिन्दी में भाव वाचक रूप भी अशुद्ध ही शुद्ध मानकर चला है, जैसे सौन्दर्यता, लावण्यता, दयालुताई आदि हैं।

नवीनता—कुछ प्रयोग में नवीनता लाने के लिए नवीन शब्दों की रचना कर ली गई है। इसमें भाषा सौन्दर्य लाने की प्रवृत्ति अधिक कार्य करती है, जैसे गपशोग, सुगन्ध वैविध्य, परिकल्पना, वैभव आदि रूप हैं।

बल—कभी-कभी वार्त्तालाप में या लिखने में जोर डालने के लिए कुछ आवश्यक प्रत्यय लगा देते हैं, जैसे आवश्यक से आवश्यकीय, अनेक से अनेकों आदि।

भाषातत्त्वविद् की सर्वप्रथम पहचान स्फोट का ज्ञानवान् होना है, स्फोट के ज्ञान के बिना कोई भी भाषातत्त्वविद् कहा ही नहीं जा सकता क्योंकि स्फोट तो भाषा की आत्मा है। स्फोट, निरवयव और शब्द या वाक्य में व्याप्त, अन्तिम ध्वनि से प्रज्वलित दीप सम भाषा की आत्मा है कहा है. जैसे 'ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्नभिद्यते' (वा० प० १-७८)। स्फोट, सचमुच में, बिजली के तारों से बने अक्षरों का बटन खुलने पर स्फुटित होने या चित्रित होने के समान भाषा की दीप्ति सम आत्मा है, ध्वनियां बिजली के तार हैं। अन्तिम ध्वनि बिजली का बटन है, उस बटन के दबने पर सब ध्वनि तारों का गुञ्जित-सा होना या चमक जाना निरवयव व्याप्त स्फोट-रूपी आत्मा है। हमारे आचार्यों ने 'स्फोट' की स्फुटता का वर्णन 'प्रधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' के न्याय से कर रखा है, जिसका मूलभूत आधार मौन है। 'स्फोट' दार्शनिक तत्व है। 'दार्शनिक' शब्द का नाम सुनते ही पाश्चात्य लोग बिदग जाते हैं क्योंकि वे लोग 'दार्शनिक' के माने 'काल्पनिक' सा समझते हैं। पाश्चात्य दर्शन

सम्भवतः अधिकांश में कल्पना की भित्ति में खड़ा किया हुआ बालू का महल हो, पर भारतीयों का वास्तविक दर्शन (सांख्य और योग) उक्त दृष्टि का सा नाममात्र का दर्शन नहीं है, इसकी समस्त व्याख्या परम वैज्ञानिक है। यही हमारे भगवान् का अभीष्ट मत भी रहा है, लिखा है—'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।' (गीता)। अतः हमारा दर्शन, ज्ञान और विज्ञान दोनों का मीठा सम्मिश्रण है। 'स्फोट' भी ज्ञान और विज्ञान दोनों दृष्टिकोणों से आलोचित परीक्षित, मनन किया और निरीक्षित तत्व है, इनसे विलक्षणा ज्ञान विज्ञान दोनों से सम्बद्ध है। महर्षि की पतञ्जलि प्रभृति सभी शब्दानुशासनकारों ने अर्थप्रत्यायक माना है। स्फोट और स्फोट से संकेतित पदार्थ एक दूसरे से कोसों दूर की वस्तुयें है, पर भाषा में इन दोनों का सम्बन्ध जड़ और आत्मा का सा नित्य सम्बन्ध माना गया है। स्फोट की धारणा बुद्धि मे होती है, जब हम किसी शब्द को प्रथम बार सुनते हैं तो स्फोट का चित्र हमारी बुद्धि में परिपक्व रूप से आरूढ़ नहीं हो पाता। स्फोट के चित्र को बुद्धि में स्थिर बनाने के लिए शब्द की ध्वनि की कई बार आवृत्ति हो जानी परमावश्यक है। अतः प्रथम श्रवणकाल मे शब्द स्फोट अस्फुट सा ही रहता है। द्वितीय आवृत्ति मे कुछ-कुछ स्फुटता की धारणा होती है। तृतीय आवृत्ति में उससे अधिक स्फुटता, तथा चतुर्थ-पञ्चम आवृत्ति मे कहीं स्फुटतर, स्फुटतम, अन्त में परिपक्व धारणा रूप मे स्फोट रूप मे शब्द का सूक्ष्म चिह्न हमारी बुद्धि मे नित्य स्थान पा जाता है। यही क्रम हमारे पठन-पाठन के विषयों के स्फोट रूप स्मरण या परिपक्व धारणा मे घटित होता है। अतः कहा है—

"नादैराहितबीजानामन्त्येन ध्वनिना सह।
आवृत्तिपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते।"

(वाक्यपदीय १-८५)

भाषा विज्ञान शब्द से भाव उन्हीं शब्दो से है जो अपना कुछ अर्थ रखते है। ये तीन प्रकार के होते है वाचक, लक्षक, व्यंजक। इन्हीं के आधार पर शब्द की तीन शक्तियां होती हैं— शब्द शक्ति वह शक्ति है जिसके द्वारा शब्द के अर्थ का ज्ञान हो, वाचक की अभिधा, लक्षक की लक्षणा और व्यंजक की व्यंजना। इनके अर्थ भी तीन प्रकार के होते है। वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ। ये शब्द जो मुख्य और प्रसिद्ध अर्थ साधारणतयः बताते है वाचक कहलाते हैं। "साक्षात् सांकेतितं अर्थं वाच्यम्" साक्षात सांकेतिक अर्थ का जिसमें ज्ञान हो वह वाचक कहलाता है जैसे बैल को सुन-कर हम फौरन समझते हैं कि एक प्रकार का पशु हो किन्तु धीरे-धीरे प्रयोग होने से शब्दों के अर्थो में उत्कर्ष व अपकर्ष होता है और वह अपने प्रसिद्ध अर्थ तक ही सीमित नहीं रहता किसी विशेष परिस्थिति मे वह दूसरे अर्थो को भी व्यक्त करता है। जब शब्द अभीष्ट अर्थ को साधारण रूप से व्यक्त न करके लक्षित करता है तो वहां लक्षणा शक्ति होती है, जैसे 'मेरा आदमी आगरा गया है।' यहां आदमी से तात्पर्य नौकर से है। यद्यपि नौकर से बड़ा भी मनुष्य ही है पर यहां सांकेतिक

अन्य का बोध कराता हुआ भी विशेष रूप से सेवक के भाव को लक्षित करता है। इसलिए लक्षणा शक्ति हुई, किन्तु जब शब्द मुख्य अथवा लक्षण अर्थ के अतिरिक्त व्यंजना द्वारा किसी अन्य अर्थ को ही अभिव्यक्त करता है तो वहाँ व्यंजना शक्ति होती है, जैसे वह 'निरा पशु है।' यहाँ पशु से तात्पर्य व्यंजना के द्वारा यही निकलता है कि उसमें मानवोचित गुण विद्यमान नहीं है। वह पूर्णतया मूर्ख है जैसे साहित्य-संगीतकलाविहीन ·····अतः यहाँ व्यंजना शक्ति हुई। इन सभी प्रकार के शब्दों का अपने-अपने अर्थों में एक विशेष सम्बन्ध है।

इसी विशेष सम्बन्ध के द्वारा वे अपने अभीष्ट अर्थ को बतलाते हैं। जो शब्द सम्बन्धरहित होते हैं वे अर्थहीन होते हैं। सम्बन्ध के द्वारा ही उनमें अर्थ के बोध कराने की शक्ति आती है। अतः सम्बन्ध शक्ति ही शब्द की शक्ति है "शब्दार्थः सम्बन्धः शक्ति" इसी सम्बन्ध शक्ति की उन्नति और अवनति पर शब्द का विकास और ह्रास निर्भर है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शब्द तीन प्रकार के हुए वाचक, लक्षक एवं व्यंजक। इन्हीं के आधार पर शब्द की तीन शक्तियाँ हुई। वाचक शब्द की शक्ति को अभिधा, लक्षक की को लक्षणा और व्यंजक की व्यंजना कहलाती है और क्रमशः इन तीनों के अर्थ को मुख्यार्थ अथवा अभिधेयार्थ, लक्ष्यार्थ या औपचारिक अर्थ और ध्वन्यार्थ कहते हैं। इनमें साहित्यिक लक्षणा और व्यंजना की ओर अधिक ध्यान देता है, किन्तु भाषा वैज्ञानिक अभिधा की ओर क्योंकि वह प्रयोग की न व्याख्या करता है और न उसके रस की मीमांसा। वह कोष में गृहीत अर्थों को लेकर उनकी ऐतिहासिक विवेचना करता है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ज्ञान, व्याकरण, उपमान, कोष, वक्ता का कथन, व्यवहार आदि द्वारा होता है। कुछ विचारकों का कहना है कि शब्द की वास्तविक शक्ति अभिधा ही है। इसके तीन भेद होते हैं— रूढ़ि, योग एवं योग रूढ़ि। इसी शक्ति के उन तीन भेदों के अनुसार शब्द भी तीन प्रकार के होते हैं। रूढ़, तथा योग रूढ़। जिन शब्दों की कोई व्युत्पत्ति ही नहीं हो सकती रूढ़ कहलाते हैं, यथा गौ, हरिण, मणि आदि और जिन शब्दों की नियमानुसार शास्त्र द्वारा व्युत्पत्ति होती है वे यौगिक कहलाते हैं, जैसे सेवक, दाता, नायक आदि। कुछ ऐसे भी शब्द है जिनकी शास्त्रानुकूल व्युत्पत्ति होने पर भी व्युत्पत्ति द्वारा प्राप्त अर्थ में और उसके मुख्य अर्थ में भेद होता है ऐसे शब्दों को योग रूढ़ की संज्ञा दी जाती है, जैसे जलज सरोज का अर्थ है जल में उत्पन्न होने वाला, परन्तु आज यह शब्द कमल के अर्थ में रूढ़ हो गया है। इसी प्रकार मनोज का अर्थ है मन में उत्पन्न होने वाला या वाली। मन में अनेक प्रकार की इच्छायें उत्पन्न होती हैं, किन्तु यहाँ मनोज का अर्थ केवल एक विशेष शब्द कामदेव के लिए रूढ़ हो गया है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से अगर देखा जाय तो शब्द कोई भी रूढ़ नहीं है क्योंकि उसकी उत्पत्ति किसी न किसी धातु से अवश्य हुई देखी है। अतः एकमात्र धातु ही रूढ़ हैं। चन्द्रालोक के कर्त्ता जयदेव ने धातुओं को रूढ़ कहा है। जिन शब्दों की उत्पत्ति अज्ञात है उन्हें हम केवल परस्पर के व्यवहार फलस्वरूप रूढ़ समझते हैं।

किन्तु वे भी अव्यक्त योग मात्र ही हैं क्योंकि उनके योगार्थ को हम जानते नहीं इस प्रकार हम धातुओं को ही रूढ़ कह सकते हैं और जहाँ धातु के साथ प्रत्यय का संयोग होता है उनमें व्युत्पन्न शब्दों को हम यौगिक कहेंगे, जैसे 'याच्' धातु से अक प्रत्यय लगकर 'याचक' शब्द बना और उसी में तद्धित के [illegible] मात्र ता आदि प्रत्ययों का योग हुआ और याचकता आदि शब्द बने। ये दोनों प्रकार के यौगिक शब्दों से अर्थात् कृदन्त और तद्धितान्त प्राप्त शब्दों के योग से समास तथा [illegible] शब्दों की उत्पत्ति होती है। बहुधा ऐसा ही देखा जाता है इन दो शब्दों में एक का लोप हो जाता है। जैसे माता च पितरौ च 'पितरौ' संस्कृत भाषा का [illegible] शब्द कोष कृदंत, तद्धितांत, समास एक शेष और नाम धातु से बना है। इनको अलग कर लेने पर केवल धातु और प्रातिपदिक ये दो प्रकार के शब्द भाषा में रह जाते हैं। अतः भाषा का भण्डार रूढ़ और यौगिक इन दो के रूप में सुशोभित होता है पर अर्थ की अतिशयता के कारण एक से शब्द की उत्पत्ति होती है जो यौगिक होते हुए भी रूढ़त्व की अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं और वे योग रूढ़ कहलाते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार समासान्त पद भी योग रूढ़ है। अभिधा शक्ति वाले शब्दों का दूसरा वर्गीकरण तुलना और इतिहास के आधार पर किया जाता है। यह तीन प्रकार का होता है—तत्सम, तद्भव और देशी। इनके ऊपर हम आगे शब्द भण्डार के प्रकरण में विचार कर चुके हैं।

(२) लक्षणा—जहाँ शब्द के मुख्यार्थ को छोड़कर अन्य अर्थ लक्षित होता है वहाँ उस शब्द को लक्षक, लाक्षणिक या अलंकारिक शब्द कहते हैं और इस अर्थ को बोध कराने वाली शक्ति को लक्षणा कहते हैं और इस अर्थ को लक्ष्यार्थ या आलंकारिक अर्थ कहते हैं। लक्षणा शक्ति दो प्रकार की होती है—रूढ़ा और प्रयोजनवती। भाषा में अनेक प्रकार के ऐसे शब्द पाये जाते हैं जो प्रयोगवश एक ही अर्थ में रूढ़ हो चुके हैं और उन्होंने अपने साधारण अभिप्रेत अर्थ को पूर्ण रूप से त्याग दिया है जैसे 'मनसिज' मन में उत्पन्न होने वाली किसी भी प्रकार की कोई भी भावना चाहे वह काम सम्बन्धी वासना हो अथवा भक्ति सम्बन्धी आदि, किन्तु 'मनसिज' का अर्थ कवियों के द्वारा निरन्तर कामदेव के अर्थ में प्रयोग करने के कारण अब वह अपने लक्षणार्थ कामदेव में रूढ़ हो गया है। इस रूढ़ा लक्षणा के भी दो भेद है—गौणी और शुद्धा। जब किसी गुण विशेष में रूढ़ि का प्रयोग होता है जैसे चौकन्ना attention का सावधान लक्ष्यार्थ रूढ़ हो गया है और यह उसका गुण है। अतः यहाँ गौणी रूढ़ा है। इसके विपरीत मनोज, मनसिज, पंचशर, सरोज आदि के लक्ष्यार्थ किसी गुण को प्रकट नहीं करते। अतः इनमें शुद्धा रूढ़ा लक्षणा है। प्रयोजनवती लक्षणा के भी दो भेद हैं—गौणी और शुद्धा। गौणी और शुद्धा के भी दो भेद है—गौणी के सारोपा और साध्यवसाना, शुद्धा के उपादान लक्षणा और लक्षण लक्षणा है।

(१) गौणी सारोपा—जिस समय समान गुण का आरोप करके प्रयोजनावश लक्ष्यार्थ का बोध हो तो वहाँ गौणी सारोपा होती है जैसे 'गिरीश बैल' है। बैल से तात्पर्य यहाँ यही है कि उसमें बुद्धि नहीं है, बैल के समान उसमें मूर्खता का गुण उपस्थित है।

(२) गौणी साध्यवसाना—जहाँ लक्षण को तो प्रकट किया जाय किन्तु जिसके लिए उस लक्षण का आरोप किया जा रहा है उसका वर्णन न हो वहाँ गौणी साध्यवसाना होती है, जैसे 'ओ बैल इधर आ', 'अबे ऊँट का ऊँट ही रहा किन्तु बुद्धि नहीं आई' यहाँ पर 'बैल' और 'ऊँट' का प्रयोग व्यक्तियों के लिए ही किया गया है जिसका भाव क्रमशः बैल के समान मूर्ख तथा ऊँट के समान बड़ा होना एवं मूर्खता है। इनमें जिन व्यक्तियों के लिए ये शब्द प्रयुक्त किये गये हैं उनका उल्लेख नहीं, किन्तु ऊँट और बैल के द्वारा उन्हीं की ओर संकेत किया गया है।

(३) शुद्धा उपादान लक्षणा—जिस समय वाक्य में शब्द का मुख्य अर्थ तो प्रकट होना ही है, किन्तु उसके साथ ही किसी दूसरे अर्थ का भी बोध होता है वहाँ शुद्धा उपादान लक्षणा होती है जैसे 'लाठी चल रही है' यहाँ पर लाठी स्वयं तो चल नहीं रही है, किन्तु व्यक्ति के द्वारा ही संचालित हो रही है। इसलिए यहाँ पर 'लाठी का चलना' उसका मुख्यार्थ तो अवश्य है ही किन्तु उसका किसी व्यक्ति के द्वारा संचालित होने का लक्ष्यार्थ भी प्रकट होता है।

(४) शुद्धा लक्षण लक्षणा—जहाँ मुख्य अर्थ को पूर्ण रूप से ग्रहण नहीं किया जाता है, केवल उसके लक्ष्यार्थ की ओर ही संकेत होता है, जैसे यमुना के किनारे बने हुए यमुना जी के मन्दिर को सभी "यमुना मन्दिर" के नाम से पुकारते हैं। यहाँ पर यमुना में मन्दिर हो ही नहीं सकता। अतः उसका भाव यही निकलता है कि वह मन्दिर यमुना के किनारे पर ही बना होगा। यह कल्पना की जाती है।

(५) शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा—जहाँ तुल्य भाव को ग्रहण किया जाता है तो शब्द के मुख्यार्थ को छोड़कर उस तुल्यता के भाव के कारण उसमें फिर दूसरे अर्थ का आरोप किया जाता है जैसे "उड़ि न मिले हरि संग विहंगम ह्वै न गये घनश्याम मई।" यहाँ विहंगम शब्द का प्रयोग पक्षी के लिए नहीं हुआ है, किन्तु उसमें नेत्रों का आरोप किया गया है और भी "बाँके तेरे नयन ये वर खंजन की ओट" इसमें 'ये' नयन का बोधक न होकर नायिका के कटाक्षों का ही बोध कराता है। इस प्रकार नेत्रों में कटाक्षों का आरोप किया गया है।

(६) शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा—जब शब्द के प्रमुख अर्थ को तो समान भाव के कारण छोड़ दिया गया हो और अन्य अर्थ का आरोप कर दिया जाय किन्तु वर्ण्य विषय अर्थात प्रस्तुत का उल्लेख न हो वहाँ शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा होती है। उदाहरणार्थ—'अब सिंह अखाड़े में उतरा'। यहाँ सिंह वाचक है जिसका लक्ष्यार्थ

हे पहलवान, दूसरा सिंह है। "अधर माँहि प्याई सुधा धनि तो मम को आहि" यहाँ सुधा वाचक शब्द से नायिका संयोग का भाव लक्षित हो रहा है।

(३) **व्यंजना शक्ति**––जहाँ पर शब्द का अर्थ अभिधा अथवा लक्षणा द्वारा ज्ञात नहीं होता है। इसी दशा में उसके अर्थ का बोध करने वाली शक्ति को व्यंजना कहते हैं। इस शक्ति के दो प्रमुख भेद हैं––शाब्दी व्यंजना और आर्थी व्यंजना। शाब्दी व्यंजना अभिधामूला और लक्षणमूला दो प्रकार की होती है, तथा आर्थी व्यंजना वाच्यार्थ संभवा, लक्ष्यार्थ सम्भवा और व्यंग्यार्थ सम्भवा। जब अभिधा और लक्षणा से वाक्य का अभिप्रेत अर्थ स्पष्ट नहीं होता तब जिस शक्ति से अभिप्रेत अर्थ तक पहुँचा जाता है उसे व्यंजना कहते हैं। जब मुख्यार्थ या वाच्यार्थ के ग्रहण करने में बाधा उपस्थित होती है तब उसी सम्बन्ध से अन्य अर्थ (लक्ष्यार्थ) के लेने से लक्षणा होती है। जिन शक्तियों के द्वारा वाक्य के अन्तर्गत किसी शब्द का मुख्यतः अन्य अर्थ ग्रहण किया जाता है उसे शब्द शक्ति कहते हैं। प्रसंग के अनुसार शब्द का अर्थ बदलता रहता है। पहले उसके साधारणतया प्रचलित अर्थ का बोध होता है। शब्द की जिस शक्ति के कारण किसी शब्द का साधारणतया प्रचलित तथा मुख्यतया सांकेतिक अर्थ ज्ञात होता है उसे अभिधा कहते हैं। बहुत से शब्द अर्थ वाले भी होते हैं उनका उचित अर्थ-सान्निध्य, संयोग वार्तालाप में प्रसंग, समय या स्थान के अनुसार किया जाता है; जैसे 'मोती बड़ा नटखट लड़का है' और 'आजकल मोती बड़े सस्ते हैं।' प्रसंगानुसार पहले वाक्य में मोती का अर्थ नाम विशेष है तथा दूसरे का अर्थ बहुमूल्य पदार्थ है। अभिधा शक्ति द्वारा प्राप्त अर्थ वाच्यार्थ और इस अर्थ को प्रकट करने वाला शब्द वाचक होता है। व्यंजना से उपलब्ध अर्थ को व्यंग्यार्थ और उसे प्रकट करने वाले शब्द को व्यंजक कहते हैं।

अभिधामूला शक्ति व्यंजना––अभिधा शक्ति के द्वारा शब्दों के अनेक अर्थ निकलते हैं परन्तु इन पर्यायवाची शब्दों का अर्थ प्रसंगवश अलग-अलग होता है। जैसे सारंग शब्द का अर्थ नेत्र, सर्प, दीपक, मयूर, मेघ, पवन आदि है। विभिन्न प्रयोगों में संयोगवश इनका अलग-अलग अर्थ निकलता है, जैसे "सारंग ने सारंग गह्यो सारंग बोल्यो आय, जो सारंग सारंग कहै, सारंग निकसो जाय।" यहाँ सारंग का अर्थ क्रमशः मयूर, सर्प, मेघ है। दूसरा उदाहरण लीजिए "सारंग नयनी सारंग नयनी सारंग ले चली सारंग को। सारंग ने झटका जो दिया सारंग बुझ गया सारंग को।" यहाँ पर सारंग का अर्थ क्रमशः हरिण, पिक, नायिका, दीपक, पवन आदि है। यहाँ प्रत्येक शब्द अपने में अभिधा के आधार पर पर्याय ध्वनि रखता है। काव्य में विशेषकर अभिधामूला व्यंजना का पर्याय ध्वनि का उपयोग होता है। जहाँ अभिधा मूला शाब्दी व्यंजना का प्रयोग किया जाता है वहाँ व्यंजना का आधार शब्द का सांकेतिक अर्थ है, परन्तु वहाँ अभिधा शक्ति नहीं होती, व्यंजना ही होती है क्योंकि उस शब्द के अर्थ का भाव कहीं अभिधा से दूर ही होता है, जैसे "मधुकर इतनी कहियो जाय" यहाँ अभिधा से अर्थ मधुकर का भ्रमर तो स्पष्ट ही है,

किन्तु साथ ही इसमें उद्धव के कुटिल स्वभाव की ओर संकेत है। "निर्गुन कौन देश को वासी", "मधुकर हँसि समुझाइ सौंह दे बूझति साँच न हाँसी"। यहाँ पर निर्गुन का अर्थ निराकार ब्रह्म तो है ही साथ ही यह व्यंग्य भी है कि वह ब्रह्म सहृदयता से रहित है और इसके रहने का कोई स्थान नहीं है, परन्तु फिर भी गोपियां पूछती हैं। पंक्ति का लक्ष्य व्यंजना को व्यक्त करना ही है, किन्तु मूल अभिधा ही है। अतः यहां अभिधा मूला शाब्दी व्यंजना ही हुई।

लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना—किसी व्यंग्य अर्थ को जब लक्ष्यार्थ के द्वारा प्रकट किया जाता है जैसे सूरदास के पद में "हमारे हरि हारिल की लकड़ी"। यहाँ पर जिस प्रकार हारिल पक्षी लकड़ी का आधार लेकर सर्वत्र सर्वदा बैठता है इसी प्रकार यहां कवि ने लक्ष्यार्थ द्वारा गोपियाँ की बिना कृष्ण के विवशता को प्रकट किया है। यहाँ लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना है। काश्मीर भारतवर्ष का स्वर्ग है। यहाँ स्वर्ग का लक्ष्यार्थ भोग-विलास और आनन्द आदि सुख की सम्पूर्ण सामिग्रियो से युक्त होना ही है। अतः यहां काश्मीर का जो विस्तृत भावार्थ प्राप्त है उसमे लाक्षणिकता ही है।

वाच्य सम्भवा आर्थी व्यंजना—जब मुख्यार्थ के आश्रय से किसी दूसरे अर्थ की व्यंजना अभिव्यक्त होती है वहां वाच्य सम्भवा आर्थी व्यंजना होती है। जैसे "आज छुट्टी का दिन है"। यहाँ बच्चे के कहने का तात्पर्य मुख्यार्थ से किसी अन्य भाव को ही व्यंजित करता है। यहां पर छुट्टी का दिन होने के कारण सिनेमा, घूमने आदि की ओर ही संकेत है और भी किसी को अधिक कार्य करते हुए देख-कर कहा जाय कि 'अभी कुछ भी नहीं हुआ है' तो इसका अभिप्राय यह होगा कि उसे व्यंग्य से बताया है कि 'बहुत काम कर चुके अब तो आराम करो।'

लक्ष्य-सम्भवा आर्थी व्यंजना—जिस समय वाक्य के शब्द लक्ष्यार्थ में व्यंजना प्रकट होती है वहां लक्ष्य-सम्भवा आर्थी व्यंजना होती है, जैसे 'आप तो बड़े साधु हैं।' इसका भाव यही निकलता है कि 'वह बड़ा दुष्ट है' किन्तु यह भाव लाक्षणिकता द्वारा ही प्रकट होता है।

व्यंग्य सम्भवा आर्थी व्यंजना—जिस वाक्य में किसी व्यंग्यार्थ को स्पष्ट करने के लिए किसी दूसरे व्यंग्यार्थ का आश्रय लिया जाय तो वहाँ सम्भवा आर्थी व्यंजना होती है। इसमें वक्रोक्ति का चमत्कार पूर्णरूप से दिखलाया जाता है। "मैं सुकुमारि नाथ वन जोगू। तुमहिं उचित तप मोह कर भोगू"। यहां सीता के व्यंग्यार्थ में काकु का ही व्यंग्यार्थ है। यहां सीधा अर्थ न लेकर व्यंग्यार्थ से ही अर्थ लेना पड़ेगा 'यदि आप वन को जा रहे है तो मैं भी सुकुमारी नहीं हूँ।' व्यंजना (ध्वनि) के तीन भेद हैं—वस्तु, अलंकार, भाव।

अभिधा, लक्षणा, व्यंजना, तात्पर्याख्या वृत्ति और ध्वनि का अर्थ समझने के लिये शब्द-शक्ति का रहस्य समझना आवश्यक है। मम्मट ने अपने 'काव्यप्रकाश' मे तीन प्रकार के काव्य माने हैं—उत्तम, मध्यम, अधम।

उत्तम—जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार हो—'इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।' इसी को ध्वनि काव्य कहते हैं।

मध्यम:—जहाँ व्यंग्यार्थ में वाच्यार्थ से कम या गौण चमत्कार हो वह गुणीभूत व्यंग्य होता है।

अधम:—जहाँ केवल वाच्यार्थ में ही चमत्कार हो, व्यंग्यार्थ कुछ भी न हो वह चित्र-काव्य कहलाता है।

काव्य तो शब्द और अर्थ के ही आश्रित होते हैं, अतएव सबसे प्रथम शब्द और अर्थ को ही स्पष्ट किया जाता है। काव्य में शब्द तीन प्रकार के होते हैं—वाचक, लक्षक, व्यंजक।

१—वाचक शब्द के सहारे जाने हुये अर्थ को 'वाच्यार्थ' कहते हैं और जिस शक्ति से यह अर्थ जाना जाता है उसे 'अभिधा शक्ति' कहते हैं।

२—लक्षक शब्द के सहारे जाने हुये अर्थ को 'लक्ष्यार्थ' कहते हैं और जिस शक्ति से यह लक्ष्यार्थ प्रतीत होता है उसे 'लक्षणा' कहते हैं।

३—व्यंजक शब्द के सहारे जाने हुये अर्थ को 'व्यंग्यार्थ' कहते हैं और जिस शक्ति से यह व्यंग्यार्थ जाना जाता है उसे 'व्यंजना' कहते हैं।
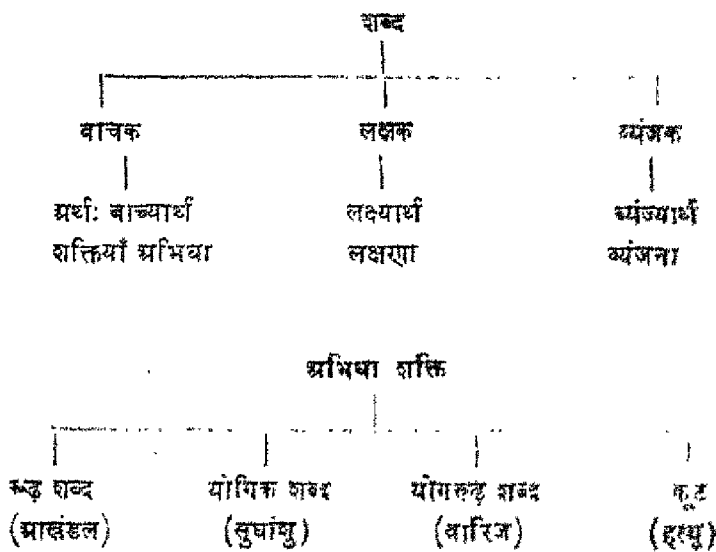
ध्वनि के दो मुख्य भेद माने गए हैं—लक्षणामूला और अभिधामूला। लक्षणा-मूला ध्वनि को अविवक्षित वाच्य-ध्वनि कहते हैं जिसमें वाच्य अर्थ की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसमें प्रयोजनवती-गूढ़-व्यंग्या-लक्षणा होती है, रूढ़ि लक्षणा नहीं क्योंकि रूढ़ि-लक्षणा में व्यंग्यार्थ का अभाव रहता है।

लक्षणामूला ध्वनि के भी दो भेद होते हैं—अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि और अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि। जहाँ वाच्य अर्थ दूसरे अर्थ में बदल जाता है वहाँ अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि होती है।

संस्कृत	अवेस्ता	पुरानी फारसी
हिरण्य	जरन्य (Zaranya)	स्वर्ण

दशम् उल्लास

व्युत्पत्ति विचार-व्युत्पत्ति की परिभाषा और उसका नियम
संस्कृत शब्दों से हिन्दी शब्दों की व्युत्पत्ति के कतिपय उदाहरण

व्युत्पत्ति-विचार

'विशेषेण उत्पत्ति व्युत्पत्ति' विशेष प्रकार से जिसकी उत्पत्ति हो। इसमें शब्दों की उत्पत्ति के विषय में मूल कारण पर विशेष विचार किया जाता है। इसके अध्ययन में शब्दों के ध्वनि, रूप, अर्थ तीनों पर ही दृष्टि रहती है। अतः व्युत्पत्ति शास्त्र के अध्ययन को हम इन तीनों में से किसी एक में शामिल नहीं कर सकते हैं, किन्तु इसमें इन तीनों विज्ञानों की बातें आ जाती हैं। यद्यपि इस शास्त्र का बहुत कुछ विवेचन रूप एवं अर्थ विचार में हो जाता है, फिर भी शब्दों की व्युत्पत्ति के विषय का पूरा ज्ञान बिना इस शास्त्र की सहायता के हो नहीं सकता है। अतः भाषा के अध्ययन में इस शास्त्र से बहुत कुछ सहायता मिलती है। व्युत्पत्ति शास्त्र पर भारतवर्ष में प्राचीन काल में बहुत कुछ कार्य हो चुका है और वैयाकरणों की दृष्टि सर्वप्रथम इसी पर गई थी। इसको 'निरुक्त' का नाम दिया गया था जिसकी वेद के ६ अंगों में गणना की गई थी। इनमें वेद में आये हुए मन्त्रों के शब्दों की व्युत्पत्ति पर विचार किया गया है। यास्क मुनि का बनाया हुआ 'निरुक्त' सबसे अधिक प्राचीन है। आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से इसमें शब्दों की व्युत्पत्ति पर विचार नहीं किया गया है, परन्तु फिर भी इसका महत्व है। इसमें एक शब्द की व्युत्पत्ति का मूल एक न देकर अनेक कारण दिये हैं। पाश्चात्य यूरोप में सर्वप्रथम यूनान के प्रसिद्ध विद्वान् प्लेटो ने शब्द की ध्वनि और अर्थ पर विवेचन किया है। इससे पूर्व कुछ विद्वान शब्दों की व्युत्पत्ति पर भी विचार कर चुके थे। शब्दों के मूल को ही आधार बनाकर संसार की विभिन्न भाषाओं का वर्गीकरण किया गया है। आधुनिक युग में 'स्वीट', 'वर्नल', 'टर्नर', 'ज्ञानेन्द्र', 'मोहनदास', 'गोपाल चन्द्र' 'वासुदेवशरण अग्रवाल' प्रमुख हैं।

शब्द व्युत्पत्ति के साधारण नियम—

१. शब्दो की व्युत्पत्ति के समय रूप, अर्थ एवं ध्वनि विचार पर दृष्टि रखनी पड़ती है। बिना इन पर विचार किए हुए व्युत्पत्ति पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं हो सकती है।

२. व्युत्पत्ति में शब्द की उत्पत्ति के इतिहास पर भी विचार डालना आवश्यक है और विभिन्न काल एवं परिस्थितियों में उसके रूप और अर्थ का विचार करना पड़ता है क्योंकि ऐसा करने से शब्द के प्रारम्भिक इतिहास का पता चल जाता है और शब्द की व्युत्पत्ति सम्बन्धी भ्रम का निराकरण हो जाता है, जैसे हिन्दी का 'यह' शब्द संस्कृत के 'एष' से बना है, पालि में उसका 'एस', प्राकृत में 'एसो', अपभ्रंश में 'एहो' और हिन्दी में 'यह' हुआ। 'ने) हिन्दी में कर्ता, कारक और करण कारक

की विभक्ति है। संस्कृत की प्रथमा में प्रायः विसर्ग आता है, जैसे हरिः, बालकः आदि किन्तु तृतीया में 'एण' या 'ऐन' होता है, जैसे 'हरिणा', 'बालकेन', 'रामेण' आदि। इस प्रकार ध्वनि के साम्य से संस्कृत के 'बालकेन भक्षितम्' 'बालक ने खाया' के रूप में अनुमान लगाया जाता है। अर्थ-विचार और ध्वनि-विचार की दृष्टि से तृतीया और प्रथमा का साम्य नहीं बैठता। अतः व्युत्पत्ति संदिग्ध ही रह जाती है। इनके अतिरिक्त किसी भी शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में केवल साम्य पर ही विचार नहीं किया जाता है, किन्तु उसमें ध्वनि परिवर्तन के नियमों का लागू होना भी आवश्यक है। जहाँ पर ये नियम लागू नहीं होते हैं, वहाँ अपवाद स्वीकार कर लिया जाता है। व्युत्पत्ति के विषय में सर्वत्र ध्वनि परिवर्तन और अर्थ परिवर्तन के नियम ही लागू नहीं होते हैं, किन्तु उन पर विशेष ध्यान रखना पड़ता है। अपवाद का आश्रय वहीं लेना पड़ता है, जहाँ नियमों से समाधान नहीं हो पाता है। सर्वप्रथम किसी भी शब्द की व्युत्पत्ति के लिए उसके मूल पर विचार किया जाता है, यह देखना पड़ता है कि शब्द का मूल अपनी भाषा का है अथवा अन्य किसी विदेशी भाषा का। तत्सम और अर्ध तत्सम शब्दों की व्युत्पत्ति नियमानुसार होती है, किन्तु तद्भव शब्दो के मूल के विषय में देखना पड़ता है, जैसे–अंग्रेजी (Grass) शब्द से हिन्दी मे 'घास' शब्द बनाया है। इसको पूर्ण स्पष्ट होने के लिए नीचे कुछ हिन्दी शब्दों की व्युत्पत्ति के उदाहरण देते है—

अनाज—इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत 'अन्नाद्य' शब्द से हुई है। इसमें मध्य मे आए हुए 'न्' का लोप हुआ है और 'द्य' में अन्तस्थ 'द्' के स्थान पर 'तृतीय' स्थान का तालव्य 'ज्' हो गया है और य् का लोप है, इस प्रकार अनाज बना।

अहेर—संस्कृत के 'आखेट' शब्द से इसकी व्युत्पत्ति हुई है। इसमें 'ख' के स्थान पर 'ह' हो गया है और 'अ' को ह्रस्व हुआ है। 'ट' मूर्धन्य ध्वनि बदल कर 'र' हो गया है। यद्यपि इसका कोई नियम नहीं है, इसे अपवाद ही कह सकते है।

आँवला—'आमलकं' शब्द से इसकी उत्पत्ति हुई है, इसमें मध्य 'म' का लोप होकर 'आ' अनुनासिक हो गया है और अन्त 'क्' का लोप होकर 'अ' और 'अ' मिलकर दीर्घ 'ला' हो गया है। 'व' का आगम है।

काज—संस्कृत के 'कार्य' शब्द से इसकी व्युत्पत्ति हुई, इसमें हलन्त 'र' का लोप है और 'य' अपने सवर्ण 'ज' में बदल गया है। इसका प्राकृत रूप कज्ज है और अपभ्रंश में 'कज्जहिं' हुआ।

कुम्हार—शुद्ध रूप 'कुम्भकार' है। इसमें 'भ' का महाप्राणत्व 'ह' हुआ है और 'क्' का लोप है। 'का' का आ ह् में मिलकर दीर्घ हो गया है।

कोतवाल—इसकी व्युत्पत्ति 'कोट्टपाल' से है, इसमें मूर्ध्यन्य ध्वनि है। सरल होकर दन्त्य ध्वनि 'त' में परिवर्तित हो गई है और प की सवर्णीय ध्वनि व हो गई है।

खाट—संस्कृत शब्द 'खट्वा' से है। इसमें व्यंजन 'व' का लोप है और आदि वर्ण ख का दीर्घ हो गया है और अन्त आ स्वर ह्रस्व होकर 'ट्' में मिल गया है।

खीर—संस्कृत 'क्षीर' से है, इसमें क्ष का 'ख' हो गया है और इस प्रकार संयुक्त अक्षर क्ष (क्+ष्) ख में परिवर्तित होकर महाप्राण हो गया है।

छुरा—'क्षुरक' शब्द से इसकी व्युत्पत्ति है। इसमें क्ष में (क्+ष्) परिवर्तित होकर 'ष' का 'छ' हो गया है और 'क' का लोप है। स्वर उ का आगम है और अन्त के व्यंजन 'क' में से 'क्' का लोप होकर स्वर 'अ' 'र' के स्वर 'अ' से मिलकर दीर्घ हो गया है।

घोड़ा—संस्कृत 'घोटक' शब्द से यह रूप विकसित होकर घोड़ा बना। इसमें मध्य व्यंजन 'ट्' अपने वर्ग का तृतीय रूप 'ड्' होकर उसके उत्क्षिप्त 'ड़' में परिवर्तित हुआ और अन्त्य वर्ण 'क' का लोप होकर उसका 'अ', 'ट' के 'अ' से मिलकर दीर्घ हो गया है।

नेवला—इसकी व्युत्पत्ति 'नकुल' शब्द से हुई है। इसमें क का लोप होकर 'उ' अर्ध-स्वर 'व' मे परिवर्तित हुआ है और 'न' का स्वर 'अ' 'ए' हुआ है और ल के स्वर 'अ' का दीर्घ हो गया है।

भभूत—इसकी उत्पत्ति 'विभूति' से है। व्यंजन विपर्यय के नियम से मध्य का 'भ' आदि में आ गया है और 'ति' की 'इ' का लोप हो गया है और वि का इ का ह्रस्व स्वर हो गया है।

मूँछ—संस्कृत शब्द 'श्मश्रु' से इस शब्द की व्युत्पत्ति हुई है, व्यंजन श का लोप होकर स्वर विपर्यय हो गया है और इस प्रकार अंत का स्वर 'उ' म के मिलकर दीर्घ हो गया है और अन्तस्थ एवं ऊष्म के संयोग से 'र' का लोप होकर 'श' ने सवर्णीय तालव्य 'छ' का रूप धारण कर लिया है।

आँख—इस शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत अक्षि से है। स्पर्श और ऊष्म के संयोग मे ऊष्म ध्वनि का प्रायः लोप हो जाता है। इसी नियम के अनुसार क्+ष् का ष लुप्त हो गया है और 'क', 'ख' हो गया है। संयुक्ताक्षर लोप के प्रभाव से पूर्व वर्ण 'अ' दीर्घ हो गया है। अनुनासिकता अकारण हो गयी है जैसे कि 'मोर' शब्द में है।

कुम्हार—इस शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत 'कुम्भकार' शब्द से है परिवर्तन अत्यन्त सीधा है। 'भ' का महाप्राणत्व विकसित होकर 'ह' में बदल गया है और मध्य व्यंजन 'क' का लोप हो गया है।

कोइल—यह शब्द 'कोकिल' का सरल रूप है, केवल मध्य व्यंजन 'क' का लोप हुआ है।

कौड़ी—कौड़ी की व्युत्पत्ति 'कपर्द' से है। मध्य 'प' अपने घोष रूप 'व' में परिवर्तित हुआ। 'अ' और 'व' के संयोग से संयुक्त स्वर 'औ' बना। 'र' और 'द' के संयोग में 'ड' बना। प्रयत्न के अनुसार 'र' लुंठित और 'ड' उत्क्षिप्त है, दोनों निकट ही हैं। इसी प्रकार उच्चारण स्थान की दृष्टि में 'द' और 'ड' में एक स्थान का भेद है। इसलिए 'द' का रूप 'ड' हो गया है। अन्त्य स्वर 'अ', 'ई' में परिवर्तित हो गया है।

चाक—संस्कृत 'चक्र' प्राकृत और अपभ्रंश में 'चक्क' था। सावर्ण्य के अनुसार 'र', 'क' में बदला और संयुक्ताक्षर सरल होकर 'क' हो गया और पूर्व वर्ण दीर्घ हो गया।

जनेऊ—इस शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत 'यज्ञोपवीत' से है। तालव्य 'य', 'ज' में परिवर्तित हो जाता है। 'ज्ञ' (ज्+ञ) में 'ज' का लोप होकर 'ञ', 'न' में बदल गया है। 'ओ' सरल होकर, 'ए' हो गया है और मध्य व्यंजन 'प' और 'त' का लोप हो गया है। 'व' का अर्ध स्वर विकसित होकर 'ऊ' हो गया है।

झा—यह संस्कृत 'उपाध्याय' शब्द का सूक्ष्म रूप है, इसमें लोप-नियम की चरमसीमा है—आदि, मध्य और अन्त के वर्ण लुप्त हो गये हैं। 'ध्या' में दंत्य स्पर्श और अन्तस्थ का योग था। अन्तस्थ के लोप होने पर दन्त्य स्पर्श व्यंजन अपने स्थान के तालव्य स्पर्श में बदलता है, इसीलिए 'य' का तो लोप हो गया और 'ध्' तालव्य 'झ' में बदल गया। इस प्रकार 'ध्या' ही 'झा' बन गया।

पीहर—इसकी व्युत्पत्ति सं० 'पितृ गृह' से है। 'गृह' से 'घर' और 'घर' से 'हर' बना है। पितृ में मध्य व्यंजन लोप के नियमानुसार 'पी' हो गया है।

मोती—यह 'मुक्ता' से बना है। मध्य व्यंजन 'क्' का लोप है और मध्य स्वर 'उ' बदलकर 'ओ' और अन्त्य स्वर 'आ', 'ई' होकर मुक्ता से मोती बन गया।

साँझ—शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत शब्द 'सन्ध्या' से है। 'ध्या' में स्पर्श और अन्तस्थ का संयोग है। इस संयोग में अन्तस्थ और स्पर्श दोनों का लोप हुआ है पर अंतस्थ सवर्गीय तालव्य, ध्वनि में और स्पर्श अपने वर्ग के चतुर्थ स्थान में रहा है। इस प्रकार 'ध्या' से 'झ' बना है। संयुक्ताक्षर के लोप के कारण पूर्व स्वर दीर्घ होकर 'सा' बना है और अनुस्वार के प्रभाव से वही अनुनासिक हो गया है।

साँप—इसकी व्युत्पत्ति 'सर्प' शब्द से है। मध्य व्यंजन 'र' का लोप हो गया है। ह्रस्व 'अ' दीर्घ हो गया। पर इसका अनुनासिक अनियम है। इस प्रकार के अकारण अनेक शब्दों पर अनुस्वार पाया जाता है, जैसे—श्वास से साँस।

तीन—सं० त्रीणि > प्रा० तिण्णि > हिन्दी तीन। संयुक्त रूप में ते (तेरह), ती (तीस), तैं (तैंतीस), ति (तिरपन) आदि होता है। ये रूप 'त्रय' या 'त्रि' के ही रूप हैं, जैसे-त्रियोविंशति।

छः—सं० षट्> प्रा०> छ> हिन्दी छः। संस्कृत 'षट्' का प्राकृत 'छ' में परिवर्तन कैसे हुआ स्पष्ट नहीं है। श्री सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के मत में इसका सम्बन्ध प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के एक कल्पित रूप क्षष् या क्षक् से है। प्रा० और हिन्दी रूप में कोई भेद है ही नहीं। संयुक्त रूप में इसके रूप छ या छिया मिलते है, जैसे—छब्बीस, छत्तीस या छियालीस, छियासठ।

नौ—सं० नव> प्रा० नव> हिन्दी नौ। संयुक्त रूप में केवल नवासी [illegible] निन्यानवे (नव नवे) ये 'नौ' के रूप है अन्यथा दहाई वाली संख्या में एक कम [illegible] लगाया जाता है, जैसे उन्नीस, उन्तीस, उनचास। यहाँ 'उन' सं० ऊन> प्रा० ऊण से बना है।

ग्यारह—इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत एकादश से है। एकादश का अघोष व्यंजन 'क' अपने घोष रूप 'ग' में परिवर्तित हुआ। व्यंजन 'श्' का 'ह्' हो गया। आदि स्वर 'ए' का विपर्यय 'य्' हुआ। इतने परिवर्तन तो सनियम है; पर 'द' का 'र' अनियम हुआ। प्रतीत होता है त्र्योदश और षोड्स के परिवर्तित रूप तेरह और सोलह के सादृश्य पर ग्यारह, बारह, पन्द्रह, सत्रह आदि में 'द' के स्थान पर 'र' आ गया है।

ने—इसकी व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में अभी तक निश्चय नहीं हुआ। [illegible] और ग्रियर्सन इसका सम्बध 'तन' से मानते है। ट्रम्प इसकी उत्पत्ति तृतीया के 'एन' से मानते है। 'रामेण पुस्तकं पठितं' से 'राम ने पुस्तक पढ़ी' बना है। इसी मत की ओर लोगों का अधिक झुकाव है पर अभी तक इसकी व्युत्पत्ति संदिग्ध ही है।

में—इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत 'मध्ये' से है। विकास इस प्रकार है—मध्ये> मज्झे> मज्झि> मज्झहि> माँहि> महि> में।

हम—हम का सम्बन्ध प्राकृत 'अम्हे' से जोड़ा जाता है। अम्हे से [illegible] म्हे से हम बना है। अम्हे और म्हे प्राकृत रूपों का सम्बन्ध वैदिक 'अस्मे' से बताते हैं।

तुम—तुम का सम्बन्ध संस्कृत के 'तुष्मे' से माना जाता है। प्राकृत में तुम्हे रूप था, अपभ्रंश में तुम्हइ और हिन्दी में तुम बना।

अन्य पुरुष, वह—इसकी व्युत्पत्ति संदिग्ध है। चटर्जी महोदय के अनुसार संस्कृत के कल्पित रूप 'अव' तथा प्राकृत 'ओ' से वह की उत्पत्ति है। 'उस' शब्द भी इसी प्रकार संस्कृत 'अवस्य' प्राकृत 'अवस्स' से बना है।

प्रश्न वाचक, कौन—इसका सम्बन्ध संस्कृत के 'कः पुनः' से है। पकार व में बदलकर कवन बना और 'व' 'ओ' में बदला। इस प्रकार कौन बन गया।

अपना—प्राकृत 'अप्पाणो'> अपभ्रंश अप्पाणु> हि० अपना।

इस प्रकार शब्दों के स्वरूप और अर्थ का कारण खोजते हुए उनके प्राचीन स्वरूपों और अर्थों के साथ उनके सम्बन्ध को जोड़कर उनके

इतिहास और वंशावली का पता लगाना ही शब्द-व्युत्पत्ति का मुख्य प्रयोजन है। भाषा सदा परिवर्तित होती रहती है। शब्दों के स्वरूप के साथ-साथ उनके अर्थों में भी कालान्तर में परिवर्तन हो जाता है, यह परिवर्तन कहाँ तक किस-किस प्रकार का हो सकता है। इसका कोई निश्चित नियम नहीं है। अनेक ऐसे शब्द जो देखने में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं रखते वस्तुतः एक ही मूल-शब्द से निकले हुए हो सकते हैं, संस्कृत 'स्वसृ' और फारसी 'खाहर' वस्तुतः एक ही शब्द से निकले है। भिन्न-भिन्न मूल-शब्दों से निकले हुए शब्द किस प्रकार देखने में समान रूप हो सकते है, यह प्रत्येक भाषा में पाये जाने वाले सम्मान-श्रुति पर भिन्नार्थक शब्दों की परीक्षा से स्पष्ट हो जाता है, उदाहरणार्थ—संकर=शंकर, संकर=गड़बड़, काम=इच्छा, काम=धंधा।

इस प्रकार की आकस्मिक समान रूपता एक ही भाषा के शब्दों में नहीं, किन्तु भिन्न-भिन्न भाषाओं में भी देखी जाती है।

हिन्दी	अरबी
कफ=कफ	कफ=हथेली
कुल=वंश	कुल=समस्त

इसके अतिरिक्त किसी प्रकार के प्रमाण के न होने पर अनेक शब्दों का मनमाना सम्बन्ध स्थापित करना भारतवर्ष के पढ़े-लिखों में आजकल प्रायः देखा जाता है, उदाहरणार्थ—

स्कैण्डिनेविया=स्कन्धनिवासी
इन्तकाल =अन्तकाल

एकादश उल्लास

हिन्दी भाषा का विकास एवं उसका शब्द समूह
हिन्दी भाषा की उपभाषायें।

हिन्दी की परिभाषा—फारसी में संस्कृत की 'स' ध्वनि 'ह' हो जाती है। इस प्रकार भारतवर्ष के 'सिन्धु', 'सिंध' और 'सिंधी' के ही, फारसी में परिणित रूप 'हिन्दु', 'हिन्द' और 'हिन्दी' हैं, किन्तु आज भाषा में इनका विभिन्न अस्तित्व है, यथा—सिंधु एक नदी का नाम है, सिंध एक प्रदेश है और सिंधी उस प्रदेश की भाषा तथा उस विभाग के रहने वाले व्यक्ति कहलाते है। इसके विपरीत फारसी से आये हुए हिन्दू से अर्थ एक जाति अथवा धर्म या देश के रहने वाले व्यक्तियों से होता है और हिन्द सारे भारतवर्ष के लिए प्रयुक्त होता है। हिन्दी शब्द एक भाषा के लिए प्रयोग में आता है, जो इस समय सम्पूर्ण भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा है। प्रयोग तथा रूप की दृष्टि से हिन्दी या हिन्दी शब्द फारसी भाषा का ही है। फारसी में हिन्दी शब्द का अर्थ 'हिन्द' का होता है। अतः वहाँ इसका प्रयोग हिन्द देश के निवासी और उसकी भाषा के लिए होता आ रहा है। शब्दार्थ की दृष्टि आदि से इसका व्यापक रूप लिया जाय तो हिन्दी शब्द का प्रयोग भारतवर्ष की किसी भी भाषा के लिये किया जा सकता है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से आज हम हिन्दी को उस विस्तृत भूमि-भाग की भाषा मानते हैं जिसकी सीमा पश्चिम में जैसलमेर, उत्तर पश्चिम में अम्बाला, उत्तर में शिमला से लेकर नैपाल के पूर्वी किनारे तक का पहाड़ी प्रदेश, पूर्वी में भागलपुर, दक्षिण-पूर्वी में जयपुर तथा दक्षिण-पश्चिम में खंडवा तक पहुँचती है। इस प्रदेश के रहने वालों के साहित्य, पत्र-पत्रिकाएँ, शिष्ट बोलचाल तथा शिक्षा आदि की भाषा एकमात्र साहित्यिक हिन्दी है और साधारण तौर पर इसी विस्तृत भाग की भाषा के लिए हिन्दी शब्द का प्रयोग होता है, यह हिन्दी का प्रचलित अर्थ है। इसके भाषियों की संख्या २५ करोड़ के लगभग है।

हिन्दी का शास्त्रीय अर्थ—भाषा-शास्त्र की दृष्टि से इसका अर्थ कुछ विभिन्न तथा संकुचित होता है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से इस विस्तृत प्रदेश में चार पृथक भाषाएँ मानी जाती हैं—(१) राजस्थानी, (२) बिहारी, (३) पहाड़ी, (४) पूर्वी हिन्दी, (५) स्वयं पश्चिमी हिन्दी (खड़ी बोली)। इस प्रकार हिन्दी (पश्चिमी हिन्दी) उस भूमि भाग की भाषा कही जा सकती है, जिसे मनुस्मृति में मध्यदेश अथवा अन्तर्वेद कहा गया है। पश्चिमी हिन्दी के बोलने वालों की संख्या लगभग ५ करोड़ है। कुछ विद्वानों की राय है कि हिन्दी के दो भेद हैं—पूर्वी हिन्दी तथा पश्चिमी हिन्दी, परन्तु भाषा विज्ञान की दृष्टि से पश्चिमी हिन्दी को ही हिन्दी कहना उचित माना जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी पश्चिमी हिन्दी शौरसेनी की और पूर्वी हिन्दी अर्ध मागधी की वंशज है। ग्रियर्सन तथा चटर्जी ने हिन्दी शब्द का अर्थ-पश्चिमी हिन्दी से ही लिया है। इस प्रकार उपर्युक्त हिन्दी के विभिन्न अर्थों पर प्रकाश डाला

गया है। निम्नांकित हम उसकी इन भाषाओं तथा उनकी उपभाषा बोलियों का पृथक-पृथक विवेचन करते हैं। भाषा विज्ञान की दृष्टि से हिन्दी भाषी इस विशाल प्रदेश में पाँच प्रमुख उपभाषाएँ आती हैं—(१) राजस्थानी, (२) बिहारी, (३) पहाड़ी, (४) पूर्वी हिन्दी, (५) पश्चिमी हिन्दी।

१. हिन्दी (पश्चिमी हिन्दी) की उपभाषाएँ—

(१) **खड़ी बोली**—इस समय हमारी राष्ट्रभाषा खड़ी बोली है। साहित्य और नित्य-प्रति के व्यवहार में इसी की तूती बोल रही है। आधुनिक साहित्यिक हिन्दी को हम खड़ी बोली से ही पुकारते हैं। इसका यह नाम प्रायः ब्रज और अवधी से भेद करने के लिए रक्खा गया है। यह खड़ी बोली का सामान्य अर्थ है और इसको हम विभिन्न तीन रूपों में देखते हैं—

१. उच्च हिन्दी।
२. उर्दू।
३. हिन्दुस्तानी।

(१) **उच्च हिन्दी**—खड़ी बोली जब अपने शुद्ध रूप में आती है तब यह केवल एक बोली है, उसका उर्दू अथवा हिन्दुस्तानी से कोई सम्पर्क नहीं रहता है। इस प्रकार की भाषा में संस्कृत के तत्सम और अर्ध तत्सम शब्दों का अधिक बाहुल्य रहता है और साहित्य में इसका प्रयोग होता है। यह सर्वसाधारण की भाषा से कहीं अधिक शुद्ध होती है, शिष्ट समाज में इसी का व्यवहार होता है। इसी को उच्च हिन्दी का नामकरण दिया है, इसी हिन्दी में आधुनिक हिन्दी साहित्य है।

(२) **उर्दू**—यह खड़ी बोली का दूसरा साहित्यिक रूप है। इसका व्यवहार भारत के मुसलमानों तथा पाकिस्तान के शिक्षित मुसलमानों में मिलता है। जब खड़ी बोली फारसी और अरबी के तत्सम शब्दों का प्रभाव अपना लेती है तब इसे उर्दू कहते हैं। यद्यपि उच्च हिन्दी और उर्दू दोनों की साहित्यिक भाषाओं में व्याकरण की दृष्टि से विशेष भेद नहीं है, परन्तु इन दोनों शब्द समूह और लिपियों में बहुत अन्तर है। एक का दृष्टिकोण प्राचीन भारतीय संस्कृति की ओर अग्रसर होता है, दूसरी का आधार मुस्लिम सभ्यता को विकास की ओर ले जाता है। उर्दू भारत से उत्पन्न होने पर भी अरबी तथा फारसी से अधिक प्रभावित है।

(३) **हिन्दुस्तानी**—यह भी खड़ी बोली का एक मिश्रित रूप है। इसमें उच्च हिन्दी और उर्दू दोनों का ही संयोग है। यह पूर्ण रूप से न तो बोल-चाल की ही भाषा है और न साहित्य की शुद्ध तथा परिमार्जित भाषा है। इसका शब्द समूह देशी-विदेशी सभी भाषाओं के शब्दों का संग्रह मात्र है। साधारण जनता के लिये साहित्यों में इसका प्रयोग मिलता है। प्रेमचन्द के साहित्य की भाषा हिन्दुस्तानी से अधिक प्रभावित है। एक लेखक का कथन है कि पुरानी हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी के मिश्रण से जो एक नई जबान अपने आप बन गई है वह हिन्दुस्तानी के नाम से

मनोहर है। किस्से, गजल, कहानी आदि की भाषा इसी का ही रूप है। इसका हिन्दुस्तानी नाम अंग्रेजी का ही दिया हुआ है। इस प्रकार उर्दू, उच्च हिन्दी और हिन्दुस्तानी तीनों खड़ी बोली के ही रूप हैं, किन्तु इसका मूल अर्थ तो खड़ी बोली एक छोटे से प्रदेश की भाषा है।

१. **खड़ी बोली**—यह बोली मुरादाबाद, बिजनौर, रामपुर, मेरठ, मुजफ्फर नगर, सहारनपुर, देहरादून, अम्बाला, कलासिया, पटियाला रियासत के पूर्वी भागों में बोली जाती है। इसमें फारसी, अरबी के अर्ध-तत्सम और तद्भव शब्दों की बहुतायत मिलती है, इसके बोलने वालों की संख्या १ करोड़ से अधिक है। इसकी उत्पत्ति शौरसेनी अपभ्रंश से हुई है। ग्रियर्सन ने इसी का नाम वर्नाक्यूलर हिन्दुस्तानी रखा है।

२. **बांगरू**—पश्चिमी हिन्दी की दूसरी विभाषा बाँगरू बोली है। इसको जाटू या हरियानी भी कहते हैं। इस बोली का क्षेत्र देहली, करनाल, रोहतक, हिसार, पटियाला, नाभा और भींद है। वस्तुतः यह पंजाबी, राजस्थानी तथा खड़ी बोली, तीनों का ही सम्मिश्रण रूप है। इस बोली के भाषियों की संख्या ५० लाख के लगभग है। पानीपत और कुरुक्षेत्र के प्रसिद्ध मैदान इसी बोली की सीमा के भीतर आ जाते हैं।

३. **ब्रजभाषा**—इस बोली का क्षेत्र मथुरा, आगरा, अलीगढ़ तथा धौलपुर के जिले हैं, इसके वक्ताओं की संख्या १ करोड़ के लगभग है। इस बोली में हिन्दी का मध्यकालीन साहित्य इतना विस्तृत है कि इसको एक बोली न कहकर साहित्यिक भाषा का नाम दिया गया, परन्तु आज का साहित्य खड़ी बोली में है। अतः इसको हिन्दी की एक बोली ही मानी जाती है, परन्तु कुछ कलाकार आधुनिक युग में भी इस पुरानी भाषा में काव्य-रचना करते हैं। सत्यनारायण 'कविरत्न' की काव्य-भाषा विशुद्ध ब्रजभाषा ही है, सूर इस भाषा के सम्राट् हैं।

४. **कन्नौजी**—इस बोली का क्षेत्र गंगा के मध्य दोआब का प्रदेश है। यह फर्रुखाबाद, फतेहगढ़, मैनपुरी, कानपुर के कुछ हिस्सों में बोली जाती है। इसका जो साहित्य है, वस्तुतः वह ब्रजभाषा का ही साहित्य है। इसके पूर्व में अवधी बोली जाती है और पश्चिम में ब्रजभाषा का अधिकार है। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग ४५ लाख है।

५. **बुन्देली**—यह ब्रजभाषा के ठीक दक्षिण में बोली जाती है। प्रमुखतया यह झाँसी, जालौन, हमीरपुर, ग्वालियर, भूपाल, ओड़छा, सागर, नरसिंहपुर, सिवनी तथा हुशंगाबाद के जिलों में बोली जाती है। इसके कुछ मिश्रित रूप पन्ना, दतिया, चरखारी, दमोह, बालाघाट तथा छिदवाड़ा के जिलों में बोली जाती है। इसके भाषियों की संख्या लगभग ८० लाख है। यद्यपि मध्यकाल में केशव, बिहारी, भूषण छत्रसाल आदि श्रेष्ठ कवि हुए, किन्तु इनकी भाषा ब्रज ही रही।

पूर्वी हिन्दी—इसकी तीन ग्रामीण बोलियां है—(१) अवधी, (२) बघेली, (३) छत्तीस गढ़ी।

१. **अवधी**—इसका क्षेत्र बहराइच, बाराबंकी, फैजाबाद, गोंडा, खीरी लखनऊ, प्रतापगढ़, रायबरेली, सुल्तानपुर, सीतापुर तथा उन्नाव के जिलों का भाग है। इसके अलावा भी यह बोली कानपुर, इलाहाबाद, मिर्जापुर, फतेहपुर तथा जौनपुर के कुछ भागों में पायी जाती है। इसके वक्ताओं की संख्या लगभग १ करोड़ ६० लाख है। इस भाषा में भी मध्यकाल में साहित्य लिखा गया था। इनके प्रसिद्ध कवि जायसी और तुलसी हैं।

२. **बघेली**— यह मध्य प्रदेश के दमोह, जबलपुर, बालाघाट और मांडला के जिलों में बोली जाती है, इस बोली का क्षेत्र अवधी का दक्षिणी भाग है। यहां के कवियों की साहित्यिक भाषा अवधी ही रही थी। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग ५२ लाख है। कुछ भाषा वैज्ञानिक इसे अवधी का ही रूप मानते हैं।

३. **छत्तीस गढ़ी**—इस बोली का प्रदेश रायपुर, बिलासपुर, रायगढ़, कोरिया, खैरगढ़, सरगुजा के जिले हैं। इसके भाषियों की संख्या करीब ४० लाख है। इसमें कोई प्राचीन साहित्य नहीं मिलता। इसको दो और नामों से पुकारा जाता है—लरिया अथवा खल्ताही।

बिहारी—इसकी भी प्रमुख तीन बोलियाँ हैं—(१) भोजपुरी, (२) मैथिली, (३) मगही।

१. **भोजपुरी**—इस बोली का नामकरण भोजपुर नामक एक कस्बे के नाम पर पड़ा है जो शाहाबाद जिले के अन्तर्गत है। इस बोली का क्षेत्र मिर्जापुर, बनारस, जौनपुर, गाजीपुर, बलिया, गोरखपुर, बस्ती, आजमगढ़, चंपारन, सारन के जिलों का फैला हुआ भाग है, इस प्रदेश की साहित्यिक बोली हिन्दी ही है। इसके बोलने वालों की संख्या ढाई करोड़ से ऊपर है।

२. **मैथिली**—यह बोली चंपारन और सारन जिलों को छोड़कर बिहार के उत्तरी भाग में बोली जाती है इसका मध्य भाग दरभंगा है। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग १ करोड़ ५ लाख है। प्राचीन काल में इस बोली में साहित्य की भी रचना हुई, विद्यापति ने अपने काव्य की रचना इस लोक भाषा में ही की है। इनकी पदावली की भाषा मैथिली है। इस बोली की लिपि अपनी है, जिस पर बंगला से अधिक प्रभावित है।

३. **मगही**—यह बोली एक शाहाबाद जिले के अतिरिक्त बिहार के संपूर्ण दक्षिणी भाग में बोली जाती है, इस बोली की अपनी लिपि कैथी है। यह मागधी का ही अपभ्रंश रूप है। इसके वक्ताओं की संख्या ७० लाख से अधिक है।

राजस्थानी—इसमें चार बोलियां प्रसिद्ध हैं—(१) मारवाड़ी, (२) जयपुरी, (३) मेवाती (४) मालवी।

१. मारवाड़ी—यह बोली राजस्थान के पश्चिमी भाग में बोली जाती है मुख्य रूप से इस बोली का क्षेत्र जोधपुर, बीकानेर, उदयपुर और जैसलमेर के जिलों का प्रदेश है। इसके भाषियों की संख्या ६५ लाख से ऊपर है। प्राचीन काल की डिंगल भाषा में यहाँ का साहित्य मिलता है। यह डिंगल भाषा आधुनिक मारवाडी का ही प्राचीन रूप है।

२. जयपुरी—यह बोली पूर्वी राजस्थान में बोली जाती है। इसके हमे दो रूप मिलते हैं—पहली जयपुरी जो जयपुर मे बोली जाती है तथा दूसरी हाड़ोली जो कोटा और बूंदी में पायी जाती है। इसके बोलने वालों की संख्या ३५ लाख से ऊपर है। यहाँ की साहित्यिक भाषा ब्रज ही रही।

३. मेवाती—यह राजस्थान के उत्तरी भाग की बोली है। इस बोली के क्षेत्र में अलवर तथा गुड़गाँव के समीप का कुछ भाग आ जाता है। इसका दूसरा रूप अहीरवाटी भी मिलता है। जिस पर बाँगरू का पूर्ण प्रभाव है। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग २० लाख है।

४. मालवी—यह दक्षिण राजस्थान की बोली है। इसका प्रदेश मालवा प्रान्त है जिसमें उज्जैन, इन्दौर नीमच के जिले आते हैं। ५० लाख से अधिक मनुष्य इसको बोलते हैं।

पहाड़ी—इसके तीन रूप हैं—(१) पश्चिमी, (२) पूर्वी, (३) मध्य केन्द्रवर्ती।

पश्चिमी पहाड़ी—वस्तुतः यह कोई एक बोली नहीं है, किन्तु शिमला के आस-पास के भागों में बोली जाने वाली कई पहाड़ी बोलियों का सामूहिक रूप है। पहाड़ी प्रदेश होने के कारण यहाँ पर बोली थोड़ी-थोड़ी दूर पर बदल जाती है। लगभग यहाँ कुल ३० बोलियाँ पाई जाती हैं। जिनमें जौनसारी, चंबाली, कुलुई क्योंथली आदि प्रसिद्ध हैं।

पूर्वी पहाड़ी—यह नैपाल राज्य की बोली है, इसी कारण इसे नैपाली भी कहा जाता है। इसके परवतिया और खसकुरा दो नाम और हैं। यह नागरी लिपि में लिखी जाती है। इसका साहित्य सर्वथा आधुनिक है।

केन्द्रवर्ती पहाड़ी—यह गढ़वाल और कुमायुँ के जिलों में बोली जाती है इसकी दो बोलियाँ हैं—गढ़वाली और कुमाँउनी। इस भाषा में कुछ पुस्तकें थोड़े दिन हुए लिखी गई हैं, किन्तु कोई उल्लेखनीय साहित्य नहीं है।

पाश्चात्य विद्वान् ग्रियर्सन के अनुसार हिन्दुस्तानी शब्द यूरोप की देन है, यथा—"The word Hindustani was coined under European influence and means the language of Hindustan."

किन्तु यह तथ्य युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि हिन्दुस्तानी मुख्य रूप में गंगा के ऊपर दुआब की भाषा है। इस भाषा के साहित्य पर फारसी का अधिक प्रभाव है अपेक्षाकृत संस्कृत के। वास्तव में हिन्दुस्तानी उर्दू का ही मिलता-जुलता रूप है और संस्कृतनिष्ठ हिन्दी से सर्वथा भिन्न है। अतः कहा जा सकता है कि उर्दू हिन्दुस्तानी की वह शैली है जिसमें फारसी शब्द अधिक मात्रा में प्रयुक्त होते हैं और जो फारसी लिपि में लिखी जाती है। हिन्दी हिन्दुस्तानी की वह शैली है जिसमें संस्कृत शब्दों का प्राचुर्य है तथा देवनागरी लिपि में लिखी जाती है। अतः स्पष्ट है कि हिन्दी हिन्दुस्तानी से भिन्न है। इस हिन्दी का विकास किस प्रकार हुआ इसका निम्न विवेचन करते हैं—

ग्रीक लोगों ने सिन्धु नदी को 'इन्दोस' तथा यहां के निवासियों को "इन्दोई" और प्रदेश को 'इण्डिका' नाम से पुकारा, यही लैटिन में आगे चलकर इण्डिया हुआ। पहले यह शब्द पश्चिमोत्तर प्रदेश का ही द्योतक था, किन्तु बाद में सम्पूर्ण देश के लिए प्रयुक्त हुआ। भाषा के अर्थ में हिन्दी के अतिरिक्त हिन्दुई, हिन्दवी, हिन्दुस्तानी, खड़ी बोली आदि का भी प्रयोग हुआ। हिन्दी का केन्द्र आर्यावर्त्त (गंगा-यमुना का मध्यवर्ती प्रदेश है) अतः स्वामी दयानन्द ने इसको आर्य भाषा के नाम से अभिहित किया। हिन्दुई, हिन्दवी अथवा हिन्दी पं० चन्द्रबली के अनुसार शिष्ट हिन्दू तथा मुसलमानों की भाषा थी। इंशाअल्लाखां की 'रानी केतकी की कहानी' की यही भाषा थी। श्री मुकुल जी के अनुसार हिन्दी का हिन्दुस्तानी नाम ईरानियों और तुर्कों के साथ १५ वीं १६ वीं शताब्दी में यहां आ चुका था। इसकी पुष्टि हाब्सन जाब्सन ने की है और इसे एक गंवारू भाषा माना है। १६वीं शताब्दी में प्रायः "हिन्दुस्तानी" शब्द उर्दू का वाचक बन गया था। इसका उर्दू अर्थ प्रचलित करने मे एंग्लो इंडियन तथा यूरोप के लोगों का बहुत हाथ था और 'लिंग्विस्टिक सर्वे' के समय तक हिन्दी और उर्दू में पर्याप्त अन्तर हो चुका था। ग्रियर्सन ने हिन्दुस्तानी उर्दू तथा हिन्दी के सम्बन्ध में श्री ग्राउस की विचारधारा को ही मानकर संतोष कर लिया। इनके विषय में छानबीन करने का कष्ट नहीं किया कि वास्तविकता क्या है।

हिन्दी का ऐतिहासिक विकास प्राचीन काल में हम पाली, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में पाते हैं। पाली भाषा में बौद्ध साहित्य मिलता है। अशोक के शिला लेख भी इसी भाषा में प्रायः पाए जाते हैं। समयानुसार भाषा में परिवर्तन हुआ और प्राकृत भाषाओं का काल आया। इन जनसाधारण की भाषाओं को साहित्यिक रूप दिया। इनका साहित्यिक रूप व्याकरणसम्पन्न था। अतः लोकभाषा से इस साहित्यिक भाषा में बहुत अन्तर हो गया। इसके मुख्य तीन रूप थे। शौरसेनी प्राकृत, मागधी-प्राकृत तथा महाराष्ट्री-प्राकृत। साहित्य में प्रयोग होने के कारण व्याकरण के विद्वानों ने इन प्राकृत भाषाओं को व्याकरण के नियमों से पूर्ण रूप से जकड़ दिया, किन्तु जिन बोलियों पर ये आधारित थीं वे धीरे-धीरे विकसित होती

गयीं। इन लोकभाषाओं का नाम वैयाकरणो ने अपभ्रंश अर्थात् अशुद्ध भाषा का नाम दिया, परन्तु भाषा विज्ञान की दृष्टि से हम उनको अशुद्ध नहीं कह सकते हैं। उनको प्रगतिशील ही कहा जायेगा। कालान्तर में साहित्य में प्राकृत के स्थान पर उनका प्रयोग हुआ किन्तु इनका आधार साहित्यिक प्राकृत भाषा ही थी, उनमें थोड़ा सा परिवर्तन करके ही साहित्यिक अपभ्रंश बना लिया था। लोगों की शुद्ध अपभ्रंश बोलियों में रचना नहीं हुई थी। प्रत्येक प्राकृत की अपनी-२ अलग-२ अपभ्रंश भाषाएँ बन गई थीं।

आधुनिक काल का प्रारम्भ १००० ई० से होता है। हिन्दी भाषा का विकास अपभ्रंश से हुआ है और हिन्दी की आधुनिक सभी उपभाषाओं की उत्पत्ति शौरसेनी अपभ्रंश तथा अर्द्ध मागधी अपभ्रंश से हुई। हिन्दी भाषा के क्रमिक विकास के समय को हम प्रमुखतया तीन विभिन्न कालों में विभक्त कर सकते है।

(१) प्रथम अवस्था (सं १०५०—१३७५)।

(२) द्वितीय अवस्था (१३७५—१७००)।

(३) तृतीय अवस्था (१७००—१६००) तथा चौथी या अर्वाचीन अवस्था १६०० सं० के बाद।

प्रथम अवस्था—इस काल में हिन्दी का पूर्ण विकास नहीं हुआ था। वह अपभ्रंश से अधिक प्रभावित थी जैसा कि हमको हेमचन्द्र की कविताओं में मिलता है—

भल्ला हुआ जो मारिया बहिणि महारा कन्तु।
लज्जेजं तु वयंसि अह जइ भग्गा घर अंतु॥

यह दोहा पूर्ण रूप से अपभ्रंश का ही है किन्तु हिन्दी के सर्वप्रथम कवि चन्दबरदाई की काव्य रचना का एक उदाहरण लीजिए—

ताड़ी खुल्लिय ब्रह्म दिक्खि इक असुर अदब्भुत।
दिग्घ देह चख सीस मुप्प करना जस जप्पत॥

इस दोहे की भाषा पूर्णतया हिन्दी नहीं है, उस पर अपभ्रंश का अधिक प्रभाव है और हेमचन्द्र के दोहे की भाषा से कुछ मिलती जुलती है। यद्यपि उसमें पूर्ण समानता नहीं है। ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य काल में राजा भोज का भतीजा मुंज-श्रेष्ठ योद्धा होने के साथ-साथ अच्छा कवि भी था। जिस समय वह कल्याण के राजा तैलप के कारागार में था, उसका उस राजा की पुत्री 'मृणालवती के साथ प्रेम उत्पन्न हो गया और मुज ने वहाँ से भागने की चेष्टा की किन्तु मृणालवती ने उसके साथ धोखा किया और उसके इस कुचक्र का भेद भी स्पष्ट कर दिया- जिसके फलस्वरूप मुंज पर और अधिक निगरानी होने लगी तब मुंज ने ऐसी अवस्था में निम्नांकित दोहों की रचना की थी—

जामति पच्छई संपज्जइ सा मति पहिली होइ।
मुंज भणइ मुणालवइ विघन न वेढ़इ कोइ॥
सायर खाईलंकगढ़ गढ़वई दसमिरि राउ।
भगक्खय सो भज्जि गये मुंज मर्राह विसाउ॥

इन दोहों की भाषा भी अपभ्रंश से प्रभावित है, किन्तु हिन्दी के अधिक निकट है। इनको साहित्यिक भाषा होने के कारण संपज्जइ, सायर, मुणालवई या विसाउ ऐसे शब्द हैं जो तत्कालीन लोकभाषा में व्यवहार में नहीं लाये जा रहे थे। इस प्रकार हेमचन्द्र के समय से ही हिन्दी का प्रारम्भिक काल स्वीकार करते हैं क्योंकि उनके समय तक हिन्दी भाषा का किंचित रूप नियत हो चुका था। इससे पूर्व हिन्दी का विकास अवश्य होने लगा था, किन्तु उसका कोई रूप स्थिर नहीं हो सका। चन्दवरदाई का रचित 'पृथ्वीराज रासो' हिन्दी भाषा के तत्कालीन रूप का प्रमाण है। यद्यपि उसमें कुछ अंश ऐसे अवश्य हैं जिसमें प्राचीनता की झलक स्पष्ट नहीं होती है, किन्तु उनको हम प्रक्षिप्त ही मान सकते हैं।

हिन्दी के उत्पत्ति काल के पूर्व ही विदेशियों का आना प्रारम्भ हो गया था। मुसलमान शासकों ने हिन्दू राजाओं पर आक्रमण किये और उनको युद्ध में पराजित कर भारत के उत्तर-पश्चिम के कुछ भागों में अपना प्रभुत्व स्थापित किया। इसी संकटकालीन परिस्थिति में हिन्दी के विकास में बहुत अधिक रुकावट पहुँची क्योंकि उस समय जनता का ध्यान अपनी रक्षा की ओर गया। वह किसी भी प्रकार मुसलमानों के अत्याचारों और आक्रमणों से अपने धर्म के, प्राणों की रक्षा चाहती थी। काव्य-कला की वृद्धि की उसे कोई चिन्ता न थी। ऐसे समय में उन्हीं साहित्यकारों की आवश्यकता थी जो स्वयं युद्धस्थल में डट सकें और जनता को रणभूमि में अपनी काव्य-कला के द्वारा प्रोत्साहित कर सकें। चन्द्र तथा जगनिक इसी प्रकार के कवि थे। इनके बाद कोई विशेष कवि नहीं हुआ जो हिन्दी की बागडोर को अपने हाथ में लेता। इस काल में अधिकतर वीररस की ही रचना हुई, इस काल की भाषा के दो रूप हमारे सामने प्रस्तुत होते हैं—पहला राजस्थानी से मिलता-जुलता था जो विशेषकर चारणों की थी, इसे डिंगल का नाम दिया गया। दूसरी भाषा साधारणतया वह साहित्यिक भाषा थी जिसे हम पुरानी ब्रजभाषा से प्रभावित कह सकते हैं। इसमें पंजाबी का भी कुछ मेल था। इसका नाम पिंगल पड़ा था। 'पृथ्वीराज रासो' की यही भाषा है और हिन्दी भाषा का तारतम्य इसी भाषा से क्रमशः विकास को प्राप्त हुआ, इसे हम हिन्दी का आदिकाल कह सकते हैं।

द्वितीय अवस्था (१२७५-१७००)

इस दशा में हिन्दी ने प्राचीन अपभ्रंशों से पूर्णतया विकसित होकर ब्रज तथा अवधी का रूप धारण किया। इन प्राचीन बोलियों ने किस प्रकार इस नवीन रूप को प्राप्त किया इसके क्रमिक विकास का पूर्णतया विवेचन करना असम्भव है। यह

बात मालूम है कि इन बोलियों को साहित्यिक हिन्दी का रूप धारण करने मे चिरकाल तक विभिन्न प्रकार के परिवर्तनों का सामना करना पड़ा होगा। मध्यकाल में भी मुसलमानों के अत्याचारों के कारण हिन्दू समाज में शान्ति नहीं थी। हिन्दू जनता की धर्म और संस्कृति को मुसलमान शासक आघात पहुँचा रहे थे और अपनी प्राचीन संस्कृति और धर्म पर से उसका विश्वास धीरे-धीरे उठा जा रहा था। ऐसी संक्रामिक परिस्थिति में कबीर, तुलसी, सूर, जायसी, नामदेव आदि संतों ने हिन्दू जनता के त्राण के लिए इस कठोर भूमि में पदार्पण किया और अपने धार्मिक आन्दोलनों व उपदेशों को साधारण जनता में फैलाने के लिए जन-सामान्य की भाषा को ही स्वीकार किया। उसी में उन्होंने अपनी विचारधारा को अभिव्यक्त किया जिसको जनता ने सहर्ष होकर अपनाया और उसको इस संकटकालीन अवस्था मे आश्रय मिला। उनके उपदेशों पर चलकर वह अपनी धर्म और संस्कृति को रक्षा कर सकें, परन्तु उनकी काव्य भाषा अलंकार अथवा गुणों से युक्त न थी और न किसी एक विशेष शुद्ध बोली पर ही आधारित थी। उसमे ब्रज, अवधी, पंजाबी, खड़ी सभी का मिश्रित रूप था। इस प्रकार की भाषा कबीर आदि निर्गुण धारा के मानने वाले सन्तों की ही थी। इनकी भाषा को हम सधुक्कड़ी भाषा का नाम दे सकते हैं, किन्तु जायसी आदि प्रेममार्गी सन्तो की भाषा अवधी थी। यद्यपि हम उसमें शुद्ध साहित्यिक अवधी का रूप नहीं पाते हैं। शुद्ध रूप तुलसी की काव्य-कला मे ही मिलता है। तुलसी का अधिकार ब्रज भाषा पर भी था। उनकी रचना इन दोनों भाषाओं मे हुई। तुलसी ने अवधी को प्रौढ़ता प्रदान की और संस्कृत के योग से उसको परिमार्जित और प्राञ्जल बनाकर साहित्यिक भाषा का गौरव प्रदान किया। ब्रजभाषा प्राचीन साहित्यिक भाषा का विकसित रूप है। 'पृथ्वीराज रासो' मे इसका बहुत कुछ स्वरूप हमें देखने को मिलता है, किन्तु कृष्ण भक्ति शाखा के कवियों ने इसकी उन्नति को चरमसीमा तक पहुँचा दिया। स्वामी वल्लभाचार्य ने इस भाषा को अधिक प्रोत्साहन दिया उनके शिष्य कवियों की रचना शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा में हुई। इनमें अष्ट कवि मुख्य थे जिनको अष्टछाप का नाम दिया गया। तुलसीदास की रचना में जिस प्रकार अवधी ने प्रौढ़ता प्राप्त की उसी प्रकार अष्टछाप के कवियों की पदावली में ब्रजभाषा पूर्णतया विकसित हुई, परन्तु उसमें विदेशी शासन के कारण यत्र-तत्र फारसी के शब्दों का भी प्रयोग मिलता है।

तृतीय अवस्था (१७००-१६००)

यह हिन्दी के विकास की तृतीय अवस्था का काल है। इस काल में ब्रजभाषा की शुद्धता का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ और साहित्य में विशुद्ध ब्रजभाषा का प्रचलन हुआ। इस काल की सबसे बड़ी विशेषता ब्रजभाषा का विशुद्ध प्रयोग ही है। इस विशुद्धता के प्रतिनिधि पंडित श्रीधर पाठक, बिहारी, देव, घनानंद, बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर आदि बताए जा सकते हैं। प्राचीन तथा मध्य काल की रचनाओं में यत्र-तत्र खड़ी बोली के रूप भी मिलते हैं। यह बात अवश्य है कि खड़ी बोली ब्रज और

अवधी के समान इतना शीघ्र साहित्यिक भाषा के पद को प्राप्त नहीं कर सकी, परन्तु वह अपने अस्तित्व का परिचय अवश्य देती रही। नामदेव का जन्म सं० १३२७ में हुआ था, किन्तु उनके काव्य में खड़ी बोली लक्षित होती रही --

पांडे तुम्हारी गायत्री लोधे का खेत खाती थी।
लैकरि ठेंगा टंगरी तोरी, लंगत लंगत जाती थी॥

इसके अनन्तर कबीर, भूषण आदि कवियों के ग्रन्थों में भी हम इसके दर्शन करते हैं। यद्यपि उस समय इस खड़ी बोली का प्रयोग हिन्दू कवि और लेखक साहित्य में विशेष नहीं करते थे क्योंकि यह मुसलमानी बोली समझी जाती थी, मुसलमान कवियों ने इसमें काव्य-रचना भी की। मीर, खुसरो, इन्शाअल्ला खाँ, गालिब आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। हिन्दू कवियों की रचनायें भी खड़ी बोली में हैं। गंग भाट, मुंशी सदासुखलाल तथा लल्लूलाल जी आदि इसमें प्रमुख हैं। सीतल कवि ने १७८० ई० में खड़ी बोली में बड़ी ही सुन्दर रचना की है, वह माधुर्य से व्याप्त है --

"चंदन की चौकी चारु पड़ी सोता था सब गुन जुटा हुआ।
चौकें की चमक अधर बिहँसन मानो एक दाड़िम फूटा हुआ॥
ऐसे में ग्रहन समै 'सीतल' एक ख्याल बड़ा अट-पटा हुआ।
भूतल ते नभ-नभ ते अवनी अंग उछलै नट का बटा हुआ।"

खड़ी बोली का रूप थोड़ा बहुत प्राचीन काल से ही चला आ रहा था, किन्तु साहित्य में इसका अधिक आदर नहीं हुआ था। मध्यकाल में भी खड़ी बोली में माधुर्य का अभाव होने के कारण ब्रजभाषा के समक्ष साहित्यिक भाषा के पद को प्राप्त न कर सकी थी, किन्तु क्रमशः इसके उत्तरार्ध में साहित्य की भाषा में ब्रज तथा अवधी का प्रचार कम होता गया और खड़ी बोली का प्रसार अग्रसर होता गया।

चौथी अवस्था (सं० १९००)

हिन्दी के विकास की चौथी अवस्था सं० १९०० से आरम्भ होती है। इस समय हिन्दी का विकास नियमित रूप से हुआ और गद्य-पद्य दोनों की रचनायें खड़ी बोली में होने लगीं। आधुनिक हिन्दी खड़ी बोली के आचार्य इसकी शुद्धता की ओर अधिक झुके और खड़ी बोली के साथ किसी विदेशी भाषा, जैसे-- फारसी आदि का संयोग नहीं चाहते थे। उन्होंने इसमें शुद्ध संस्कृत तत्सम शब्दों को ही स्थान दिया। स्वतन्त्रता से पूर्व राष्ट्रीय आन्दोलनों में हिन्दू-मुसलमानों के संपर्क के कारण भाषा में कुछ विकार उत्पन्न हुआ और फारसी उर्दू के साथ इसका मिश्रण हुआ। इसी भाषा मिश्रित भाषा को हिन्दुस्तानी नाम से विभूषित किया गया है। साहित्य के क्षेत्र में खड़ी बोली हिन्दी के व्यापक प्रभाव के रहते हुए भी हिन्दी की अन्य ग्रामीण बोलियाँ अपने-अपने क्षेत्रों में आज भी पूर्ण रूप से जीवित हैं। मध्य देश के ग्रामों में अब भी बोल-चाल की भाषा में अवधी, ब्रज, कन्नौजी, बुंदेली, भोजपुरी व्यवहार में है। यद्यपि गांव की इन बोलियों में धीरे-धीरे परिवर्तन हो रहा

और प्राचीन सूर, तुलसी की ब्रज और अवधी भाषा आज की ब्रज और अवधी [illegible] भिन्नता को प्राप्त कर चुकी है। यद्यपि वह भेद अभी अधिक मात्रा में नहीं [illegible]। वर्तमान युग में मैथलिशरण गुप्त, हरिऔध, प्रसाद, पंत आदि की काव्य-रचना [illegible] रूप से संस्कृत प्रधान है। उदाहरण के लिए हरिऔध का एक पद लीजिए—

रूपोद्यान प्रफुल्लप्राय कलिका, राकेन्दु बिम्बानना,
तन्वंगी कलहासिनी सुरसिका, क्रीड़ाकला पुत्तली।
शोभा वारिधि की अमूल्य मणि सी लावण्य लीलामयी,
श्री राधा मृदुहासिनी मृगदृगी माधुर्य की सन्मूर्ति थी॥

[illegible] इसमें संयोजक और विभक्ति अथवा क्रिया से ही यह पता चलता है कि यह [illegible] हिन्दी की है।

हिन्दी भाषा के इतिहास से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जब बोलचाल की भाषा ने एक ओर साहित्यिक रूप धारण किया, तब दूसरी ओर बोलचाल की भाषा ने परिवर्तित होकर दूसरा नया रूप धारण किया, फिर उसके भी साहित्यिक [illegible] धारण करने पर बोलचाल की भाषा तीसरे रूप में चल पड़ी। यह सहस्रों वर्षों [illegible] चला आ रहा है और कोई विशेष कारण प्रतीत नहीं होता।

हिन्दी भाषा का शब्द समूह—प्रायः यह देखा जाता है कि संसार की कोई भी भाषा ऐसी नहीं है जिसकी शब्दावली पूर्ण रूप से विशुद्ध हो। उसमें उस भाषा की पूर्वजाओं के तथा अन्य भाषाओं के शब्द थोड़े बहुत अवश्य ही पाए जाते हैं। इस विभिन्न शब्दावली के होने का प्रमुख कारण व्यक्ति का समाज सापेक्ष होना है। भाषा व्यक्ति के विचार विनिमय का साधन है। अतः भाषा के द्वारा ही मानव अपने विचारों को समाज में देश विदेश में प्रकट करता है और ऐसा करने से एक दूसरे की भाषा का संपर्क होता है, वह उसे सीखता है। इस प्रकार प्रत्येक भाषा के शब्द समूह में दूसरी भाषाओं के शब्दों का आना अवश्यम्भावी है। जिन जातियों अथवा देशों की भाषाओं में इस प्रकार का शब्द समूह अधिक पाया जाता है और सामान्यतया बोलचाल की भाषा की शब्दावली सर्वदा मिश्रित ही होती है, उसकी विशुद्धता का रूप हमको साहित्य में ही देखने को मिलता है। हिन्दी की शब्दावली में भी अन्य भाषाओं के समान "सर्व संग्रहः कर्तव्यः कः काले फलदायकः" की लोकोक्ति चरितार्थ होती है। उसमें भी अनेक जीवित और मृत भाषाओं के शब्दों का संग्रह है। प्रमुखतया हिन्दी के शब्द समूह को हम ५ भागों में विभाजित कर सकते हैं—

१. तत्सम।
२. तद्भव।
३. अर्ध तत्सम।
४. अन्य परिवारों की भाषाओं के शब्द।
५. विदेशी भाषाओं के शब्द।

(१) तत्सम—तत्सम से तात्पर्य है तत्=संस्कृत, सम=समान, संस्कृत के समान ही रूपों का ग्रहण करना अर्थात् अपने शुद्ध रूप में ही आना। इस प्रकार के शब्द सीधे संस्कृत से आये हैं, उनको तत्सम शब्द कहते हैं। हमारी आधुनिक साहित्यिक भाषा में ऐसे शब्दों के प्रयोग में प्रचुरता है। इनकी अभिव्यक्ति के मूल में [illegible] विराजमान रहती है। उदाहरण के लिए हम कुछ शब्दों को देते हैं, जैसे प्रहार, श्रेष्ठ, तिरस्कार, अभिभूत, तीक्ष्ण, आम्र, कदम्ब, राम, कुशाग्र बुद्धि, लावण्य, मनोरम सौंदर्य, मृग, वस्तु, दण्ड, पुस्तक आदि।

(२) तद्भव—तद्भव का अर्थ है तत्=संस्कृत, भव=उत्पत्ति, अतः संस्कृत से उत्पन्न हुए शब्द जो हिन्दी में आये है उनको तद्भव कहते हैं। जो संस्कृत के शब्द हिन्दी में सीधे न आकर प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं से आए हैं इस प्रकार के शब्द व्यवहार की भाषा में अधिक मिलते हैं। शिष्ट व्यक्तियों की भाषा में इनका प्रयोग ग्रामीण समझा जाता है, किन्तु भाषा विज्ञान की दृष्टि से विकसित रूप यही माने जायेंगे। जैसे सर्प की अपेक्षा साँप शब्द हिन्दी का विकसित रूप है। अन्य शब्दों के उदाहरण नीचे देते हैं—कृष्ण=कान्हा, कन्हैया, भ्रू=भौंह, वत्स=बच्चा, कार्य=काज, पुस्तक=पोथी, रात्रि=रात, अक्षर=आखर, आँक, उष्ट्र=ऊँट, ब्राह्मण=बाम्हन, जिह्वा=जीभ आदि।

(३) **अर्ध तत्सम**—अर्ध तत्सम संस्कृत से आए हुए वे शब्द हैं जो संस्कृत के होते हुए भी प्राचीन काल में (प्राकृत भाषा काल) प्राकृत भाषा में वर्ण परिवर्तन करने के कारण अपने शुद्ध रूप से कुछ भिन्न हो गये थे और अपने इसी रूप में हिन्दी मे प्रयुक्त होने लगे हैं यथा अगनि, बच्छ, अच्छर, किरपा, कारज, आग्या, स्वामी सामी आदि।

(४) **स्वदेशीय भाषाओं तथा अन्य परिवारों की भाषाओं के शब्द**—इस प्रकार के शब्दों की संख्या हिन्दी में बहुत न्यून है। प्राचीन काल में जो शब्द प्राकृत भाषाओं में द्राविड़, तामिल, तेलगू आदि मुंडा परिवार की भाषाओं के संयोग से आ गए थे, वे ही शब्द हिन्दी में भी परम्परागत प्राप्त हुए, परन्तु हिन्दी में आकर इन शब्दों के अर्थ गिर गये हैं, जैसे द्राविड़ 'पिल्लै' शब्द का अर्थ पुत्र होता है किन्तु हिन्दी में उसका प्रयोग कुत्ते के बच्चे के लिए होता है। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं से आए हुए शब्दों की संख्या भी हिन्दी में विशेष नहीं है, 'बंगला-उपन्यास', मराठी, चलनू आदि।

(५) **विदेशी भाषाओं के शब्द**—एक भाषा का जब दूसरी भाषा के साथ संसर्ग होता है तब उसका दूसरी पर प्रभाव अवश्य पड़ता है। इसमें अधिकतर ऐसा देखा जाता है कि विजयी जाति की भाषा का विजित जाति की भाषा पर अधिक प्रभाव पड़ता है। ऐसी परिस्थिति में हमारे देश को मुसलमानों तथा अंग्रेजों ने क्रमशः जीता, और उसकी जनता पर शासन किया। अतः इनके भाषाओं के शब्दों

ा आ जाना अत्यन्त ही स्वाभाविक है इस प्रकार के आए हुए शब्दों को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) मुसलमानी प्रभाव।

(२) अंग्रेजों का प्रभाव।

मुसलमानी शासन के कारण हिन्दी में फारसी, अरबी, तुर्की तथा पश्तो के शब्द आए और अँग्रेजी शासन तथा अन्य यूरोपीय देशवासियों के व्यापार के कारण हिन्दी में फ्रान्सीसी अँग्रेजी तथा पुर्तगाली भाषाओं के शब्द मिलते हैं। अपेक्षाकृत अन्य यूरोपीय भाषाओं के हिन्दी में अँग्रेजी भाषा की शब्दावली अधिक है। इन उपर्युक्त भाषाओं के शब्द हिन्दी में अपने विशुद्ध रूप में न आकर कुछ परिवर्तन के साथ आए हैं और इस प्रकार रूपान्तर करके उन्हें हिन्दी में ले लिया है। इन विदेशी भाषाओं से सम्प्राप्त शब्दों का निर्देश हम पृथक रूप से करते हैं। फारसी से आए हुए शब्द—

अमीर, औलाद, खिताब, पेशा, फरियादी, मुल्ला, शरीयत, तकिया, कायदा, कारखाना, इजाफा, आइना, अस्तुरा, शहीद, फरिश्ता, औलिया, इमान, इसलाम, मजलिस, शायर, शायरी, दफ्तरी दौलत, रसद, रिसाला, वजीर, बहादुर, अंदर, आवाज, खबर, खुराक, नमूना, नरम, मजबूत, बेवकूफ, दफ्ता, हजार, हजूम, हाकिम, हुक्काम, जुलाब, लापता, खत, तरजुमा, दवात, तसवीर, इल्लत, निहायत, नशा, नालिश, सुलहनामा आदि।

पश्तो—पठान (पश्तस्) रोहिला (रोह)=(पहाड़)

तुर्की—आगा, उजबक, उर्दू, कैंची, दरोगा, काबू, कुली, कोतका (ठेंगा) गलीचा (कलीचा) चकमक (चक्मक) चाकू=चाकू चिक फारसी चिग तुर्की चिक, तकमा (तमगा) तुपक, तोप, तुरुक (तुर्क), मुचलका, काश, सौगात आदि। अरबी के शब्द हिन्दी में फारसी के माध्यम से ही आये हैं।

अंग्रेजी—इंच, इंसपेक्टर, अप्रैल, अफसर, अस्पताल, अमरीका, नवम्बर, अपील, रपट, कलक्टर, कमीशन, कंपनी, बूट, पालिश, टायर, साइकिल, मोटर, रेल, नोटिस, दर्जन, जर्मनी, थर्मामीटर, होल्डर, कैरियर, टिफिन-कैरियर, टेबिल, बल्ब, बिल, रंगरूट, मजिस्ट्रेट, टिकिट, केतली, डेक्स, ग्लास, डिग्री, इन्टर, कालेज आदि।

पुर्तगाल शब्द—अल्मारी, कमरा, मारतौल, नीलाम, अचार, आल्पीन, आया, कमीज, गोभी, गारद, गमला, पिस्तौल, पादरी, गिर्जा आदि।

फ्रान्सीसी—कूपन, कारतूस, अंग्रेज, फ्रान्सीसी आदि।

डच—तुरूप, बम (गाड़ी का) समूह।

उपर्युक्त के अतिरिक्त हिन्दी शब्द समूह में ऐसे भी शब्द देखे जाते हैं जिनको हम ऊपर वर्णित किसी भी श्रेणी में नहीं रख सकते हैं, इनका संक्षिप्त दिग्दर्शन हम नीचे कराते हैं—

(६) तत्समाभास—कुछ शब्द ऐसे हैं जो तत्सम नहीं हैं किन्तु उनको तत्सम की श्रेणी में रक्खा जाता है यदि उनको तत्समाभास कहा जाय तो अधिक [illegible] होगा जैसे श्राप, अग्र, [illegible], अभिलाषा, गुंजन, [illegible], [illegible], [illegible] राष्ट्रीयादि ।

(७) तद्भवाभास—कुछ शब्द ऐसे हैं जिनको तद्भव या तत्सम नहीं कहा जा सकता है, जैसे संस्कृत शब्द मातृ से हिन्दी में स्त्रीलिंग को बनाने [illegible] प्रत्यय को लगाने से मौसी शब्द बनता है जो तद्भव है, किन्तु मौसी शब्द से बना हुआ पुल्लिंग शब्द मौसा उपर्युक्त किसी भी श्रेणी की शब्दावली में नहीं आता । अतः ऐसे शब्दों को अर्धतद्भव या तद्भवाभास कह सकते हैं ।

(८) प्रतिध्वन्यात्मक—कुछ इस प्रकार के शब्द हैं जिनकी समानता अथवा सम्बन्ध दिखाने के लिए उनकी आंशिक पुनरावृत्ति कर दी जाती है, जैसे [illegible] गागर-सागर, चना-सना, लोटा-सोटा, खाना-वाना, [illegible], [illegible], [illegible] पानी-आनी आदि । हिन्दी के इस प्रकार के शब्दों पर बहुत कुछ द्रविड़ भाषाओं का ही प्रभाव है ।

(९) द्विज—इस प्रकार के शब्दों की सृष्टि दो भाषाओं के शब्दों के मेल से होती है, जैसे रेलगाड़ी, कौंसिल, निर्वाचन, इकबाल नारायण, [illegible], ग्राम सभा, नरेन्द्रबहादुर, गुरुडम, अजिल्द, सजिल्द आदि ।

(१०) अनुकरणात्मक—मिमियाना, हिनहिनाना, फड़फड़ाना आदि ।

देशज—टंटा, खुटका, ठेठ, तेंदुआ, ठेस, टेंट, [illegible], [illegible], [illegible] ।

दृश्यात्मक—जगमग, नग-मग, झिलमिल आदि ।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हिन्दी के शब्द-सागर में प्राचीन आर्य भाषाओं के आये हुए शब्द, अनार्य भाषाओं के आए हुए शब्द, विदेशीय भाषाओं के आए हुए शब्दों के अतिरिक्त देशज, ध्वन्यात्मक, अनुकरणात्मक, तत्समाभास आदि प्रकार के शब्द मिलते हैं परन्तु विशेष तौर पर हिन्दी में तद्भव शब्दों की संख्या अधिक है । तद्भव शब्दों का प्रयोग नित्य प्रति व्यवहार की भाषा में अधिक होता है और साहित्य में उसकी अपेक्षा कम, उसके विपरीत तत्सम शब्दों का प्रयोग साहित्य में अधिक और बोलचाल की भाषा में कम होता है ।

द्वादश उल्लास

लिपि का उद्भव एवं विकास

भारतीय लिपियाँ

देवनागरी लिपि और उसकी विशिष्टता।

लिपि की उत्पत्ति एवं विकास—

प्रारम्भ में भाषा की उत्पत्ति किस प्रकार हुई और मानव ने उसे कैसे सीखा। जितना यह दिलचस्प विषय है, उतना ही मानव ने लिखना कैसे सीखा यह भी है। भाषा के द्वारा मनुष्य अपने भावों को कहकर स्पष्ट करता है और लिपि के द्वारा लिखकर। अतः भाषा और लिपि का शाश्वत सम्बन्ध है, लिपि की उत्पत्ति के विषय में धार्मिक विचारकों का तो कहना है कि जिस प्रकार भाषा की दैवी उत्पत्ति है, उसी प्रकार लिपि भी ईश्वर की बनाई हुई है और अपने देश की ब्राह्मी लिपि से यही सिद्ध होता है कि यह ब्रह्मा की बनायी हुई है, किन्तु यह धारणा भ्रामक है और भाषा की उत्पत्ति की भाँति ही इस लिपि की उत्पत्ति भी विकास द्वारा ही हुई। इसकी उत्पत्ति के मूल में विचारों की अभिव्यक्ति ही है। सर्वप्रथम मानव ने अपने निकट की वस्तुओं के प्रति प्रेम-भाव व्यक्त करने के लिये उन्हें गुफाओं पर पाषाणों पर चित्रित किया होगा। इस प्रकार लिखने की कला का सर्वप्रथम स्वरूप चित्र लिपि है। इसके द्वारा किसी वस्तु का बोध कराने के लिए चित्र बनाया जाता रहा होगा। इन चित्रों को देखकर ही उसका भाव समझ लिया जाता होगा। इस प्रकार चित्रलिपि के द्वारा उसका अर्थ-बोध हो जाता था, किन्तु ध्वनि-बोध नहीं होता था। अतः जहाँ चित्र में मनुष्य किसी वास्तविक लक्ष्य को अंकित करता है, वहाँ चित्रलिपि में केवल अपने भावों की अभिव्यक्ति का ही मुख्य उद्देश्य रहता है। यह लिपि मिश्र, मेसोपोटामिया, फ्रान्स, स्पेन, क्रीटफोनेशिया आदि देशों में प्राप्त हुई है। प्राचीनकालीन मानव ने सर्वप्रथम इसी चित्रलिपि का प्रयोग किया होगा। इसके अतिरिक्त प्राचीन लिपियों में सूत्रलिपि भी आती है। इसमें सूत्र या रस्सी में किसी विशेष भाव को व्यक्त करने के लिए या स्मरण रखने के लिए गाँठ दे देते हैं और इसी कारण इसका नाम सूत्रलिपि हुआ। आज भी समाज में बातचीत करते समय किसी विशेष बात का स्मरण दिलाने के लिए अक्सर कह दिया जाता है कि कमीज, धोती, दुपट्टा, रुमाल आदि में गाँठ बाँध लो। वास्तव में देखा जाय तो यह लिपि नहीं है, किन्तु स्मरण रखने के लिए एक उपाय है।

लिपि का विकास—

संसार की सभी लिपियों का विकास चित्रलिपि से ही हुआ है। सर्वप्रथम विभिन्न वस्तुओं का बोध कराने के लिए चित्र बनाये गए। धीरे-धीरे उन्हीं वस्तुओं से सम्बन्धित अन्य वस्तुओं का भी उन्हीं चित्रों से बोध होने लगा, जैसे चन्द्रमा सूर्य के लिए एक गोला का चित्र बना और क्रमशः उन्हीं चित्रों से दिन रात्रि का बोध होने लगा। नेत्रों से गिरते हुए आँसू दिखाने से शोक भाव व्यक्त किया जाता था

और इस लिपि का प्राचीन असभ्य जातियों में किसी न किसी रूप में प्रयोग होता रहा, इसमें समुन्नत भावलिपि प्रयोग मे आने लगी। इसका प्रयोग लगभग ४००० ई० पू० बेबीलोन में हुआ था। सुमेरी जाति के मनुष्यों ने सर्वप्रथम इसका आविष्कार किया। यह लिपि चीनी लिपि या सिन्धु घाटी की मूल लिपि की भाँति चित्रात्मक थी, यह तिकोनी होती थी, ईंट और मिट्टी पर अंकित की जाती जाती थी। वास्तव में इसमें मानव के विभिन्न प्रकार के भावों का चित्रात्मक अंकन ही था। इस लिपि में चित्र वस्तुओं के प्रतिनिधि नहीं होते अपितु इन वस्तुओं से सम्बन्धित भावो के द्योतक होते है, जैसे किसी पशु का बोध कराने के लिए उसके सम्पूर्ण शरीर का चित्र नहीं बनाया जाता था, किन्तु उसके किसी एक अंग मात्र से ही अभिव्यक्ति हो जाती थी, जैसे प्रेम के लिए आलिगन दिखाना आदि। भाव लिपि के नमूने उत्तरी अमेरिका के आदि जातियों तथा मध्य अफ्रीका के हब्सी लोगों से प्राप्त हुए हैं। इसमें तिकोने चिन्ह होने के कारण इसका नाम तिकोनी लिपि या कीलाक्षर लिपि भी कहा गया है, यह लिपि विकसित होकर अर्ध अक्षरात्मक हो गयी। यह विकास की अवस्था हीरोग्लाफिक, सुमेरी, बेबीलोनी, असीरी, ईरानी, मितानी, एलामाइट और कस्साइट लिपियों में मिलती है। इस कीलाक्षर लिपि का दो भेदो में विकास हुआ—

(१) अक्षरात्मक (Syllabic.)
(२) वर्णात्मक (Alphabatic).

यहाँ हम विभिन्न लिपियों का संक्षिप्त विवरण देते हैं।

सिन्धु घाटी की लिपि—

यहाँ की लिपि भी संसार की प्राचीनतम लिपियों में से एक है। यहाँ जोदडो और हड़प्पा जिलों की खुदाई करने पर अनेक मुद्राऐं मिली हैं, इन पर विभिन्न प्रकार के चित्र अंकित हैं। अनेक भाषा-विज्ञान के विद्वानों ने उसे समझने का प्रयत्न किया, किन्तु वे इस कार्य में पूर्णतया असफल सिद्ध हुए। गैड तथा स्मिथ के अनुसार यहाँ की लिपि के प्रतीकों की संख्या ३९६ है, किन्तु कुछ विद्वानों के अनुसार २८८ या २५३ है। इस प्रकार इन प्रतीकों सहित यह लिपि पूर्ण रूप से न वर्णात्मक है और न अक्षरात्मक ही, यह विशुद्ध भावात्मक लिपि नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह भाव लिपि और ध्वन्यात्मक लिपि के संधि स्थल पर है। इस लिपि के उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में मतभेद है। श्री हेरास के अनुसार यहाँ की सभ्यता द्रविडो की थी और उन्हीं ने इस लिपि का आविष्कार किया होगा। श्री प्राणनाथ और वैडेल के अनुसार इस लिपि की उत्पत्ति सुमेरी लिपि से है। कुछ के अनुसार सिन्धु घाटी में पहले असुर रहते थे, उन्होंने इस लिपि का निर्माण किया होगा, कुछ भी हो इस विषय में निश्चय रूप से कुछ भी नहीं कहा सकता।

हित्ताइक लिपि—

इस लिपि का प्रयोग एशिया माइनर में १५०० ई० पू० से लगभग ६८ ई० पू० तक पाया जाता है। सर्वप्रथम यह लिपि चित्रात्मक ही थी, किन्तु बाद में क्रमश भावात्मक और ------ हो गयी, इसमें ४१९ चित्र मिलते हैं।

हीरोग्लाइफिक लिपि—

यह मिश्र की प्राचीनतम लिपि है जो कि ई० पू० ४००० वर्ष की है। पुरातन काल के कुछ मन्दिरों में खुदे हुए चित्र प्राप्त हुए हैं। इनको यहां के पवित्र अक्षर समझते थे। अतः इनका दूसरा नाम पवित्राक्षर लिपि भी है. प्रारम्भ में यह चित्रात्मक ही थी, बाद में ध्वन्यात्मक हुई, यह दायें से बायें लिखी जाती थी। इस लिपि का विकास डेमोटिक लिपि में हुआ जिसका काल सातवीं सदी ई० पू० माना जाता है. इस लिपि का प्रभाव क्रीट की प्राचीन लिपियों में मिलता है।

चीनी लिपि—

यह लिपि कब निर्मित हुई यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता है। चीन की लिपि के विषय में चीन के निवासियों में कहावत प्रचलित है कि [illegible] नाम के एक व्यक्ति ने लगभग ३२०० ई० पू० इस लिपि को बनाया था, किन्तु इसका विकास चित्रलिपि के रूप में ही हुआ। कुछ विद्वानों का विचार है कि हीरोग्लाइफिक एवं सिन्धु घाटी की लिपि से ही इसका विकास हुआ। कुछ भी हो इस लिपि में विकास के सभी रूप मिलते हैं, इसमें अनेक चिह्न मिलते हैं जो विभिन्न विषयों के बोधक होते हैं। इसकी इस चित्रलिपि का विकास भी भाव और ध्वन्यात्मक लिपि में हुआ। इस लिपि की यह विशेषता है कि ध्वनि संकेत के लिए लिखने में चिह्नों का दोहरा प्रयोग मिलता है क्योंकि चीनी में एक शब्द के अनेक अर्थ पाये जाते हैं यह संसार की वर्तमान सभी लिपियों में कठिन है क्योंकि इसमें लिपि चिह्नों की संख्या सबसे अधिक है लगभग ५०००० चिह्न है।

इस प्रकार हम देखते है कि सर्वप्रथम चित्रलिपि का विकास हुआ और यह क्रमशः भावलिपि एवं ध्वन्यात्मक लिपि में विकसित हुई। यह लिपि हम पहले लिख चुके हैं कि दो प्रकार की है—

(१) अक्षरात्मक।

(२) वर्णात्मक।

देवनागरी लिपि अक्षरात्मक है और रोमन लिपि वर्णात्मक है, जैसे RAMA (राम) शब्द में आर ए एम ए चारों वर्ण अलग-अलग हैं और अपनी चार ध्वनियाँ रखते हैं, किन्तु अक्षरात्मक लिपि (नागरी लिपि) में राम में दो वर्ण हैं, किन्तु ध्वनियाँ चार हैं र्+आ+म्+अ। अतः वैज्ञानिक दृष्टिकोण से वर्णात्मक अधिक विकसित हैं, संसार की प्राचीन ध्वनि-लिपियां निम्नांकित मुख्य हैं—

१. लैटिन लिपि।
२. आर्मेइक लिपि।
३. हिब्रू लिपि।
४. ग्रीक लिपि।
५. फोनेशियन लिपि।

६. दक्षिणा सामी लिपि ।

७. खरोष्ठी ।

८ अरबी एवं ब्राह्मी लिपि ।

इनका संक्षेप में वर्णन करते हैं—

लैटिन लिपि—

इस लिपि के सबसे प्राचीन लेख रोम के बर्तनों आदि पर खुदे हुए पाये जाते है। इसके प्राचीन लेख ४०० ई० पू० के है। इस लिपि का विकास ग्रीक लिपि से ही हुआ है, इस लिपि पर एत्रुस्की लिपि का भी प्रभाव है जो इटली में एक प्राचीन जाति की थी और उसी के नाम पर अपनी यह लिपि थी, इस प्रकार लैटिन लिपि की उत्पत्ति ग्रीक और एत्रुस्की के संयोग से हुई और बाद में यही रोमन लिपि कहलायी इसमें २६ वर्ण हैं।

आर्मेइक लिपि—

उत्तरी सीरिया में ८०० ई० पू० के लेख पाए गए हैं। यह लिपि ईसा की ४ सदी तक मिलती है, उत्तरी रोम की यह प्रमुख लिपि है।

हिब्रू लिपि—

यहूदियों की हिब्रू भाषा है। उनके प्राचीन धार्मिक ग्रन्थ इसी भाषा में मिलते है। इस लिपि का विकास आर्मेइक से ही हुआ। हिब्रू लिपि पहलवी से बहुत कुछ मिलती है।

ग्रीक लिपि—

इस लिपि में खुदे हुए लेख ई० से ९०० वर्ष पूर्व के पाये गये है। योरोप की सम्पूर्ण लिपियों का विकास इसी से हुआ है। इस लिपि की उत्पत्ति में विद्वानों की धारणा है कि ग्रीक निवासियों ने इस लिपि को फोनेशिया के व्यापारियों से सीखा। इस भाषा के 'अल्फा', 'बीटा', 'गामा', 'डेल्टा' शब्द वास्तव में सामी भाषा के अलेफ, बेथ, गिमेल और दालेथ के रूपान्तर हैं। ग्रीक लिपि के वर्णों के नाम भी सामी ही है। इसमें कुल २४ लिपि चिह्न हैं।

फोनेशियन लिपि—

ध्वनिमूलक लिपियों में सबसे प्राचीनतम लिपि फोनेशियन लिपि ही है। इसका विकास मिश्र की चित्रात्मक लिपि से हुआ, ऐसी विद्वानों की धारणा है।

दक्षिणी सामी लिपि—

इसकी उत्पत्ति भी मिश्री से मानी जाती है, इसमें कुल २२ अक्षर हैं। इसके कुछ खुदे हुए लेख ६०० ई० पू० के मिले हैं।

अरबी लिपि—

आर्मेइक लिपि से ही अरबी लिपि का विकास हुआ। इसके ५०० वर्ष ई० पू० के कुछ खुदे हुए लेख मिलते हैं। इसके मुख्य दो रूप हैं कूफी और नस्खी। अरबी में

कुल २७ वर्ण हैं, अरबी लिपि ही फारसी में व्यवहृत है। ४ ध्वनियाँ इसमें जोड़ गई है। उर्दू भी अरबी का विकास है।

खरोष्ठी लिपि—

ब्राह्मी लिपि के साथ-साथ भारत में खरोष्ठी लिपि का भी प्रचार था। यह पश्चिमोत्तर भारत की लिपि थी। अशोक के शिलालेख का अनुवाद इसी लिपि में ही प्राप्त हुआ। सामी लिपि की भाँति यह लिपि भी दोषपूर्ण है क्योंकि इसमें स्वरों की सुचारु रूप से व्यवस्था नहीं है और वे व्यंजनों पर ही आधारित हैं। इसके कई विभिन्न नाम मिलते हैं, जैसे—बैक्ट्रीय, आर्य, बैक्ट्री, पाली, काबुली। खरोष्ठी नाम इसका क्यों पड़ा, इसमें विद्वानों की विभिन्न राय हैं, कुछ का कहना है कि खर (गदहा) पृष्ठी (खाल) पर लिखे जाने के कारण इसका नाम खरोष्ठी पड़ा। दूसरा मत है कि यवन शब्द तथा तुखार दोनों की भाँति खरोष्ठ भी जाति वाचक शब्द ही था। उसी जाति के नाम पर इसका नाम खरोष्ठी पड़ा। तीसरा मत है कि मध्य एशिया के प्रसिद्ध नगर काशगर का शुद्ध संस्कृत रूप खरोष्ठ है और यह काशगर ही इस लिपि का केन्द्र था। चीनी परम्परा के अनुसार खरोष्ठ नामक व्यक्ति ने इस लिपि का संचालन किया। कुछ भी हो ब्राह्मी लिपि की भाँति यह लिपि भी अधिक महत्वपूर्ण थी। इसकी उत्पत्ति किससे हुई इसमें भी मतभेद है किन्तु अनुमान से यह बात स्वीकार कर ली गयी है कि इसकी उत्पत्ति आर्मेइक लिपि से हुई है। इसके दो आधार हैं—

(१) इन दोनों के चिह्नों एवं ध्वनियों में समानता है। (२) दूसरी बात यह है कि दोनों ही दाहिने से बायें लिखी जाती है, परन्तु फिर भी यह बात विचारणीय है कि आर्मेइक लिपि से इसका बहुत कुछ साम्य है, परन्तु इस लिपि का खरोष्ठी के रूप में विकास भारत में ही हुआ। उत्तरी-पश्चिमी भारत की यह प्रमुख लिपि थी। इसका स्रोत विदेशी हो सकता है, किन्तु इसका निर्माण भारत में ही हुआ और रूपरेखा आदि की दृष्टि से ब्राह्मी के साथ इसका साम्य है। इस लिपि का प्रयोग मुख्यतया सम्बन्ध व्यापार से था और महाजनी लिपि की भाँति यह एक काम चलाऊ लिपि थी।

ब्राह्मी लिपि —

हम पहले कह चुके हैं कि धार्मिक व्यक्तियों के अनुसार भाषा के समान ब्राह्मी लिपि भी ब्रह्म के द्वारा निर्मित हुई। कुछ लोगों का कहना है कि ब्राह्मणों की लिपि का नाम ब्राह्मी हुआ किन्तु प्रमुख रूप से इसकी उत्पत्ति के विषय में दो मत है—(१) विदेशीय (२) स्वदेशीय।

स्वदेशी मत—

एडवर्ड टामस तथा अन्य कुछ विद्वानों का मत है कि इसकी उत्पत्ति द्रविड़ लोगों के द्वारा हुई और बाद में आर्यों ने ही द्रविड़ों से इस लिपि को सीखा किन्तु इसके विरुद्ध यह बात आती है कि इस लिपि के प्राचीन नमूने उत्तरी भारत में ही

भिन्न है और द्रविड़ भाषाओं में सबसे प्राचीन भाषा तामिल है। इस तामिल भाषा से ब्राह्मी लिपि की विभिन्नता है क्योंकि तामिल में सभी वर्गों के प्रथम और पंचम वर्ण का ही उच्चारण होता है जबकि ब्राह्मी में प्रत्येक वर्ग के पांचों वर्ण मिलते है। अतः दक्षिण में द्रविड़ों के द्वारा इसका आविष्कार हुआ, यह संभव नहीं है। कनिंघम, डाउसन, ह्वेसेन आदि विदेशी विद्वान् तथा भारतीय विद्वानों के अनुसार इस लिपि का विकास आर्यों की ही किसी चित्रलिपि से हुआ। सिन्धु घाटी की लिपि इसका प्रमाण है। डा० सक्सेना ने इस विषय में अपनी पुस्तक "सामान्य भाषा विज्ञान" में लिखा है "असल बात तो यह है कि ब्राह्मी लिपि भारतवर्ष के आर्यों की अपनी ज्ञान से उत्पन्न किया हुआ मौलिक आविष्कार है। इसकी प्राचीनता और सर्वांग सुन्दरता से चाहे इसका कर्त्ता ब्रह्म देवता माना जाकर इसका नाम ब्राह्मी पड़ा, चाहे साक्षर समाज ब्राह्मणों की लिपि होने से ब्राह्मी कहलायी हो, चाहे ब्रह्म (ज्ञान) की रक्षा का सर्वोत्तम साधन होने से इसको यह नाम दिया गया हो" इस प्रकार यह भारतीय लिपि ही है।

विदेशी मत

विदेशी विद्वानों के अनुसार ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के विषय में दो बातें हैं। प्रथम ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति ग्रीक लिपि से है। उनमें से मूलर, जेम्स, प्रिंसेप, सेनार्ट, जोसेफ आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं, इसके लिए उन्होंने प्रमाण भी दिए हैं किन्तु बूलर ने इस बात को स्वीकार नहीं किया क्योंकि ब्राह्मी लिपि के विषय में जो प्रमाण मिलते हैं वह मौर्य युग से भी कई शताब्दी पूर्व के हैं। अतः ब्राह्मी ग्रीक लिपि से अधिक प्राचीन होने के कारण ग्रीक से उत्पत्ति बतलाना उचित नहीं है। सामी लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति मानने वाले अनेक विद्वान् है किन्तु सामी लिपि की किस शाखा से इसकी उत्पत्ति हुई यह विवादपूर्ण विषय है। इसमें विद्वानों के विचार तीन दशाओं में आते हैं।

(१) फोनेशीय उत्पत्ति

वेबर्लफे, जेन्सेन तथा बूलर आदि ने ब्राह्मी की उत्पत्ति फोनेशीय लिपि से मानी है। उनका कहना है कि लगभग $\frac{1}{3}$ फोनेशीय वर्णों की समानता ब्राह्मी के प्राचीनतम प्रतीकों से मिलती है। किन्तु डा० राजवली पाण्डेय ने अपनी पुस्तक "इण्डियन पैलियोग्राफी" में इस बात का खण्डन किया है।

(२) दक्षिणी सामी लिपि से उत्पत्ति

टेलर, डिके तथा कैनन के विचार से यह दक्षिणी सामी लिपि से प्रकट हुई किन्तु यह मत स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि प्राचीन भारतीय संस्कृति पर अरबी-संस्कृत का कोई भी प्रभाव नहीं है और इन दोनों लिपियों में न कोई समानता ही पायी जाती है।

(३) उत्तरी सामी लिपि से उत्पत्ति—

इसके सबसे बड़े समर्थक डा० बूलर थे। उनका कहना था कि ब्राह्मी के २२ वर्ण उत्तरी सामी लिपि से, कुछ वर्ण प्राचीन फोनेशीय लिपि से, कुछ मेसा के शिलालेख से और ५ असीरिया के बाटों पर लिखित अक्षरों से लिए गए और इस ब्राह्मीलिपि का विकास हुआ। बूलर के अतिरिक्त डा० डिरिंजर का भी यही विचार है और उन्होंने अपनी पुस्तक 'अल्फाबेट' में लिखा है कि "सभी उपलब्ध ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक तथ्य इस ओर इंगित कर रहे हैं कि मुख्यतः ब्राह्मीलिपि आर्मेइक (उत्तरी सामी) लिपि से ही उद्भूत हुई है और उन दोनों में समता भी है।" किन्तु यह बात भी भारतीय विद्वानों ने स्वीकार नहीं की।

सामी लिपि से ब्राह्मी का उद्भव हुआ है। इस विषय में पाश्चात्य विद्वानों की निम्न धारणाएँ हैं। प्रथम इन दोनों में आपस में साम्य है। दूसरी बात यह है कि वर्णात्मक लिपि की उत्पत्ति चित्रात्मक लिपि से नहीं होती है किन्तु प्राचीन भारत की लिपि चित्रात्मक थी और सभी लिपियों में प्राचीन सामी ही है। इस कारण अर्ध अक्षरात्मक ब्राह्मी लिपि का उद्भव और विकास सामी से ही है, तृतीय बात यह है कि जिस प्रकार सामी दायें से बायें लिखी जाती थी वैसे ही ब्राह्मी भी लिखी जाती है, यथा ५०० ई० पू० भारतवर्ष में लिखावट के नमूने नहीं मिलते हैं। उपर्युक्त मतों पर विचार करते हुए निस्संदेह हम देखते हैं कि उत्तरी-पश्चिमी एशिया की फोनेशियन तथा आर्मीय लिपियों से ब्राह्मी मिलती-जुलती है, किन्तु केवल इसी आधार पर ही यह मान लेना युक्तिसंगत नहीं है कि ब्राह्मीलिपि की उत्पत्ति सामी लिपियों से हुई है। डा० बूलर के कथनानुसार यह मान लिया कि फोनेशीय अथवा आर्मेइक लिपि से ही इसका विकास हुआ है तो फिर संसार की किसी भी ज्ञात लिपि से इसकी उत्पत्ति की संगति बैठाली जा सकती है।

ब्राह्मी लिपि का विकास—

इसका समय लगभग ५०० ई० पू० से ३५० ई० पू० माना जाता है। मौर्यकालीन ब्राह्मी लिपि से यह बात पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाती है। इस समय यह लिपि लिखावट की पूर्ण विकसित अवस्था पर पहुँच चुकी थी क्योंकि इसके द्वारा ध्वनियों का विश्लेषण हो जाता है। इसके बाद ब्राह्मी की दो धाराएँ प्राप्त हुईं—

(१) उत्तरी।
(२) पश्चिमी।

उत्तरी भारत की लिपि प्रमुख रूप से निम्नांकित रूपों में विकसित हुई।

(१) गुप्त लिपि, (२) नागर लिपि, (३) कुटिल।

इन तीनों लिपियों से ही आधुनिक युग की उत्तरी भारत की लिपियों की उत्पत्ति हुई।

दक्षिणी धारा—

दक्षिणी भारत की लिपियों की उत्पत्ति इसी ब्राह्मी से हुई जिनमें निम्न प्रमुख हैं—

(१) तेलगू कन्नड़, (२) ग्रंथलिपि, (३) तामिल लिपि, (४) कलिंग लिपि।

इस विषय में डा० राजबली पाण्डेय का वक्तव्य दृष्टव्य है। उनका कहना है कि फोनेशियन लोग भारत के मूल निवासी थे और जब वे यहाँ से गये तो इस लिपि को ले गये और वहाँ पर सामी लोगों के मध्य में रहने के कारण इस लिपि में बहुत कुछ परिवर्तन हुआ और इनकी इस ब्राह्मी लिपि का उत्तरी सामी अथवा आर्मेइक लिपियों पर प्रभाव पड़ा। वस्तुतः इस आर्मेइक लिपि ने मिश्र तथा दक्षिणी सामी लिपियों को छोड़कर शेष उत्तरी पश्चिमी एशिया की लिपियों को प्रभावित किया। डा० डिरिंगर के अनुसार चित्रात्मक लिपि से वर्णात्मक लिपि का विकास नहीं होना यह सच है परन्तु प्राचीन काल की सभी लिपियां प्रायः चित्रात्मक ही थीं, फिर किस समय खोज करने के पश्चात् इन लिपियों को विकसित करके वर्णात्मक रूप प्रदान किया गया यह निश्चय नहीं है। इसके अतिरिक्त भारत की प्राचीनतम लिपि सिन्धु घाटी की लिपि है यह विशुद्ध रूप से चित्रात्मक लिपि नहीं है परन्तु ध्वन्यात्मक एवं अक्षरात्मक है। तीसरी बात ब्राह्मी लिपि के दायें ओर लिखे जाने के कारण सामी लिपि से उत्पत्ति हुई होगी। यह भी बात पूर्ण तथा युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि बायें से दायें ओर लिखे गए भी ब्राह्मी लिपि के बहुत से उदाहरण उपलब्ध होते हैं और दायें से बायें वाले लिखे गए शिलालेखों के सम्बन्ध में प्रायः ऐसा भी हो जाता है कि सांचे बनाने वालों की भूल से शिलालेखों पर उलट जाया करते और जिसमें सीधी लिखावट नहीं आती होगी। इसी कारण हुल्श और डिरिंगर और बुलर के मत को नहीं माना। इसके विपरीत ब्राह्मी लिपि में वर्णों का उच्चारण जिस रूप में लिखा जाता है उसी रूप में होता है। ह्रस्व एवं दीर्घ स्वरों के लिए भिन्न २ चिह्न हैं एवं स्वर और व्यंजनों का संयोग मात्राओं द्वारा होता है। ये बातें सामी लिपि में नहीं मिलती है, इसमें ह्रस्व दीर्घ अनुस्वार विसर्ग आदि के लिए कोई चिह्न नहीं है। इसमें व्यंजनों और स्वरों का योग इस प्रकार होता है, कि दोनों का अलग-अलग पढ़ा जा सकता है। इस प्रकार ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति सामी से मानना उचित नहीं है।

शारदा लिपि—

यह लिपि उत्तरी पश्चिमी भारतवर्ष की लिपि थी। इससे तीन लिपियों का विकास हुआ। टक्री यह टक्क जाति के लोगों की लिपि थी। दूसरी लण्डा जिसका प्रचार पंजाब तथा सिंध में है। तीसरी गुरुमुखी मिलती है जो पंजाब में ही पायी जाती है। ग्रियर्सन ने शारदा, टक्री और लण्डा इन तीनों का प्रादुर्भाव एक लिपि से माना ही है।

डोग्री लिपि—

यह लिपि डोग्री भाषा के लिखने में प्रयोग आती है जो जम्मू के आसपास की भाषा है।

चमेआली लिपि—

चमेआली भाषा के लिखने मे इस लिपि का प्रयोग होता है। यह भाषा चम्बा राज्य के पश्चिमी प्रदेश की पहाड़ी भाषा है। देवनागरी लिपि के समान इसके स्वरों की संख्या अधिक अंशों मे पूर्ण है। छपाई मे यह प्रयोग होती है।

सिरमौरी लिपि—

सिरमौरी भाषा के लिखने में इस लिपि का प्रयोग होता है। यह टक्करी लिपि की एक शाखा है। यह पश्चिमी पर्वतीय प्रदेश की है।

जौनसारी लिपि—

यह भी सिरमौरी लिपि से मिलती-जुलती है। उत्तर-प्रदेश के पहाड़ी भाग जौनसार बावर मे जौनसारी भाषा प्रचलित है।

कोछी लिपि—

शिमला पर्वत की पश्चिमी पहाड़ी बोली कोछी को लिखने के लिए यह लिपि काम में लायी जाती है। यह लिपि अपूर्ण है।

कुल्लुई लिपि—

यह कुल्लू घाटी (पंजाब) मे प्रचलित है यह कुल्लुई भाषा की लिपि है।

कशखरी लिपि—

भाषा बोलने के लिए इस लिपि का प्रयोग होता है। काश्मीर के दक्षिणी पूर्वी प्रदेश कशखरी की घाटी में यह भाषा बोली जाती है, यह काश्मीर की उपभाषा है।

लंडा लिपि—

इसका प्रचार पंजाब या सिन्ध में है। यहाँ की राष्ट्र लिपि होते हुए भी इसका अधिकतया प्रचार व्यावसायिक कार्यों में होता है। यह सिन्धी भाषाओं की लिपि है। इस लिपि का पढ़ना अत्यन्त कठिन है। इसके कई भेद हैं। यह अत्यन्त ही अव्यवस्थित लिपि है। प्रमुखतः उसके तीन भेद हैं मुल्तानी लिपि का प्रयोग मुल्तान के क्षेत्र में होता है। दूसरी सिंधी लिपि है जो हैदराबाद सिन्ध की प्रमुख लिपि है। सिन्ध में इस लिपि को वनिया या वानिक कहते हैं। जार्ज स्टैक ने सिन्धी व्याकरण में लंडा से प्रसूत खड़बाड़ी लिपि का विवेचन किया है। इस प्रदेश के मुसलमान अरबी, फारसी लिपि का प्रयोग करते हैं।

गुरुमुखी लिपि—

लंडा लिपि से ही इसका विकास है। सिक्खों के दूसरे गुरु श्री अंगद ने इसका निर्माण किया। कुछ लोग इसे पंजाबी लिपि भी कहते हैं। पंजाबी लिखने में इस लिपि का प्रयोग होता है यह सिक्खों की लिपि है।

(क) नागर लिपि

इस लिपि का नाम नागरी अथवा देवनागरी भी है। इसका यह नाम कैसे पड़ा। इस विषय में विद्वानों का कोई एक निश्चित मत नहीं है। यह पश्चिमी उत्तर-प्रदेश, गुजरात, राजस्थान तथा महाराष्ट्र की लिपि है। यह भारत के मध्यवर्ती प्रदेशों की लिपि होने के कारण अत्यन्त ही महत्वपूर्ण लिपि है। इसके ताड़-पत्रों पर लिखित अनेक प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं। यह अर्ध-अक्षरात्मक लिपि है। इसमें १४ स्वरों संध्यक्षरों तथा ३४ मूल व्यंजनों की संख्या है। इसके व्यंजनों का विभाजन सात वर्गों में है। इसका भारत में सबसे अधिक प्रचार है। यह अपने में सर्वाङ्गतया पूर्ण है। आज पश्चिमी हिन्दी, पंजाबी, राजस्थानी, मध्य-भारत, मध्य-प्रदेश एवं हिमाचल प्रदेश की बोलियाँ, बिहार की बोलियां तथा अनार्य भाषाओं मुण्डा संथाली लिखने में इस लिपि का प्रयोग होता है।

गुजराती लिपि—

गुजरात प्रदेश में प्रमुख रूप से तीन लिपि प्रयोग में आती है—

(१) देवनागरी।

(२) गुजराती।

(३) सराफी अथवा बनोड़िया

पहले पुस्तकों की छपाई देवनागरी लिपि में होती थी, किन्तु अब यह स्थान गुजराती लिपि ने ले लिया है और समस्त गुजरात की कार्यवाही इसी लिपि में होती है। सराफी का केवल प्रयोग व्यवसाय में होता है। इसमें मध्य स्वरों की उचित व्यवस्था न होने के कारण पढ़ने में कठिनता पड़ती है।

महाजनी लिपि—

सम्पूर्ण राजस्थान में छपाई आदि में देवनागरी का प्रयोग होता है किन्तु यहाँ के व्यवसायियों में महाजनी या मारवाड़ी लिपि का प्रयोग होता है। वे अपना हिसाब-किताब इसी में लिखते हैं। लिपि की उत्पत्ति देवनागरी में ही हुई है। यह बड़ी शीघ्रता से लिखी जाती है। इस कारण इसका पढ़ना अत्यन्त कठिन है।

कुटिल लिपि—

इस लिपि का प्रचार पूर्वी उत्तर-प्रदेश, बिहार, बंगाल, आसाम, उड़ीसा, मनीपुर तथा नैपाल में हुआ। तिरछे तथा टेढ़े-मेढ़े ढंग से लिखे जाने के कारण इसका नाम कुटिल लिपि पड़ा।

बिहारी लिपि—

पूर्वी उत्तर-प्रदेश और बिहार के पश्चिमी प्रदेश में इसका प्रचलन है, किन्तु पुस्तकों आदि की छपाई में देवनागरी लिपि का ही प्रयोग होता है। बिहारी प्रचलित कैथी लिपि का नाम कायस्थों के कारण पड़ा।

अतः वहाँ बिहारी लिपि को कैथी लिपि कहते हैं। स्थानीय भेद के कारण इसके तीन भेद हैं—

१ तिरहुती कैथी लिपि।

२. भोजपुरी कैथी लिपि।

३. मगही कैथी लिपि।

इसका प्रसार पूर्वी उत्तर-प्रदेश पश्चिमी बिहार पटना तथा गया में है। उत्तरी बिहार में मैथिली लिपि का प्रयोग होता है। इसे तिरहुती लिपि भी कहते हैं। इस प्रदेश में (१) देवनागरी, (२) तिरहुती कैथी लिपि, (३) मैथिली लिपि बोली जाती है।

बंगला लिपि—

बूलर के अनुसार इस लिपि का विकास पूर्वी भारत के प्रदेशों में प्रचलित नागरी लिपि से हुआ। श्री एम० एन० चक्रवर्ती इसकी उत्पत्ति सातवीं सदी की उत्तरी भारत की लिपि से बतलाते हैं। फरीदपुर के एक 'दानपत्र' में इस लिपि का प्रयोग हुआ है, किन्तु यह दसवीं सदी में नागरी लिपि से प्रभावित हुई और इसके प्राचीन रूप में कुछ परिवर्तन हुआ। इसकी प्राचीन लिपि में कुछ हस्तलिखित पुस्तकें प्राप्त हैं। इसके वर्णों की संख्या और उनका क्रम देवनागरी जैसा ही है।

असमिया लिपि—

यह बंगला लिपि का ही एक भेद है। इसका प्रयोग असमी भाषा के लिखने में होता है।

उड़िया—

जिस लिपि से बंगला का उद्भव हुआ उसी से उड़िया का भी हुआ, परन्तु तामिल, तेलगु लिपियों से प्रभावित होने के कारण इसका रूप परिवर्तित हो गया। यह उड़िया प्रदेश की लिपि है, इसके प्रमुख रूप से तीन भेद हैं—

१. ब्राह्मणी।

२. कानी।

३. उड़िया।

दक्षिणी भारत की लिपियाँ

दक्षिणी भारत में ब्राह्मी लिपि के दो रूप प्रचलित हुये—

१. उत्तरी।

२. दक्षिणी।

उत्तरी से तेलगु तथा कन्नड़ का उद्भव हुआ और दक्षिणी से तामिल प्रदेश में प्रचलित ग्रन्थ लिपि का, इसका प्राचीन रूप वट्टेलुत्तु नाम से प्रसिद्ध है। इस ब्राह्मी लिपि से सिंहली लिपि का विकास हुआ।

खरोष्ठी लिपि—

भारतवर्ष में ब्राह्मी लिपि के अतिरिक्त खरोष्ठी लिपि का भी प्रचलन था। ब्राह्मी लिपि सम्पूर्ण भारत की लिपि थी, किन्तु खरोष्ठी का प्रसार उत्तरी-पश्चिमी भाग में ही था। अशोक के शिलालेख का अनुवाद इस लिपि में प्राप्त हुआ। चीनी, तुर्किस्तान में भी इस लिपि में लिखित महत्वपूर्ण सामिग्री मिली है। यह लिपि सामी लिपि की तरह दोषपूर्ण एवं अव्यवस्थित है। इसकी उत्पत्ति का प्रश्न अत्यन्त ही विवाद का विषय है, बुलर और डिरिंगर के अनुसार इसकी उत्पत्ति आर्मेइक लिपि से हुई, किन्तु भारतीय विद्वान इसका उद्भव भारत में ही मानते हैं और इसका विकास पश्चिमोत्तर भारत मे हुआ था, चीनी परम्परा के अनुसार खरोष्ठ नामक भारतीय व्यक्ति ही इसका आविष्कर्त्ता था।

देवनागरी लिपि तथा उसकी विशेषता—

भारतवासियो को ई० पूर्व चौथी शताब्दी में लिपि ज्ञान था। ई० पू० तीसरी शताब्दी के अशोक-शिलालेख मिलते हैं। ये खरोष्ठी और ब्राह्मी लिपि में हैं। इससे पुनः प्रमाणित है कि निश्चित ही लिपि ज्ञान बहुत पहले रहा होगा। पाणिनि के समय ब्राह्मी लिपि यहाँ प्रचलित थी। सन् ३५० के बाद ब्राह्मी लिपि की दो शैलियाँ दिखायी पड़ती है—उत्तरी शैली और दक्षिणी शैली। उत्तरी शैली का प्रचार उत्तर भारत मे था, दक्षिणी शैली का दक्षिण मे। उत्तरी शैली का विकास क्रमशः गुप्त लिपि, कुटिल लिपि तथा देवनागरी लिपि के रूप में हुआ। गुजरात के नागर ब्राह्मणों के द्वारा प्रयुक्त किये जाने के कारण अथवा नगरों में प्रचलित होने के कारण हिन्दी भाषा की लिपि को नागरी या देवनागरी अभिधान प्राप्त हुआ। ब्राह्मी लिपि का क्रम-विकास निम्नांकित है—

ब्राह्मी लिपि।
गुप्त लिपि।
कुटिल लिपि।
देवनागरी लिपि।
शारदा लिपि।

इस प्रकार देवनागरी लिपि का विकास ब्राह्मी से हुआ। देवनागरी लिपि १०वीं शताब्दी से मिलने लगी है। इसके वर्णों में क्रमशः विकास होता रहा है ११वीं सदी की लिपि में पर्याप्त विकास हो गया था और बारहवीं सदी की लिपि का वर्तमान रूप मिलता है। देवनागरी लिपि संसार की लिपियों में सबसे अधिक वैज्ञानिक है। वर्णमाला में अक्षरों का वर्गीकरण वैज्ञानिक रीति से किया गया है स्वरों में ह्रस्व और दीर्घ आदि सभी विभाजन वैज्ञानिक हैं। व्यंजनों में उच्चारण स्थान के अनुसार वर्गीकरण लिपि में मिलता है—

कंठ्य—क, ख, ग, घ, ङ
तालव्य—च, छ, ज, झ, ञ

मूर्धन्य—ट, ठ, ड, ढ, ण
दंत्य—त, थ, द, ध, न
ओष्ठ्य—प, फ, ब, भ, म
अन्तस्थ—य, र, ल, व
ऊष्म—श, ष, स, ह

भारतीय लिपियों की दूसरी विशेषता यह है कि उनमें एक सूत्रता मिलती है। यह प्राचीन भारत की सांस्कृतिक एकता का एक प्रमाण है, [illegible] भी मात्राओं का नियम लिपियों की आन्तरिक एकता का द्योतक है।

(२) यह लिपि देश के बहुत बड़े क्षेत्र में प्रयुक्त होती है।

(३) यह लिपि ही कुछ थोड़े भेद के साथ बंगाली, उड़िया, आसामी गुजराती और गुरुमुखी लिपि है। अपनी लिपि और भाषा का मोह ही लोगों को यह कहने को प्रेरित करता है कि बंगाली या गुरुमुखी वाले को हिन्दी सीखना कठिन है या नयी राष्ट्रीय लिपि का व्यवहार उस पर जबरदस्ती है।

(४) देवनागरी की एक बड़ी विशेषता यह है कि समस्त प्राचीन वाङ्मय इस लिपि में है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश का समस्त साहित्य इसी लिपि में है। ज्योतिष, गणित, धर्मशास्त्र, दर्शन, व्याकरण, तन्त्र साहित्य सब कुछ इसी लिपि में है। इसलिये अहिन्दी भाषा-भाषी हिन्दी से भले अनभिज्ञ हों पर देवनागरी से कोई अपरिचित नहीं है क्योंकि संस्कृत के पठन-पाठन का माध्यम ही देवनागरी लिपि है। देवनागरी लिपि अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण, युक्तिसंगत तथा वैज्ञानिक है। अंग्रेजी, फारसी आदि के सभी शब्दों को देवनागरी लिपि के माध्यम से लिखा जा सकता है, लेकिन संस्कृत और हिन्दी के सभी शब्दों को रोमन और फारसी लिपि के द्वारा नहीं लिखा जा सकता।

पारिभाषिक शब्दों पर टिप्पणी

(१) अपश्रुति—एक धातु से बने हुए दो या तीन शब्दों के अक्षरों में परिवर्तन होता है और इससे अर्थ और रूप दोनों में परिवर्तन हो जाता है, किन्तु इस परिवर्तन की दिशा में केवल स्वरों में ही परिवर्तन होता है, व्यंजनों में नहीं होता, वे जैसे के तैसे यथा स्थान रहते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन को अपश्रुति या अक्षरावस्थान कहते हैं, यथा—

हिन्दी—चलना, चलाव, चली चला चले।

अंग्रेजी—Sing, Sang, Sung

Rise, Rose, Risen

संध्यक्षर—जब एक स्वर सहसा अकेला बैठकर बोला जाता है उस समय उसे समानाक्षर कहते हैं, किन्तु जिस समय दो स्वर एक साथ जोर से झटके के साथ उच्चारित हों तो उन्हें संयुक्त स्वर या संध्यक्षर कहते हैं। संस्कृत में (ए, ऐ, और (अ, उ) संध्यक्षर माने गये थे, किन्तु डा० धीरेन्द्र वर्मा ने इन्हें संध्यक्षर नहीं माना।

(२) श्रुति—जिस समय स्वरयंत्र से ध्वनियों का उच्चारण होता है उस समय स्वरयंत्र के विभिन्न अवयव अपना प्रयत्न करते हैं और एक ध्वनि का उच्चारण समाप्त करने के बाद दूसरी ध्वनि का उच्चारण करने के प्रयत्न में स्थान परिवर्तन होता है। ध्वनि के दो प्रमुख भेद हैं—स्वर और व्यंजन। जब स्वर और व्यंजन इन दोनों का साथ-साथ उच्चारण होता है तो उस समय श्वास-वायु भिन्न-भिन्न स्थानों के मध्य से निःसृत होती है। ऐसी दशा में बीच-बीच में परिवर्तन ध्वनियाँ भी उच्चारित होती हैं, इन्हीं परिवर्तन ध्वनियों को श्रुति कहते हैं, जैसे—महेन्द्र में कई ध्वनियाँ हैं—म् अ ह् ए न् द् र्। इस शब्द में कभी-कभी ध्वनियों के उच्चारण में असावधानी होने के कारण इसका उच्चारण महेन्दर भी हो जाता है और इसमें ह्रस्व ध्वनि र् पूर्ण ध्वनि हो गई है। इसमें द्, र् के बीच श्रुति का आगम हुआ है। ये ध्वनियाँ संध्यक्षरों में अधिक पाई जाती हैं, इनके दो भेद होते हैं—पूर्व श्रुति और परश्रुति। पूर्व श्रुति स्वर या व्यंजन के प्रथम आती है और पर श्रुति बाद में आती है, जैसे स्कूल—इस्कूल, स्तुति—अस्तुति, स्तबल—अस्तबल।

अपनिहिति—जब शब्द के अन्दर किसी ध्वनि या अक्षर का आगम होता है तब उसे अपनिहिति कहते हैं, यथा—Bhavati—Baviti

Sarvam—Haurvam

पुरोहिति—उच्चारण की सुविधा के लिये शब्द से पहले किसी स्वर का आना पुरोहित कहलाता है यथा स्थिति इस्थिति, स्टेशन—इस्टेशन ।

(६) बल या स्वराघात—मुख से उच्चारण करते समय जो वर्णों पर अधिक जोर पड़ता है, उसे बल या स्वराघात कहते हैं । बल या आघात इन निःसृत ध्वनियों की लघुता या दीर्घता पर आश्रित रहता है । बच्चों के फेफड़ों से वायु निकलती है, उस समय जितनी शक्ति से इसमें धक्का पड़ता है उतना ही स्वरों में अन्तर हो जाता है । यह स्वराघात तीन प्रकार का होता है—उच्च, मध्य, निम्न और इन्हीं के आधार पर ध्वनि के तीन बल होते हैं—सबल, समबल, निर्बल जैसे शारदा शब्द में 'द' पर अधिक बल है, इसलिये 'दा' सबल ध्वनि है । 'शा' पर बल कुछ कम है । अतः समबल है । र पर बिल्कुल नहीं है, अतः निर्बल है, यह तीन प्रकार का होता है—(१) संगीतात्मक, (२) बलात्मक, (३) रूपात्मक ।

(७) संगीतात्मक—इसका सम्बन्ध स्वर तन्त्रियों से होता है । जिस समय स्वर-तंत्रियाँ ढीली रहती हैं, उस समय संगीतात्मक स्वराघात नहीं होता है । संगीत के सात स्वर हैं—"स रे ग म प ध नि" और उसके तीन सप्तक—मन्द्र, मध्य और तार हैं । सभी उसके आघातों पर आश्रित होते हैं । संगीत के इन स्वराघातों के लिये विशेष संकेत होते हैं । वैदिक संस्कृत में इन संगीतात्मक स्वराघातों के चिह्न लगे हुए हैं । ये तीन प्रकार के थे—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित; उच्च, मध्य, नीच, जैसे गणानांत्वा गणपतिं ·····प्राचीन ग्रीक में भी तीन प्रकार के स्वराघात थे । चीनी भाषा भी संगीतात्मक है । उसमें सम, ऊर्ध्वमुख, अधोमुख और प्रवेश-मुख चार प्रकार के स्वराघात मिलते हैं ।

(८) बलात्मक स्वराघात—यह उस समय होता है, जबकि ध्वनि का बल के साथ उच्चारण किया जाता है । फेफड़ों से बाहर को आती हुई वायु शब्द के जिस अंश पर अधिक जोर देती है, वहीं चोट पड़ती है । स्वरतंत्री से इसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता है और इस प्रकार शब्द के जिस अंश पर आघात पड़ता है, वहीं बलात्मक स्वराघात होता है, उसकी आवाज जोर से सुनाई देती है । प्राचीन भाषा लैटिन और अवेस्ता में इस प्रकार के बलात्मक स्वराघात बहुत थे । अंग्रेजी में भी प्रायः देखने को मिलता है, जैसे Conduct में 'सी' पर बल देने से संज्ञा और यदि 'डी' पर बल है तो क्रिया मानी जायेगी ।

(९) घोष—स्वर तंत्रियों के इस कम्पन या अनुरणन को घोष कहते हैं । बन्द काकल में से वायु के निकलने पर यह उत्पन्न होता है, यहाँ पर स्वरतंत्री कड़ी होकर वायु के गमन में बाधा डालती है । अतः हवा धक्का देकर निकलती हुई ध्वनि को जन्म देती है । ऐसी अवस्था में काकल के बन्द रहने के कारण स्वर तंत्रियों में एक प्रकार की झनझनाहट पैदा होती है । उससे एक प्रकार का घोष सुन पड़ता है । अतः

जिन ध्वनियों के उत्पन्न करने में श्वास घर्षण के साथ निकलता है, उन्हें घोष कहते हैं "हशः संवारा नादा घोषाश्च"।

(१०) अघोष—ध्वनि-यन्त्र में आकर ही श्वास निकलने की अवस्था में प्राप्त होती है। इसमें पूर्व फेफड़ों से आने में वह अविकारी रहती है। अतः स्वर तन्त्रियों के बन्द और खुले रहने के कारण घोष और अघोष दो प्रकार की ध्वनियों का वर्गीकरण किया जाता है। जब स्वरतन्त्रियाँ एक दूसरे से अलग रहती हैं अर्थात् मार्ग खुला रहता है और बिना किसी रुकावट के श्वास निकल आती है ऐसी दशा में कोई अनुरणन अथवा घोष नहीं होता। अतः इनमें उत्पन्न ध्वनियों को अघोष कहते हैं यथा—"खरो विवाराः श्वासा अघोषाश्च"।

(११) अल्पप्राण—जिन ध्वनियों के उच्चारण में श्वास कम परिमाण में निकले और प्राण ध्वनियाँ सुनाई नहीं पड़ें उन्हें अल्पप्राण कहते हैं क्योंकि प्राण-वायु सभी का उत्पादन कारण होती है। इसी से इन्हें अप्राण न कहकर अल्पप्राण ही कहना उचित समझा गया है। सुविधा के लिये इन्हें अ-प्राण भी कह सकते हैं। वर्गों के प्रथम तृतीय पंचम वर्ण तथा य र ल व अल्पप्राण हैं।

(१२) महाप्राण—प्राण ध्वनियों के विचार की दृष्टि से स्पर्श हुए ध्वनियों के अल्पप्राण और महाप्राण दो भेद किये गये हैं। जिन ध्वनियों के उच्चारण करने में श्वास अधिक परिमाण में निकलता है उन्हें महाप्राण कहते हैं। महाप्राण को सप्राण भी कह सकते हैं। वर्गों के द्वितीय, चतुर्थ वर्ण तथा श ष स ह महाप्राण ध्वनियाँ हैं। इनमें प्राण ध्वनि सुन पड़ती है।

(१३) संघर्षी—ह, विसर्ग या अघोष ह, ख़, के उच्चारण में जीभ और तालु अथवा होठों की सहायता बिलकुल नहीं ली जाती, हवा को अन्दर से जोर से फेंककर मुख द्वार के खुले रहते हुए स्वर-यन्त्र के मुख पर रगड़ उत्पन्न करके इस ध्वनि का उच्चारण किया जाता है। विसर्ग या 'ह', 'ख' के उच्चारण में मुख के अवयव प्रायः समान रहते हैं। पर 'ख़' में रगड़ आती है। 'ह' घोष ध्वनि है। विसर्ग अघोष ध्वनि है। विसर्ग वास्तव में 'ह' मात्र है। इसे स्वर-यंत्रमुखी अघोष संघर्षी ध्वनि कह सकते हैं।

(१४) घर्ष संघर्षी—वर्ग के उच्चारण में वायु मार्ग किसी एक स्थान पर इतना संकीर्ण हो जाता है कि हवा के बाहर निकलने में एक प्रकार का सीत्कार अथवा ऊष्म ध्वनि होती है। इन वर्णों के उच्चारण में जिह्वा और दन्त-मूल अथवा वर्त्स्य के बीच का मार्ग खुला रहता है, बिलकुल बंद नहीं हो जाता। इसी से हवा रगड़ खाकर निकलती है। अतः इन्हें घर्ष अथवा विवृत कहते हैं। स—श, ष स, आदि ऐसे ही घर्ष वर्ण हैं।

(१५) अनुनासिक—जिन वर्णों के उच्चारण में किसी एक स्थान पर मुख बंद हो जाता है और कोमल तालु (कंठ-स्थान) इतना झुक जाता है कि हवा मुख के

अतिरिक्त नासिका-विवर में भी पहुँच जाती है और गूँजकर निकलती है। यह अनुनासिक कहा जाता है, यथा ङ्, ञ्, न्, म्, ण्, न्ह्, म्ह्—अंक, कंपा, आँसू, उन्होंने, माता, कुम्हार, ब्रह्म, गेंद, चंचल, गुण।

(१६) उत्क्षिप्त—ड़ अल्पप्राण, घोष, मूर्धन्य उत्क्षिप्त ध्वनि है। यह हिन्दी की नवीन ध्वनियों में से एक है। इसके उच्चारण में जीभ की नोक को उलट कर नीचे के हिस्से से कठोर तालु का कुछ झटके के साथ स्पर्श किया जाता है 'ड़' शब्दों के आदि में नहीं आता पर शब्दों के मध्य या अन्त में प्रायः दो स्वरों के बीच में प्रयुक्त होता है, जैसे-मोड़, कड़ा, पेड़ा, बड़ा, आदि। ढ़—महाप्राण, घोष, मूर्धन्य, उत्क्षिप्त ध्वनि है। 'ड़' का ही महाप्राण रूप है। ड, ढ स्पर्श हैं और ड़, ढ़ उत्क्षिप्त हैं। दोनों में यही भेद है। इसका प्रयोग भी प्रायः दो स्वरों के बीच में होता है। जैसे बढ़ना, बूढ़ा, मूढ़, बढ़ आदि।

(१७) पार्श्विक—ल्, ल्ह्, पार्श्विक अल्पप्राण घोष वर्त्स्य ध्वनि है। इसके उच्चारण में जीभ की नोक ऊपर के मसूड़े को अच्छी तरह स्पर्श करती है, किन्तु दाहिने और बायें अथवा दोनों ओर खुला स्थान रहने के कारण हवा निकलती रहती है। इसलिए ल् ध्वनि दो प्रकार की कही जा सकती है। यद्यपि 'ल' ध्वनि का उच्चारण र् के स्थान से ही होता है, किन्तु इसका उच्चारण पार्श्विक होने से सरल होता है। जिह्वा के पार्श्व से हवा के निकलने के कारण इसको पार्श्विक ध्वनि कहा गया है, यथा लाल, फल, सरल यह 'ल' का महाप्राण रूप है। बोलियों में इसका प्रयोग बड़ा होता है। यह ध्वनि शब्द के मध्य में ही मिलती है। 'न्ह' के समान इसे मूल ध्वनि माना गया है, यथा सल्हा (अव) कान्हि, कल्ह (ब्र०)।

(१८) संवार—वर्णों के उच्चारण करने में जो प्रयत्न होता है। उसको संस्कृत वैयाकरण पाणिनि ने सोलह प्रकार का कहा है। इसके दो भेद हैं- (१) बाह्य प्रयत्न, (२) आभ्यंतर प्रयत्न। बाह्य प्रयत्न ११ प्रकार का होता है और आभ्यंतर ५ प्रकार का होता है। संवार बाह्य प्रयत्नों में से एक है। आस्य के भीतर होने वाला प्रयत्न आभ्यंतर प्रयत्न कहलाता है और आस्य से बाहर काकल से सम्बंधित बाह्य प्रयत्न कहलाता है। सघोष जब उत्पन्न होती है तब काकल का द्वार बंद रहता है और हवा काकल में से निकलती हुई ध्वनि को जन्म देती है। अतः उसका संवार अथवा संकुचित प्रयत्न होता है। काकल और मुख के भेद के अनुसार ही यह दो भेद आभ्यंतर और बाह्य किये गये हैं।

(१९) बाह्य प्रयत्न—बाह्य प्रयत्न को अनुप्रदान और प्रकृति भी कहते हैं। इनका संबंध केवल काकल से होता है। इसकी उत्पत्ति उसी से होती है। पीछे मूल में रहने के कारण इसे अनुप्रदान कहा जाता है। श्वास और नाद का सम्बन्ध ध्वनि की प्रारम्भिक अवस्था से है।

(२०) **आभ्यंतर प्रयत्न**—आभ्यंतर प्रयत्न को प्रदान भी कहते हैं क्योंकि शब्द को उत्पन्न करने वाली प्राण वायु का प्रदान इसी के द्वारा होता है। (प्रदीयते अनेन इति प्रदानम्) यह ध्वनि के उच्चारण का प्रधान कारण है। अतः इसे करण भी कहते हैं।

संवार—यथा, संवाराः नादा घोषाश्च ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द।

(२१) **विवार**—यह भी बाह्य प्रयत्न का एक भेद है। अर्थात् ध्वनि की उत्पत्ति के समय काकल खुला रहता है। अतः उसका विवार तथा विवृत प्रयत्न माना जाता है। इस प्रकार काकल के बंद होने और खुले रहने का संवार और विवार से बोध होता है, यथा:—"खरो, विवारा श्वासा अघोषाश्च" ख, फ, छ, ठ, थ च, ट, त, क, प, श, ष, स विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय।

(२२) **श्वास**—कंठ-पिटक में स्थित स्वर-तंत्रियां दो होठों के समान होती हैं। उनके बीच के अवकाश को काकल कहते हैं। जब ये तंत्रियां एक दूसरी से दूर रहती हैं और हवा उनके बीच में से निकलती है तब जो ध्वनि उत्पन्न होती है वह 'श्वास' कहलाती है। वर्गों के प्रथम द्वितीय वर्ण तथा श, ष, स, श्वास होते हैं, दूसरे शब्दों में यह इस प्रकार कह सकते हैं कि काकल के विवार के कारण जो अघोष ध्वनि उत्पन्न होती है उसे श्वास कहते हैं।

(२३) **नाद**—जब ये स्वर-तंत्रियां परस्पर मिली रहती हैं और हवा का निकलना कठिन हो जाता है, उस समय वायु बड़े वेग के साथ धक्का देकर उनके मध्य में से निस्सरित होती है। उस समय रगड़ के कारण एक प्रकार का शब्द होता है। इसलिए उस समय उत्पन्न हुई ध्वनि को 'नाद' नाम की संज्ञा दी गई है। दूसरे शब्दों में स्पष्ट रूप से हम यों भी कह सकते हैं कि काकल के संवार (बन्द) द्वारा उत्पन्न घोषवान ध्वनि को नाद कहते हैं। वर्गों के तृतीय, चतुर्थ, पंचम वर्ण तथा य व, र, ल नाद हैं।

(२४) **कोमल तालव्य** (Velar)—जिसके उच्चारण में कोमल तालु (velum) से प्रमुख सहायता ली जाय। यह अत्यन्त कण्ठ्य (very guttural) ध्वनि है। q (क), qh (ख), g (ग), gh (घ) कोमल तालव्य हैं। अब क, ख, ग, घ को कोमल तालव्य, तथा क़ आदि को जिह्वामूलीय कहते हैं।

(२५) **तालव्य** (palatal)—जीभ द्वारा उस समय उत्पन्न ध्वनियाँ जब वे मुख के ऊपरी भाग (या तालु) का स्पर्श करें। देखिए तालव्य निगम क, ख, ग, घ तथा e, i, अब कठोर तालु से उत्पन्न ध्वनियाँ जैसे—च, श आदि ही तालव्य कहलाती हैं।

(२६) **ध्वनि विज्ञान** (phonetics)—भाषा में प्रयुक्त वास्तविक ध्वनि का उसके उच्चारण के अनुसार विश्लेषण और वर्गीकरण का विज्ञान। ध्वनि

परिवर्तन का इतिहास एवं सिद्धान्त इसके अन्तर्गत नहीं आता। प्रत्येक भाषा की अपनी ध्वनि वैज्ञानिक विशिष्टता होती है। इस प्रकार अंग्रेजी में मिश्रित स्वर हैं। फ्रेंच की भांति वृत स्वर (round vowels) नहीं है तथा यह ऊष्म ध्वनियों की दृष्टि से सम्पन्न है। फ्रैंच में सभी अक्षरों पर समान रूप से बल दिया जाता है। अंग्रेजी में एक बलात्मक स्वराघात काफी तेज है, रूसी भाषा में स्वरों का कोई भी मात्रिक भेद नहीं है। शब्दों में विभिन्न प्रकार के सुरों के कारण चीनी भाषा पक्षियों की चहचहाहट की तरह विशेष जीवन्त लगती है। विशेष प्रयोगशाला ध्वनि विज्ञान (laboratory phonetics) एक नया विज्ञान है जो भाषा ध्वनियों का औसिलोस्कोप अथवा एक्स-रे फोटोग्राफी जैसे यांत्रिक साधनों तथा अन्य रिकार्ड करने वाले यन्त्रों द्वारा अध्ययन करता है।

(२७) ध्वनि श्रेणियाँ (phonemics)—किसी भाषा में ध्वनि के परिवार, जैसा कि एक व्यक्ति उन्हें उच्चारित करता है, जैसे keep, cool, cot में तीनों ध्वनियां एक ही 'क' परिवार या 'क' ध्वनि श्रेणी के अन्तर्गत है। यह भाषा ध्वनि की एक पृथक् इकाई होती है। इसी प्रकार अलफा (alpha) ध्वनि श्रेणी बीटा (Beta) ध्वनि श्रेणी या इसी प्रकार और होती है। ध्वनि श्रेणी की परिभाषा भाषा विशिष्ट की सम्बद्ध ध्वनियों के परिवार के रूप में दी गई है।

(२८) वर्त्स्य (alucolars)—जीभ और वर्त्स की सहायता से उत्पन्न ध्वनि। पुराने लोग दांतों की जड़ से उत्पन्न दंत्य ध्वनि (त, थ, द, ध, ए, ई) का नाम मानते हैं, किन्तु वस्तुतः मसूड़ों से उत्पन्न ध्वनि वर्त्स्य मानी जाती है।

(२९) व्यंजन (consonant)—स्वर की सहायता से उत्पन्न भाषा ध्वनि व्यंजन में घर्षण सुनाई पड़ता है, व्यंजन=रुकावट। कुछ जिनमें घर्षण थोड़ा होता है अर्द्ध स्वर अथवा आक्षरिक व्यंजन कहलाते हैं (लृ और ऋ)। स्वनत आनुनासिक है। म, न जैसे calm में I, M. अक्षरों के समान ही हैं।

(३०) श्रवण विज्ञान (acoustics)—श्रवण शक्ति से सम्बन्धित जिस प्रकार ध्वनि विज्ञान उच्चरित ध्वनि का विज्ञान है, उसी प्रकार श्रवण विज्ञान सुनी जाने वाली ध्वनि का विज्ञान है। ध्वनि परिवर्तन की उत्पत्ति में वक्ता श्रोता दोनों ही का योग रहता है। भाषा ध्वनि की तीन अवस्थाएँ हैं—(क) वक्ता की स्थिति, (ख) भाषा ध्वनि का वास्तविक उत्पादन और (ग) श्रोता के कर्ण-फलक पर वास्तविक कम्पन।

(३१) सरकमफ्लेक्स (circumflex)—ग्रीक Perispomenos चिह्न का लैटिन अनुवाद, स्वर के संकोचन, उसकी मात्रा या उसके विशिष्ट गुण के द्योतन के लिए इसका प्रयोग होता था। ग्रीक वैयाकरणों के पास इनके लिए Mese oksabarera तथा Perispomene ये तीन शब्द थे।

(३२) स्पर्श-संघर्षी (affricate)—एक ही अक्षर में स्पर्श के पश्चात् तदनुरूप संघर्षी आने से बनी ध्वनि, जैसे जर्मन pfero, zahu और स्विस बोलियों मे K X। अब च, छ जैसी ध्वनियों को भी स्पर्श-संघर्षी कहते हैं जिनके उच्चारण मे प्रथम दो स्थितियां स्पर्श की तथा तीसरी संघर्षण की होती है।

(३३) स्वर (Vowel)—ध्वनि अथवा लय जो श्वास के अनवरुद्ध गमन द्वारा उत्पन्न होती है तथा स्वर यंत्र द्वारा जो नादमय ध्वनि बन जाती है। जीभ और होठों की स्थिति से स्वर की प्रकृति का निश्चय होता है। a, e, i, अ, आ, इ स्वरों का प्रतिनिधित्व करते हैं। यद्यपि अंग्रेजी में १३ मूल स्वर ध्वनियां हैं। स० स्वर-ध्वनि की स्वतन्त्र इकाई—"वायु का मुंह में से अबाध घर्षण-विहीन स्वच्छन्द गमन।"

(३४) काकल्य—यह ध्वनि स्वर-तन्त्रियों के बन्द होने, खुलने, कांपने सुलने से सम्बन्धित है। इन स्वर तन्त्रियों के बन्द हो जाने से काकल्य स्पर्श सुनाई देता है।

(३५) संवृत—जब जिह्वा की ऊंचाई अधिकतम दशा को प्राप्त होती है और ऊपर के भाग से सट सी जाती है तब संवृत ध्वनियां पैदा होती हैं, यथा इ, ई, उ, ऊ इनको उच्च भी कहते है।

(३६) लुंठित—जिन ध्वनियों के उच्चारण में जीभ बेलन की तरह लपेटी जाती है उनको लुंठित कहते हैं, इसमें जीभ में एक प्रकार का कम्पन होता है। हिन्दी की 'र' ध्वनि लुंठित है।

(३७) स्वरित—जब सुर न आरोही होता है और न अवरोही होता है अपितु समता पर रहता है तब इस प्रयत्न को स्वरित कहते हैं।

(३८) उदात्त—जब स्वर ऊँचे को उठता है अर्थात् आरोही होता है उसे उदात्त कहते हैं।

(३९) अनुदात्त—जब स्वर नीचे को यानी अवरोही होता है तब अनुदात्त कहलाता है।

(४०) सुरक्रम (Intonation)—स्वरतन्त्री के कम्पन से उत्पन्न स्वर में होने वाले परिवर्तन सुरक्रम कहलाते हैं, ये शृंखलाबद्ध भाषा में सम्भव होते हैं। सामान्य भाषा में सुर में निरन्तर परिवर्तन आता रहता है। जब स्वर का सुर आरोहण करता है, तब आरोही सुरक्रम होता है तथा इसके विपरीत अवरोही। पर्याप्त समय तक जब एक ही स्तर पर रहता है, तब सम सुरक्रम होता है। सुरक्रम सुर का ही थोड़ा परिवर्तित रूप है। सुर ही सुरक्रम का आधार है। सुर-क्रम प्रधान भाषाओं में सुर-ध्वनिक भाषाओं की भांति व्याकरणिक रूप-भेद और कोशीय अर्थ-भेद नहीं होता वरन इनमें प्रसंग-भेद से प्रसंगार्थ की प्रधानता हो जाती है।

(४१) **अक्षर**—अक्षर का व्युत्पत्ति मूलक अर्थ है—'वह तत्त्व, जिसका क्षरण नहीं होता।' महाभाष्यकार पतंजलि ने इसकी व्युत्पत्ति निर्धारित करते समय लिखा था—''अक्षरं न क्षरं विद्यात्। न क्षयिते न क्षरतीति वाक्षरम्।'' क्षिर और क्षर—दोनों धातुओं से यही अर्थ निकलता है कि यह अविनाशी है तथा कालक्रमानुसार उसका अर्थ बदलता रहा है, कभी यह वाक् के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा, कभी शब्द के।

शब्द विभाग से भी पहले अक्षर विभाग था। बहुत सी भाषाओं के प्राचीनतम ग्रन्थों में भी शब्द पृथक नहीं किये गये, अक्षरात्मक लिपि के नियमों के अनुसार एक शब्द के अन्तिम अक्षर की उसके बाद आने वाले शब्द के आदिम अक्षर में सन्धि हो जाती है। भारत के प्राचीन ग्रन्थों में ऐसा ही होता है। साइप्रेस की अक्षरात्मक लिपि में अब भी ग्रीक शब्दों में 'तोरन अड लोरन व तोनअरगुरेड को 'तो न इ लो ने' व 'तो न र कु रो ने' लिखा जाता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि जो कोई भी व्यक्ति किसी वाक्य को सुनकर अथवा बोलकर लिखना चाहता है तो उसके मस्तिष्क में अक्षर विभाग सर्वप्रथम आता है यह सर्वविदित है कि अल्प शिष्ट लोगों को शब्दों को शुद्ध रूप से पृथक करने में कितनी कठिनाई होती है और इसके विरुद्ध उन्हें अक्षर विभाग का ही भाव अधिक रहता है, यह विभाग अधिक प्राकृतिक प्रतीत होता है और शब्द विभाग अंश काल व अध्ययन व अभ्यासप्रिय अभिसमय पर निर्भर होता है।

अक्षर की परिभाषा करना कठिन अवश्य है, किन्तु व्यञ्जनों व स्वरों की उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार इस उदाहरण में अक्षर विभाग का एक नियामक सिद्धान्त निकाला जा सकता है। सब स्वरों का उच्चारण करते समय मुख खुल जाता है। मुख का अपावरण विभिन्न परिणाम का हो सकता है, किन्तु व्यञ्जनों के उच्चारण की अपेक्षा सदा अधिक बड़ा होता है। स्पर्श जैसे कई व्यञ्जनों के उच्चारण में मुख बिल्कुल नहीं खुलता। जिन अन्य व्यंञ्जनों के लिए मुख विवर खुलता है, उनमें संघर्षित का शब्द होता है। जिसका अभिप्राय यह हुआ कि अपावरण बहुत ही संकुचित होता है। अतः हमारे लिए हुए उदाहरण के ध्वनि में अपावरण व आवरण का एक क्रम होता है, कभी-कभी अन्त में आवरण तक हो जाता है। इस परिस्थिति में स्वर अपावरण के अनुरूप और व्यंजन आवरण के स्वरों के उच्चारण से अधिक बढ़ी हुई रेखाएं अंकित होती हैं और जब रेखा नीचे आ पड़ती है तो उसमें उन आवरणों का बोध होता है जो व्यजनों के उच्चारण के समय उस गोले पर अंकित होते हैं।

अक्षर के प्रारम्भ व समाप्तस्थान का निर्णय करना अत्यधिक कठिन है, श्री क्रोचे के विचार में आलोचक के दृष्टिकोण के अनुसार अक्षरता के तीन पक्ष हैं, उनका कथन है—''एक अक्षर के उच्चारण के पश्चात् व दूसरे अक्षर के उच्चारण से पूर्व

कृदन्त रूप बनते है। हिन्दी—चला, चली, चलें, करना, करनी, पाना, पीना, होना होनी आदि Sing, Sang, Sung, ring, rang, rung संस्कृत भृतः, भराति, बभार।

(४६) **अघोषीकरण**—जब घोष ध्वनियों का परिवर्तन अघोष ध्वनियो में हो जाता है, उसे अघोषीकरण कहते हैं, यथा—

मदद—मदत्, परिषद—परिषत्, भाई—पाई, खूबसूरत—खबसूरत, सबब—सबद प्रायः ऐसा बोलचाल की भाषा में अधिक देखा जाता है।

(४७) सादृश्य (Analogy)—शब्दों में एकरूपता लाने की प्रकृति मे सादृश्य का अधिक हाथ रहता है, जहाँ बहुत से रूप थोड़ी विभिन्नता के साथ यदि एक प्रकार के होते है तो मानव सुगमता के कारण उसकी विभिन्नता को दूर करने लगता है, यही सादृश्य भाव कहलाता है, इस प्रकार के शब्दों का परिवर्तन किसी अन्य वर्ण विकारों के नियमों में नहीं आता है क्योंकि परिवर्तन कर लिया जाता है, जैसे संस्कृत में करिन् शब्द मे तृतीया के एकवचन में 'करिणा' बनता है, किन्तु 'हरि' का भी हरिणा बनता है जबकि इसमें न नहीं है। अंग्रेजी शब्द cow का बहुवचन पहले kine होता था, किन्तु अब dogs के आधार पर cows प्रयुक्त होता है, यह सादृश्य का ही प्रभाव है। संस्कृत में नपुंसक लिंग के रूप पुल्लिग से भिन्न हैं, किन्तु प्राकृत में एक से हैं, धीरे २ हिन्दी में नपुसक लिंग ही समाप्त हो गया। हिन्दी मे इसी सादृश्य के कारण लिंग का भी नियम नहीं रहा है, यथा सूर्य शब्द तो हिन्दी में पुल्लिग है, किन्तु संस्कृत का सविता पु० शब्द हिन्दी में लता आदि की तरह सादृश्य के कारण ही स्त्रीलिंग हो गया है, इसी प्रकार शौर्य तथा सौंदर्य पुल्लिग और शूरता तथा सुन्दरता स्त्रीलिंग हो गये है, इस प्रकार और भी परिवर्तन देखे जाते हैं, इसको मिथ्या सादृश्य भी कहते हैं।

(४८) **घोषीकरण**—घोष ध्वनियों का सुकुमारता के कारण उच्चारण सरलता-पूर्वक हो जाता है, कभी कभी इसी उच्चारण सुविधा के कारण इनके संयोग से अन्य ध्वनियां भी घोष हो जाया करती है, यथा—प्रकट—परगट, परक—पाग, शाक—साग, सकल—सगरो, मकर—मगर।

(५०) मध्य स्वरागम (Anaptyxis)—ध्वनियों मे दिशा परिवर्तन दो प्रकार का होता है। प्रथम स्वयंभू (unconditional, spontaneous या incontact) कहते है, इनके विषय मे विशेष रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है, ये भाषा की गतिशीलता के साथ ही उत्पन्न हो जाते हैं, इनके लिए किसी विशेष अवस्था या स्थिति की आवश्यकता नहीं होती है। अनुनासिकता की दशा इसी प्रकार की है, जिसका कोई कारण प्रत्यक्ष रूप से ज्ञात नहीं होता है। दूसरे प्रकार के भेद को conditional or contact अथवा परोद्भूत कहते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन विभिन्न प्रकार से ध्वनियों में होते रहते हैं, जिस प्रकार ध्वनियों में स्वर

और व्यंजनों का लोप होता है, वैसे ही इनका आगम भी होता है। यह लोप अथवा आगम प्रायः अज्ञान, आलस्य अथवा उच्चारण की सुविधा से हुआ करते हैं, जब शब्दों के बीच २ में कभी नवीन स्वरों का आगम हो जाता है, इसी को मध्यस्वरागम अथवा स्वर भक्ति भी कहते हैं, कुछ उदाहरण देकर इसको स्पष्ट किया जाता है। पंजाबी मनुष्यों के उच्चारणों में यह प्रकृति अधिक मिलती है, जैसे स्कूल को सकूल, स्टेशन को सटेशन, स्नान को सनान आदि। संस्कृत में पृथ्वी को पृथिवी, हिन्दी में गाँव के मनुष्यों की बोली में भी ऐसा मिलता है। मर्म=मरम, कर्म=करम, पूर्व=पूरब, धर्म=धरम, गर्म=गरम, प्रजापति=पजापति, कृपा=किरिपा आदि।

(५१) **महाप्राणीकरण**—कभी-कभी ध्वनियों के संसर्ग के कारण अल्पप्राण ध्वनियाँ भी महाप्राण ध्वनियाँ हो जाया करती हैं, यथा—

अक्षि=आँख, पृष्ठ=पीठ, हस्त=हाथ, परशु=फरसा, शेष=सेस, मस्तक=माथा, प्रस्तर=पत्थर, गुद्द=जूझ, गृह=घर आदि।

(५२) **स्वराघात (Accent)**—मुख से उच्चारण करते समय जो वर्णों पर सहसा जोर पड़ता है, उसे बल या स्वराघात कहते हैं। यह आघात निःसृत ध्वनियों की दीर्घता या लघुता पर निर्भर रहता है क्योंकि जिस समय फेफड़ों से वायु बाहर को निकलती है उस समय जितना अधिक धक्का लगता है उतना ही स्वर में परिवर्तन हो जाता है। इस स्वराघात के द्वारा एक ही शब्द का अर्थ परिवर्तित हो जाता है। महाभाष्यकार ने लिखा है कि यदि स्वर में भूल हो जाती है तो अर्थ अनर्थ हो जाता है। 'इन्द्रशत्रु' पद में प्रथम पर स्वराघात करने से इन्द्र रूपी शत्रु मारने वाला यह अर्थ होता है और द्वितीय पर स्वराघात करने से वृत्रासुर अर्थ हो जाता है, वेदों में स्वरों का अधिक महत्व है। स्वराघात तीन प्रकार का होता है—उच्च, मध्य और निम्न। वेदों के स्वराघात उदात्त, अनुदात्त और स्वरित कहलाते हैं। इसका उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है। 'नमस्ते' शब्द में यदि नकार को उदात्त माना जाये और सारे रूप में एक ही स्वर माना जाये तो 'तुम्हें नमस्कार हो' यह अर्थ होगा और यदि 'न' का स्वर अलग हो और 'मस्ते' का अलग हो तो इसका अर्थ बदलकर 'मस्तक पर कुछ धारण नहीं किये हुए है', यह होगा। इस स्वराघात के तीन भेद होते हैं, संगीतात्मक, बलात्मक रूपात्मक। इनका ऊपर विवेचन किया जा चुका है।

(५३) **अल्पप्राणीकरण**—कभी-कभी महाप्राण ध्वनियाँ अल्पप्राण हो जाया करती हैं। यथा—विभूति=भभूत=भबूत, भाफ=भाप, जीभ=जीब, विधि=ब्यद, सिन्धु=हिन्दु, दूध=दूद आदि।

(५४) **समरूपता**—जब दो ध्वनियाँ विशेष रचना के कारण एक दूसरे के अधिक सन्निकट आती हैं उस समय उनमें परस्पर गुणों की अनुरूपता आ जाती है, यथा please और play. हिन्दी में क्रीड़ा, प्रीति। इस समरूपता के भी कई भेद होते हैं।

(५५) ऊष्मीकरण (Assibiaclation)—ध्वनि परिवर्तन की दिशाओं मे ऊष्मीकरण का भी स्थान है। कभी-कभी ध्वनियों का ऊष्म मे परिवर्तन हो जाता है। केन्टुम वर्ग की भाषाओं की 'क' ध्वनि संस्कृत में शतम् हो गई है और इसी आधार पर भारोपीय भाषाए शतम् और केन्टुम वर्गों मे विभाजित कर दी गई है। ध्वनियों का ही परिवर्तन ऊष्मीकरण कहलाता है।

(५६) विषमीकरण—समीकरण के विपरीत है। उच्चरित होने के लिए जो ध्वनि दो बार होनी चाहिए थी वह एक बार ही होती है, जैसे लैटिन "आरबोरेम" के तद्भव स्पेनी "आरबोल व फ्रांसीसी प्रोवांसाल, आलब्रे मे इनके अतिरिक्त, विषमीकरण के फलस्वरूप एक ध्वनिग्राम प्रायः विलुप्त भी हो जाता है : जैसे 'दुफ्रत्तोम' के स्थान पर प्राचीन ग्रीक मे द्रुफक्तोस='लकड़ी का दरवाजा' का प्रयोग। विषमीकरण के उदाहरण निम्न दिये है —

संस्कृत मुकुट, प्राकृत मउड, हिन्दी मौर। संस्कृत मुकुल, प्राकृत मउल, हिन्दी मौर।

(५७) आदि स्वरागम (Prothesis)—ध्वनि परिवर्तन की दिशाओं में लोप, आगम, विपर्यय, समीकरण, विषमीकरण, ऊष्मीकरण, अनुनासिकता, महाप्राणीकरण अल्पप्राणीकरण, अपिश्रुति तथा अभिश्रुति होती है। इनमें आगम का द्वितीय स्थान होता है। यह लोप का उलटा होता है। यह स्वर और व्यंजन दोनों में ही होता है। यह भी आदि, मध्य, अन्त्य एवं सम इस तरह चार प्रकार का होता है। आदि स्वरागमम Prothesis के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं। इनमें स्वर का आगमन शब्द के प्रारम्भ में होता है। स्कूल=इस्कूल, स्तबल=इस्तबल स्नान= अस्नान, स्पोर्ट=इस्पोर्ट, स्काउट=इस्काउट, स्टेशन=इस्टेशन, स्तुति=अस्तुति। इसको पुरोहिति कहते हैं।

(५८) स्थान विपर्यय (Metathesis)—इसकी उत्पत्ति भी समीकरण के समान यथार्थ बोध व असावधानी से ही होती है, परन्तु परिणाम समीकरण की अपेक्षा भिन्न होता है। अतः एक ही शब्द के दो अक्षरों के बीच स्थित व्यञ्जन व स्वरों के परस्पर व्यतिक्रम से स्थान विपर्यय होता है। इसमें कभी कभी शब्दों के वर्णों का आपस में स्थान परिवर्तन हो जाता है। इस परिवर्तन को विपर्यय कहते हैं। यह स्वर, व्यंजन और अक्षर तीनों में होता है। पार्श्ववर्त्ती और दूरवर्त्ती इनके दो भेद है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

पार्श्ववर्त्ती स्वर विपर्यय—कुछ-कुछ उल्का=लूका, आम्लक=इमली।

दूरवर्त्ती स्वर विपर्यय—फाटक=फटका, पागल=पगला।

पार्श्ववर्त्ती व्यंजन विपर्यय—चिह्न=चिन्ह, गृह=घर, ब्रह्म=ब्रह्म।

दूरवर्त्ती व्यंजन विपर्यय—जलधी=जधेली, वाराणसी=बनारस, नुकसान= नुस्कान, नमक=नगमा, पिशाच=पिचास।

इनको प्रत्याहार भी कहते हैं। निम्नांकित चित्रावली से संस्कृत वर्णों को स्पष्ट किया जाता है—

संस्कृत ध्वनियाँ

स्वर		समानाक्षर	अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ
		संध्याक्षर	ए ऐ ओ औ
व्यंजन	स्पर्श	कण्ठ्य	क ख ग घ ङ
		तालव्य	च छ ज झ ञ
		मूर्धन्य	ट ठ ड ढ ण
		दन्त्य	त थ द ध न
		ओष्ठ्य	प फ ब भ म
	स्पर्शेतर	अन्तःस्थ	य र ल व (ळ ळ्ह वैदिक)
		ऊष्मा	श ष स ह

वर्णों का स्थान —

अ, क, ख, ग, घ, ङ, ह, विसर्ग — कण्ठ
इ, च, छ, ज, झ, ञ, य, श — तालु
उ, प, फ, ब, भ, म, ⌣प, ⌣फ — ओष्ठ
ऋ, ट, ठ, ड, ढ, ण, र, ष — मूर्धा
लृ, त, थ, द, ध, न, ल, स — दन्त
(ञ, म, ङ, ण और न के उच्चारण में नासिका का भी प्रयोग होता है)
ए, ऐ — कण्ठतालु
ओ, औ — कण्ठोष्ठ
व — दन्तोष्ठ
⌣क, ⌣ख — जिह्वामूल
अनुस्वार — नासिका

प्रयत्न की दृष्टि से संस्कृत वर्णों के ५ आभ्यंतर और ११ बाह्य यत्न होते हैं जिनका वर्णन हम ध्वनि-विज्ञान के उल्लास में कर चुके हैं।

पाणिनि की अष्टाध्यायी

पाणिनि की सर्वोत्कृष्ट रचना अष्टाध्यायी है। यह लौकिक संस्कृत का सर्वोत्कृष्ट व्याकरण है। इसमें साथ ही साथ वैदिक व्याकरण भी दिया गया है। [illegible] सूत्र पद्धति में लिखा गया है। अतः पाणिनि को 'सूत्रकार' भी कहा जाता है, ये सूत्र इतने सुगठित हैं कि इनमें एक वर्ण या एक मात्रा का भी परिवर्तन नहीं किया जा

सकता। ढाई सहस्र वर्ष बाद भी अष्टाध्यायी में कोई पाठभेद आदि नहीं मिलते हैं। अष्टाध्यायी में आठ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। अनेक ग्रन्थ की सूत्रों की संख्या में पर्याप्त भेद है। इसको अष्टाध्यायी, अष्टक और पाणिनीय भी कहते हैं, किन्तु प्रचलित नाम अष्टाध्यायी ही है। १४ प्रत्याहार सूत्रों को मिलाकर इसकी सूत्र संख्या ३९९५ मानी जाती है और सभी लेखकों ने उतनी ही संख्या लिखी है। वास्तविक गणना से ज्ञात होता है कि १४ प्रत्याहार सूत्रों (अ इ उ ण्) आदि को लेकर कुल सूत्र संख्या ३९९७ है न कि ३९९५। अध्यायों के क्रम से सूत्र संख्या इस प्रकार है—(१) ३५१, (२) २६८, (३) ६३१, (४) ६३५, (५) ५५५, (६) ७३६, (७) ४३८, (८) ३६६=३९८३+१४ प्रत्याहार सूत्र=३९९७ सूत्र संख्या। अष्टाध्यायी प्रत्याहार या माहेश्वर सूत्रों को आधार मानकर चली है। पाणिनि ने प्रथम और अन्तिम अक्षरों को लेकर अनेक प्रत्याहार बनाये हैं। अष्टाध्यायी में बीच-बीच में अधिकार सूत्र दिये गये हैं। निश्चित स्थान तक अधिकार सूत्रों का अधिकार चलता है। संक्षेप के लिये पाणिनि ने गणपाठों का उपयोग किया है। यदि एक ही कार्य अनेक शब्दों में होना है तो सभी शब्दों को न देकर 'आदि' शब्द लगाकर गण बना दिया है। अष्टाध्यायी में २५८ गणपाठ वाले सूत्र हैं। पाणिनि की अन्य रचनाओं में धातुपाठ, गणपाठ, उणादि सूत्र और लिङ्गानुशासन की भी गणना है। अष्टाध्यायी की पूर्णता के लिए इन चारों की रचना भी अनिवार्य थी। धातुपाठ में धातुओं के साथ जो अनुबन्ध लगे हैं, तदनुसार ही पाणिनि ने सूत्र भी बनाये हैं। धातुपाठ में धातुएँ दी गयी हैं और साथ में उनका अर्थ दिया है। गणपाठ भी पाणिनि की कृति है। जिन शब्दों में एक कार्य (प्रत्यय आदि) होना है उन्हें एक गण में रखा गया है। इस प्रकार सभी शब्दों की गणना की आवश्यकता नहीं होती है। एक शब्द के बाद 'आदि' शब्द लगाने से काम चल जाता है।

उणादि सूत्र—यह कृत-प्रकरण का एक अंश है। इसमें धातु से कुछ प्रत्यय लगाकर संज्ञा, विशेषण आदि शब्द बनाये जाते हैं।

लिङ्गानुशासन—इसमें शब्दों के लिङ्ग के विषय में विस्तृत शिक्षा दी है। इसमें १८८ सूत्र हैं। इनको ६ भागों में बाँटा है—धातुपाठ, गणपाठ, उणादि सूत्र और लिङ्गानुशासन, ये चारों अष्टाध्यायी के ४ परिशिष्ट के रूप में हैं। अतः इनके प्रणेता पाणिनि ही हैं।

प्रातिशाख्य

व्याकरण का जो सूत्रपात वैदिक युग में हुआ था, उसका पर्याप्त विकास ब्राह्मण युग में हुआ। इस युग में बहुत से पारिभाषिक शब्द विकसित हुये, जिनका पाणिनि व्याकरण में प्रयोग प्राप्त होता है। गोपथ ब्राह्मण में निम्नलिखित पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग मिलता है—धातु, प्रातिपदिक, आख्यात, लिङ्ग, वचन, विभक्ति, प्रत्यय, स्वर, उपसर्ग, निपात, व्याकरण, विकार, मात्रा, वर्ण, अक्षर, पद, संयोग, स्थान, नाद आदि।

मैत्रायणी संहिता में विभक्ति संज्ञा का उल्लेख मिलता है और उनकी संख्या ६ बताई गयी है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में वाणी का ७ भागों (विभक्तियों) में विभाजन का वर्णन मिलता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में शब्दों के निर्वचन के सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों को निरुक्त का आधार ग्रन्थ कह सकते हैं। निर्वचन, व्युत्पत्ति और अर्थ मीमांसा का इस युग में बहुत विकास हुआ।

उसके पश्चात् वेदों की प्रत्येक शाखा के लिये 'प्रातिशाख्य' नामक व्याकरण के ग्रन्थ लिखे गये। प्रति (प्रत्येक) शाखा से 'प्रातिशाख्य' शब्द बना। प्रातिशाख्यों में प्रत्येक वेद की विभिन्न शाखा के लिये व्याकरण के नियम दिये गये हैं। इनमें वर्णोच्चारण-शिक्षा, संहिता-पाठ को पद पाठ में बदलना और पदपाठ को संहिता-पाठ में बदलना, सन्धि विधान, उदात्त आदि स्वरों का विधान, समस्त पदों का विभाजन, स्वर संचार तथा शाखा विशेष से सम्बद्ध सभी विषयों का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। इसी समय शाकल्य मुनि ने संहिता ग्रन्थों के पदपाठ का क्रम प्रस्तुत किया।

प्रातिशाख्यों को व्याकरण का प्रारम्भिक रूप समझना चाहिए। प्रातिशाख्यों में व्याकरण के जो पारिभाषिक शब्द मिलते हैं, उनमें से अधिकांश पारिभाषिक शब्दों को परकालीन वैयाकरणों ने उसी रूप में अपने ग्रन्थों में स्वीकार कर लिया है। पाणिनि ने 'अष्टाध्यायी' में शुक्लयजुः प्रातिशाख्य के उपधा, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और आम्रेडित आदि शब्दों को जैसे का तैसा स्वीकार कर लिया है और उसके कुछ सूत्रों को भी थोड़े परिवर्तन के साथ स्वीकार किया है। इस प्रातिशाख्य को पाणिनि से पूर्ववर्ती माना जाता है। प्रातिशाख्यों में 'ऋक्प्रातिशाख्य' को सबसे प्राचीन माना जाता है और यह पाणिनि से पूर्ववर्ती है, कुछ प्रातिशाख्य यास्क से भी प्राचीन हैं। इसके पश्चात् विशेष उल्लेखनीय ग्रन्थ यास्क का 'निरुक्त' है। यह 'निघण्टु' नामक वैदिक शब्दों के संग्रह पर एक विवेचनात्मक ग्रन्थ है। इसमें निर्वचन के नियमों का विशेष विस्तार के साथ प्रतिपादन किया गया है। 'निघण्टु' के प्रत्येक शब्द की व्याख्या के लिये वे वैदिक मन्त्र प्रस्तुत करते हैं और निर्वचनमूलक उनका अर्थ करते हैं। साथ ही विशिष्ट शब्दों का निर्वचन प्रस्तुत करते हैं। इसमें सैकड़ों शब्दों के निर्वचन दिये गये हैं। यास्क ने अपने पूर्ववर्ती कई आचार्यों शाकटायन, शाकल्य, शाकपूर्णि, औदुम्बरायण आदि का उल्लेख भी किया है।

(क) १० प्रातिशाख्य हैं—(१) ऋक्प्रातिशाख्य (शौनक कृत, (२) वाजसनेय प्रातिशाख्य (कात्यायनकृत), (३) सामप्रातिशाख्य (पुष्पसूत्र), (४) अथर्व प्रातिशाख्य, (५) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, (६) मैत्रायणीय प्रातिशाख्य, (७) आश्वलायन प्रातिशाख्य, (८) बाष्कल प्रातिशाख्य, (९) शांखायन प्रातिशाख्य, (१०) चारायण प्रातिशाख्य।

निरुक्त—'निरुक्त' के रचयिता यास्क थे। इनका समय ७०० ई० पू० माना जाता है। प्राचीन काल से 'निघण्टु' नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है, यास्क ने इन्हीं के ऊपर 'निरुक्त' नाम से भाष्य लिखा। 'निरुक्त' में स्पष्ट किया है—

ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते ।
अल्पो महांश्च केषांचिदुभयं तत्स्वभावतः ॥ महाभाष्य १।१।६७

[स्फोट शब्द है और ध्वनि शब्द का गुण है अर्थात् शब्द में स्फोट और ध्वनि दोनों रहते हैं। इन दोनों में से ध्वनि ही प्रत्यक्ष होती है। हम जिस स्वर को छोटा या बड़ा, बहुत या तनिक समझते हैं वह ध्वनि ही है। कभी-कभी स्फोट और ध्वनि दोनों ही प्रत्यक्ष होते हैं, जैसे मनुष्य की व्यक्त वाग्ध्वनि में स्फोट और ध्वनि दोनों का ज्ञान होता है। घण्टे आदि की अव्यक्त ध्वनि में केवल ध्वनि का ही ज्ञान होता है किन्तु स्फोट और ध्वनि दोनों सब स्थानों पर स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहते हैं। जैसे एक थाप देने से नगाड़े का शब्द समान दूरी तक नहीं जाता वरन् थाप की मात्रा से कोई ध्वनि थोड़ी दूर तक जाती है कोई अधिक दूर तक, कोई देर तक ठहरती है कोई थोड़े समय तक, किन्तु थाप से उत्पन्न ध्वनि का स्फोट सदा एक सा ही होता है, किन्तु उसकी वृद्धि या कमी केवल ध्वनि के कारण होती है]।

तात्पर्य यह है कि ध्वनि ही स्फोट की व्यञ्जक या बोध कराने वाली होती है। शब्द स्फोट होता है और ध्वनि उसका व्यंजक है। उस व्यंजक ध्वनि में ही वृद्धि और कमी दिखाई पड़ती है। ध्वनि को इसीलिये शब्द का गुण बताया गया है कि वह स्फोट को प्रकट करती है। स्फोट से ध्वनि की उत्पत्ति होती है इसलिये इनमें कार्य-कारण सम्बन्ध है अर्थात् स्फोट कारण है ध्वनि कार्य है। इनमें से ध्वनि तो कान से सुनी जाती है और स्फोट का ज्ञान ग्रहण बुद्धि से किया जाता है। इसलिये अर्थ ज्ञान की दृष्टि से दोनों की आवश्यकता होती है।

स्फोट और ध्वनि में भेद बताते हुए व्याकरण लिखने वालों ने कहा है कि स्फोट कारण है और ध्वनि कार्य है।

स्फोट और ध्वनि का सम्बन्ध—

पतञ्जलि ने स्फोट को सदा रहने वाला शब्द (नित्य शब्द) तथा सदा रहने वाला सम्बन्ध (नित्य सम्बन्ध) माना है और कहा है कि यह स्फोट ही प्रतिभा या वह शक्ति है जो शब्द में रहने वाले अर्थ को चमकाती चलती है। शब्द में यही अर्थ चमकाने या अर्थ निकालने की शक्ति भरना ही ध्वनि है। व्याकरण लिखने वाले मानते हैं कि शब्द ही अपने आप में स्फोट और ध्वनि का मेल है, न स्फोट के बिना ध्वनि रह सकती है, न ध्वनि के बिना स्फोट रह सकता है। स्फोट ही शब्द है और ध्वनि ही उसका गुण है। स्फोट ही आकाश है और ध्वनि ही उसका गुण है।

वैयाकरणों ने—(१) वर्ण स्फोट, (२) पद स्फोट, (३) वाक्य स्फोट, (४) अखण्ड पद स्फोट, (५) अखण्ड वाक्य-स्फोट, (६) वर्ण जाति-स्फोट, (७) पद जाति स्फोट, (८) वाक्य जाति स्फोट, इन आठों में वाक्य स्फोट को ही सबसे अधिक सत्य और ठीक माना है। भट्टोजि दीक्षित, कौण्ड भट्ट, नागेश, श्रीकृष्ण, मण्डन मिश्र, शङ्कराचार्य और भरत मिश्र आदि सभी आचार्यों ने माना है कि स्फोटवाद ही ठीक मत है जिसमें वाक्य स्फोट ही सबसे दृढ़ और सच्चा है।

स्फोट और ध्वनि में अन्तर—

वैयाकरणों ने स्फोट और ध्वनि का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है कि स्फोट कारण है और ध्वनि कार्य है। कान से जो कुछ सुना जाय वह ध्वनि कहलाती है जैसे 'घोड़ा' शब्द किसी के मुँह से निकलने पर जो दो वर्ण सुनाई पड़ें वही ध्वनि है। इन दो वर्णों का शब्द सुनकर श्रोता अपने पूर्व ज्ञान या बुद्धि के आधार पर वेग से चलने वाले चार पैरों वाले जीव की प्रतीति कर लेता है। यह प्रतीति ज्ञान वाला अर्थ ही 'स्फोट' है। पतञ्जलि का मत है कि अर्थज्ञान के लिए 'स्फोट' और 'ध्वनि' दोनों आवश्यक हैं। भारतीय वैयाकरण यह भी मानते हैं कि वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ के सूचक वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक शब्द अथवा इनकी जाति को ही स्फोट कहते हैं अर्थात् वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक शब्द ही स्फोट है। बहुत तर्क और विचार करने पर अधिकांश भारतीय वैयाकरणों का यही मत स्थिर हुआ कि 'वाक्य स्फोट' ही प्रधान और कूटस्थ है।

बृहस्पति—

ब्रह्मा के बाद व्याकरण शास्त्र के प्रवक्ता बृहस्पति हुए, ब्राह्मण-ग्रन्थों में जिन्हें देवों का पुरोहित कहा गया है वे अर्थशास्त्रकार थे और 'अंगदतन्त्र' का रचयिता भी उन्हें माना गया है। व्याकरण के क्षेत्र में उनकी रचना का कहीं भी उल्लेख नहीं हुआ है किन्तु 'ऋक्तंत्र' के अतिरिक्त 'महाभाष्य' के इस उद्धरण से कि बृहस्पति ने इन्द्र के लिए प्रतिपद-पाठ-द्वारा शब्दोपदेश किया था ये अंगिरस् के पुत्र होने से अंगरिस भी कहे जाते हैं। बृहस्पति ने इन्द्र को व्याकरण की शिक्षा दी और एक हजार दिव्य-वर्ष तक प्रत्येक पद का पृथक् विवेचन बताते रहे फिर भी व्याकरण समाप्त नहीं हुआ। इन्होंने जो व्याकरण बनाया था, उसका नाम शब्द-परायण' था।

> इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः ।
> पाणिन्यमरजैनेन्द्राः जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः ॥
> शब्दपारायणशब्दो योगरूढः शास्त्रविशेषस्य (कैयट, प्रदीपनव, पृष्ठ ५१)

इन्द्र—

इन्द्र भी व्याकरण का प्रवक्ता था। उसने बृहस्पति से प्रतिपद-पाठ द्वारा शब्दोपदेश का विशेष ज्ञान प्राप्त किया था, किन्तु उसके सम्बन्ध में एक विशेष बात यह है कि उसने पदों के प्रकृति-प्रत्यय आदि विभाग द्वारा शब्दोपदेश-प्रक्रिया की कल्पना द्वारा परंपरागत व्याकरण-ज्ञान का संस्कार भी किया। उसने पुरा-काल की अव्याकृत वाणी को प्रकृति-प्रत्ययादि संस्कारयुक्त किया। व्याकरण के लिए इन्द्र की यह विशेष देन थी, उनसे पहले केवल प्रतिपद-पाठ का प्रचलन था। प्रकृति प्रत्यय के विभाजन के द्वारा व्याकरण थोड़े नियमों में पूरा हो गया और थोड़े समय में सीखा जाने लगा। इसका सारा श्रेय इन्द्र को है। ऋक्तन्त्र (१-४) के अनुसार इन्द्र ने

भरद्वाज को शब्द शास्त्र का शिक्षा दी। यह व्याकरण ही आगे ऐन्द्र व्याकरण के नाम से प्रचलित हुआ।

ऐन्द्र व्याकरण आजकल प्राप्त नहीं होता है, किन्तु अनेक ग्रन्थों मे इसका उल्लेख मिलता है। जैन शाकटायन व्याकरण (१-२-३७) लङ्कावतारसूत्र, सोमेश्वर सूर-रचित यशस्तिलकचम्पू (आश्वास १, पृष्ठ ९०), अल्बेरुनी की भारतयात्रा का वर्णन आदि में ऐन्द्र व्याकरण का निर्देश मिलता है। कथासरित्सागर के अनुसार ऐन्द्र व्याकरण प्राचीन समय में ही नष्ट हो गया था। ऐन्द्र व्याकरण के कुछ सूत्रों आदि का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। ऐन्द्र व्याकरण ग्रन्थ अत्यन्त विस्तृत था। तिब्बतीय ग्रन्थों के अनुसार ऐन्द्र व्याकरण का परिमाण २५ हजार श्लोक था।

(क) अथवर्णसमूहः, इति ऐन्द्रव्याकरणस्य (भट्टारक हरिचन्द कृत चरकव्याख्या)। (ख) अर्थः पदम्, इत्यैन्द्राणाम् (दुर्गाचार्य, निरुक्तवृत्ति का प्रारम्भ)। (ग) संप्रयोग प्रयोजनम् ऐन्द्रेऽभिहितम् (नाट्यशास्त्र १४-३२ की टीका में अभिनवगुप्त)। (घ) तथा चोक्तमिन्द्रेण-(नन्दिकेश्वर की काशिका पर महत्वविमर्शिनी टीका)

शब्दपारायणशब्दो योगरूढः शास्त्रविशेषस्य (कय्यट, प्रदीप नवा, पृष्ठ ५१)

व्याडि—

आचार्य व्याडि इस परम्परा के १२वें वैयाकरण हैं जो पाणिनि के पूर्ववर्ती थे, किन्तु पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में जिनका उल्लेख नहीं मिलता है। शौनक ऋषि के 'ऋक्प्रातिशाख्य' में इनके मत उद्धृत हैं। व्याडि का दूसरा नाम दाक्षायण था। वामन ने 'काशिका' में उसको दाक्षि के नाम से स्मरण किया है। इन्हें पाणिनि का ममेरा भाई माना जाता है, किन्तु वास्तव में वह पाणिनि का मामा था। उसने एक बड़ा अष्टाध्यायी व्याकरण की रचना की थी। आचार्य व्याडि प्राचीन महावैयाकरण हैं। ऋक्प्रातिशाख्य में आचार्य शौनक ने व्याडि के अनेक मत उद्धृत किए हैं। शौनक ने ही शाकल्य और गार्ग्य के साथ ही व्याडि का भी उल्लेख किया है। महाभाष्य (६-२-३६) में आपिशलि और पाणिनि के शिष्यों के साथ व्याडि के शिष्यों का भी उल्लेख है। व्याडि के ही अन्य दो नाम दाक्षायण और दाक्षि हैं, इनकी बहिन दाक्षी थी।

आचार्य व्याडि का परिचय एक संग्रहकार के रूप में अधिक विश्रुत है। पाणिनि से पूर्ववर्ती वैयाकरण आचार्यों की परम्परा में व्याडि का स्थान बहुत ऊँचा है। उनकी असाधारण विद्वत्ता के परिचायक उनके ग्रन्थ हैं। व्याडि का अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ 'संग्रह' था। यह 'वाक्यपदीय' के ढंग का प्राचीन व्याकरण-दर्शन का ग्रन्थ था। इसमें व्याकरण का दार्शनिक विवेचन था, पतंजलि (महा० १-२-६४) ने व्याडि को द्रव्यपदार्थवादी बताया है, 'द्रव्याभिधानं व्याडिः'।

व्याड्युपरचितं लक्षग्रन्थपरिमाणं संग्रहमभिधानं निबन्धमारोह् । (वाक्यप० टीका, पृ० २८३) । संग्रहो व्याडिकृतोलक्षश्लोक संख्यो ग्रन्थ इति प्रसिद्धिः (नागेश, उद्योत) ।

आपिशलि—

आपिशलि व्याकरण के बहुत बड़े आचार्य थे । ('अष्टाध्यायी', 'महाभाष्य', 'न्यास' और 'महाभाष्य प्रदीप' आदि ग्रन्थों से उनके बहुचर्चित व्यक्तित्व का परिचय सहज ही में उनकी महानता का पता लग जाता है । हाल ही में आपिशलि को याज्ञवल्क्य का श्वसुर लिखा है, उनकी यह बात चिन्तनीय है । अनेक प्रमाणों को देखकर मीमांसकजी ने यह सिद्ध किया है कि आपिशलि का स्थिति काल विक्रम से कम से कम २९०० वर्ष पूर्व था । आपिशलि बहुत प्रसिद्ध वैयाकरण थे । अतः उस समय व्याकरण की पाठशालाओं को आपिशल-शाला कहते थे । पद मंजरीकार हरदत्त के लेख से ज्ञात होता है कि पाणिनि से ठीक पहले आपिशलि का ही व्याकरण प्रचलित था । महाभाष्य (४-१-१४) से ज्ञात होता है कि कात्यायन और पतंजलि के समय में भी आपिशलि व्याकरण का पर्याप्त प्रचार था । मूल 'अष्टाध्यायी' व्याकरण-ग्रन्थ के अतिरिक्त आपिशलि के 'धातुपाठ', 'गणपाठ', 'उणादिसूत्र' और 'शिक्षा ग्रन्थ' उपलब्ध है ।

शाकटायन—

पाणिनि ने तीन सूत्रों में शाकटायन का उल्लेख किया है । वाजसनेय प्रातिशाख्य और ऋक्प्रातिशाख्य में अनेक स्थानों पर शाकटायन का उल्लेख है ।

व्याकरणे शकटस्य च तोकम् (महा० ३-३-१) वैयाकरणानां शाकटायनो० (महा० ३-२-११५)

वैयाकरणानां शाकटायनो रथमार्ग आसीनः शकटसार्थं यान्तं नोपलेभे (महा० ३-२-११५)

पतंजलि ने शाकटायन को व्याकरण का आचार्य माना है । इनके पिता का नाम शकट था, अतः पतंजलि ने इन्हें शकट-तोक या शकट-पुत्र कहा है । शाकटायन महान् वैयाकरण और उच्चकोटि के साधक तथा योगी थे ।

पं० गोपीनाथ भट्ट ने दो शाकटायन नामक व्यक्तियों का उल्लेख किया है—एक वाध्र्यश्ववंश्य और दूसरा काण्ववंश्य । मीमांसक जी ने काण्ववंशीय शाकटायन को वैयाकरण शाकटायन माना है । उसका स्थिति काल ३१०० वि० पूर्व था । शाकटायन ने व्याकरण पर अपूर्व ग्रन्थ लिखा था । वह बहुज्ञ था, उसने 'दैवत-ग्रन्थ', 'कोश', 'ऋक्तंत्र', 'लघुऋक्तन्त्र', 'सामतंत्र', 'पंचपादी उणादिसूत्र' और 'श्राद्धकल्प' आदि अनेक ग्रन्थ लिखे ।

आचार्य पाणिनि—

पाणिनि ने अपने विषय में कहीं पर भी कुछ नहीं लिखा है । अन्य किसी प्रामाणिक लेखक ने भी पाणिनि के समय के विषय में स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है,

प्रश्न इस विषय में पर्याप्त मतभेद है। श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने 'संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास' में विस्तृत विवेचन के बाद पाणिनि का समय २९०० विक्रम पूर्व (लगभग २८५० ई० पू०) निर्धारित किया है। डा० गोल्ड-स्टूकर ने अपनी पुस्तक 'पाणिनि' में पाणिनि का समय ७वीं शती ई० पू० निश्चित किया है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपने प्रसिद्ध शोध-प्रबन्ध 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' में अब तक उपलब्ध सभी मतों की विस्तृत आलोचना करते हुए पाणिनि का समय ४५० ई० पू० के मध्य अर्थात् ५वीं शती ई० पू० माना है।

पाणिनि के गुरु का नाम वर्ष था। माहेश्वर को भी पाणिनि का एक गुरु कहा गया है, जिसका कोई आधार नहीं मिलता है। पाणिनि के अनेक शिष्य भी थे। परन्तु कौत्स का नाम ही निश्चित रूप में उपलब्ध है। शालातुरीय होने से पाणिनि को शालातुर ग्राम का निवासी बताया गया है, जो कि अटक के समीप लाहुर नामक स्थान के आसपास है, किन्तु आधुनिक खोजों से यह निष्कर्ष निकला है कि शालातुर पाणिनि का जन्मस्थान न होकर उनके पूर्वजों का निवास-स्थान था। पाणिनि का जन्म वाहीक देश अथवा उसके समीप हुआ था।

पाणिनि के जन्मकाल और उनके जन्मस्थान के सम्बन्ध में बड़ा विवाद है। पाणिनि पर सैकड़ों लेख और अनेक बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे गये है, किन्तु उनके सम्बन्ध में विद्वान् अब भी एकमत नहीं है।

पाणिनि को लौकिक संस्कृत का पहला वैयाकरण माना जाता है। यद्यपि उन्होंने स्वयं अपने पूर्ववर्ती दो सूत्रकारों-पाराशर्य तथा शिलालि के नाम और क्रमशः उनके द्वारा विरचित 'भिक्षुसूत्र' एवं 'नटसूत्र' का उल्लेख किया है। इससे विदित होता है कि पाणिनि को उक्त सूत्र-ग्रन्थ उपलब्ध थे और इतने प्राचीन काल मे व्याकरणशास्त्र के साथ-साथ नाट्यशास्त्र पर भी सूत्र-ग्रंथों का निर्माण हो चुका था। पाणिनि का ग्रन्थ यद्यपि सर्वांगीण एवं प्रामाणिक कृति है, फिर भी उसको देखकर यह विश्वास होता है कि उसके मूल में अवश्य ही ऐसे कतिपय ग्रन्थ रहे होंगे, जिनके पदचिह्नों पर चलकर पाणिनि इतना महाग्रन्थ तैयार कर सके।

पाणिनि अत्यन्त सम्पन्न परिवार के थे। वे छात्रों के भोजनादि की भी व्यवस्था करते थे। पाणिनि की मृत्यु के विषय में पंचतन्त्र मे उद्धृत एक श्लोक के आधार पर किंवदन्ती है कि वैयाकरण पाणिनि को एक शेर ने मारा था। इस श्लोक में जैमिनि की मृत्यु हाथी से और पिंगल की मृत्यु मगर से बताई है। किंवदन्ती है कि पाणिनि की मृत्यु त्रयोदशी को हुई थी। अतः वैयाकरण त्रयोदशी को अनध्याय रखते है।

'सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिनेः" (पंचतन्त्र, मित्र संप्राप्ति, श्लोक ३६)।

अ[illegible] ने लिखे। इत्सिंग ने अपने भारतयात्रा विवरण में जयादित्य की मृत्यु का ७१८ वि० में उल्लेख किया है। जयादित्य का यह अन्तिम समय था। संस्कृत-साहित्य में वामन नाम के अनेक ग्रन्थकार हुए। 'विश्रांतविद्याधर' नामक जैन व्याकरण का रचयिता, प्रसिद्ध अलंकार शास्त्री और 'लिंगानुशासन' का रचयिता 'काशिका' का रचयिता चौथा ही वामन है। वामन के स्थितिकाल और जन्म स्थान के विषय में कहीं भी उल्लेख नहीं है, किन्तु इतना स्पष्ट है कि 'काशिका' की रचना वाराणसी में हुई। काशिका में अनेक प्राचीन वैयाकरणों के मतों के उल्लेख है। इस दृष्टि से 'काशिका' का ऐतिहासिक महत्व भी है। यह ग्रन्थ इतना प्रसिद्ध हुआ कि इस पर अनेक टीकाएँ भी लिखी गयी हैं। इनमें से आचार्य जिनेन्द्र बुद्धि (७२५-७५० वि०) कृत 'काशिका विवरण पंजिका' या 'न्यास' तथा हरदत्तमिश्र (१११५ वि०) कृत 'पदमञ्जरी' टीकाएँ विशेष प्रसिद्ध हैं।

पतञ्जलि—

पतञ्जलि ने महाभाष्य में कतिपय ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेख किया है। इससे पतञ्जलि का समय निश्चित करने में सहायता मिलती है। पतंजलि ने तीन स्थानों पर मौर्यों का उल्लेख किया है—वृषल (मौर्य), वृषलकुलम् और मौर्य 'मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्चाः प्रकल्पिताः (महा० ५-३-९९)। नागेश—विक्रेतुं प्रतिमाशिल्पन्तः'। इसमें मौर्यों का स्पष्ट उल्लेख है। इस उद्धरण से यह भी ज्ञात होता है कि मौर्य राजाओं ने राजकीय आय बढ़ाने के लिये सुवर्ण-संग्रहार्थ देव-प्रतिमाओं की रचना कराई और मूर्ति पूजा का आरम्भ किया। अतः पतंजलि का समय मौर्यों के बाद होना चाहिए। पतञ्जलि ने पुष्यमित्र का स्पष्ट उल्लेख किया है और उसका वर्तमान काल (लट्) में प्रयोग किया है। इह पुष्यमित्र याजयामः (महा० ३-२-१२३), पुष्यमित्रो यजते, याजका याजयन्ति (३-१-२६) पुष्यमित्र सभा, चन्द्रगुप्त सभा (१-१-६८)। इससे ज्ञात होता है कि पतंजलि पुष्यमित्र (१५० ई० पू०) के समय में हुए थे।

पतंजलि एक महान विचारक मनस्वी था। व्याकरण के क्षेत्र में नये युग का निर्माण कर अपनी असामान्य प्रतिभा की छाप वह आगे की पीढ़ियों के लिए छोड़ गया। उसको पाणिनीय व्याकरण का अद्वितीय व्याख्याता कहा जाता है, किन्तु उसकी सूक्ष्म सूझ और उसके मौलिक विचार सर्वत्र ही उसको एक स्वतंत्र विचारक की पंक्ति में खड़ा करते हैं। पाणिनि का वह कटु आलोचक भी था, इस प्रकार निर्भीकता और अप्रतिबद्ध आचरण पांडित्य का ही एक अलंकरण या विशेषण है। पतंजलि वैयाकरण भी था ही इसके अतिरिक्त उतना ही अधिकार उसका सांख्य, योग, न्याय, आयुर्वेद, कोश, रसायन और यहाँ तक कि काव्यादि विषयों पर भी था।

रचनाएँ—

पतञ्जलि की प्रमुख रचनाएँ ये हैं—(१) महाभाष्य (अष्टाध्यायी की विस्तृत व्याख्या), (२) पातञ्जल-योगसूत्र (योग दर्शन), (३) सामवेदीय निदान सूत्र,

रचनाएं —

भट्टोजि दीक्षित के ३ ग्रन्थरत्न प्रसिद्ध हैं—(१) शब्द कौस्तुभ (अष्टाध्यायी के सूत्रों पर टीका), (२) सिद्धान्त कौमुदी, (३) प्रौढ़ मनोरमा (सिद्धान्त कौमुदी की व्याख्या)। लिंगानुशासन पर 'लिंगानुशासन वृत्ति' टीका और दार्शनिक सिद्धान्तो के प्रतिपादनार्थ 'वैयाकरणमतोन्मज्जन' नामक काव्य ग्रन्थ भी इनकी ही कृति माने जाते है। भट्टोजि की सर्वप्रथम रचना 'शब्दकौस्तुभ' है। यह पूरी अष्टाध्यायी पर था।

'सिद्धान्त कौमुदी' की प्रसिद्धि के कारण इस पर अनेक टीकाएँ लिखी गयी। स्वयं भट्टोजि ने प्रौढमनोरमा टीका लिखी। इनके पौत्र हरिदीक्षित ने 'बृहच्छब्दरत्न' और 'लघुशब्दरत्न' दो टीकाएँ लिखी। ज्ञानेन्द्र सरस्वती (१५५०-१५६० वि०) ने कौमुदी की 'तत्त्व-बोधिनी' टीका लिखी। ज्ञानेन्द्र सरस्वती के शिष्य नीलकंठ बाजपेयी (१६००-१६५० के मध्य) ने कौमुदी पर 'सुख-बोधिनी' टीका लिखी। रामानन्द (१६८०-१७२० वि०) ने कौमुदी पर 'तत्त्व दीपिका' टीका लिखी।

नागेश भट्ट—

नागेश भट्ट का नाम व्याकरण के इतिहास में शीर्षस्थानीय विद्वानों की श्रेणी में आता है। अपने युग के ये विख्यात विद्वान् थे। व्याकरण के अतिरिक्त दर्शन, धर्म और ज्योतिष के क्षेत्र में भी इनकी ख्याति थी। इनके पिता का नाम शिव भट्ट और माता का नाम सतीदेवी था। ये महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। इनका उपनाम नागोजि भट्ट था। भट्टोजि दीक्षित के पुत्र हरिदत्त दीक्षित इनके व्याकरण गुरु और वैद्यनाथ पायगुंडे इनके शिष्य थे। ये शृंगवेरपुर के राजा रामसिंह के सभा-पंडित थे।

रचनाएं —

इन्होंने केवल व्याकरण पर लगभग १ दर्जन ग्रन्थ लिखे हैं। इनकी प्रमुख रचनाये ये हैं—(१) प्रदीपोद्योत या उद्योत (महाभाष्य पर प्रदीप की टीका), (२) लघुशब्देन्दुशेखर (प्रौढ मनोरमा की व्याख्या), (३) बृहच्छब्देन्दुशेखर (प्रौढ मनोरमा की विस्तृत व्याख्या)। ये दोनों एक ही ग्रन्थ के लघु और बृहत् रूप है। (४) परिभाषेन्दु शेखर (पाणिनीय व्याकरण की परिभाषाओं की व्याख्या करने वाला प्रामाणिक ग्रन्थ), (५) मंजूषा, (६) लघुमंजूषा, (७) परमलघु मंजूषा (इन तीनो में व्याकरण के दार्शनिक पक्ष का विवेचन है), (८) स्फोटवाद (इसमे स्फोटवाद का विवेचन है), (९) महाभाष्य प्रत्याख्यान संग्रह।

संसार की वर्तमान प्रमुख भाषाओं का संक्षिप्त विवरण

(१) **जर्मन परिवार**—इंगलिश, जर्मन, डच, फ्लैमिश, अफ्रीकन्स, फ्रीजियन तथा स्केन्डिनेवियन, स्वीडिश, नार्वेजियन, डेनिश इस वर्ग की पुरानी भाषाओं में गॉथिक, प्राचीन नोर्स, एंग्लो-सैक्सन, प्राचीन हाई जर्मन, प्राचीन फ्रीजियन और प्राचीन सेक्सन है।

(२) **रोमन परिवार**—स्पेनिश, कैटेलन, प्रोवेन्सल, फ्रैंको-प्रोवेन्शल, फ्रेंच, क्रेओलिको, पुर्तगाली, गैलिशियनको, इटालियन, सार्डिनियन, रूमानियन, इस वर्ग की प्राचीन भाषाओं में लैटिन, ऑस्कन, अम्ब्रियन, फेलिस्कन, वोल्स्कन, सिसेल भी सम्मिलित हैं।

(३) **बाल्टोस्लैविक परिवार**—रूसी, युक्रेनियन, बाइलोरूसी, पोलिश, चेक और स्लोवाक सर्बो-क्रोशियन और स्लोवेनियन, बल्गेरियन और मैसिडोनियन, लिथुआनियन, लेटवियन अथवा लेटिश।

(४) **इन्डो-ईरानी परिवार**—हिन्दुस्तानी, बंगाली, बिहारी, मराठी, पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, उड़िया, सिन्धी, सिंहली, आसामी, भारतवर्ष और पाकिस्तान की अन्य भाषायें—काश्मीरी, लहँदा, नेपाली, पहाड़ी, मेरवाड़ी इत्यादि हैं।

ईरानियन, पश्तो, ईरान, पाकिस्तान, अफगानिस्तान, रूस की अन्य भाषायें—कुर्दिश, बलूची, ताजिक इत्यादि।

इस वर्ग की प्राचीन भाषाओं में संस्कृत और प्राकृत सम्मिलित हैं, जिनमें भारत के लिए पाली प्रमुख है तथा ईरान के लिए प्राचीन फारसी और अवेस्तन।

(५) **ग्रीक परिवार**—एटिक, आयोनिक, डोरिक, एओलियन इत्यादि हैं।

(६) **आर्मेनियन परिवार**।

(७) **अल्बानियन परिवार**।

(८) **कैल्टिक परिवार**—आयरिश, वैल्श, ब्रेटन इस वर्ग की प्राचीन भाषाओं में प्राचीन गॉलिश और मृतप्राय कोर्निश की गणना की जा सकती है।

(९) **सामी परिवार**—अरबी, हिब्रू, अम्हरिक इस वर्ग की प्राचीन भाषाओं में फोनिशियन और प्यूनिक, असीरीबेबिलोनियन (अक्कादियन), आर्मेइक (सीरियाक) सम्मिलित हैं।

(१०) **हामी परिवार**—बर्बर, कबील, शिल्ह, तमशेक, रिफ इत्यादि इस वर्ग की प्राचीन भाषाओं में मिस्री, कॉप्टिक, न्यूमीडियन आदि की गणना की जाती है।

(११) **कोशी परिवार**—सोमाली, गल्ला आदि।

(१२) **यूराल परिवार**—फिनिश, इस्टोनियन, केरेलियन, लाप, मार्डवीनियन, सेरेमिस और वोट्यक आदि तथा हंगेरियन या मगियार, ओस्ट्यक आदि हैं।

(१३) **अल्टाई (तुर्की) परिवार**—तुर्की, उज्बेक, तातार, तुर्कोमान, किग्रीज, अजरबइजानी, मंगोल, कल्मूक, बुर्यत, तुंगुस, मंचू आदि।

(१४) **चीनी भाषाएं**—चीनी, मेन्डेरिन, केन्टोनी वू, मिन, हक्का, थाई, सियामी।

(१५) **तिब्बती बर्मी**—बर्मी, तिब्बती आदि।

(१६) **जापानी कोरियाई परिवार**—जापानी, कोरियाई।

(१७) **द्राविड़ परिवार**—तमिल, तेलगु, कन्नड़, मलयालम आदि।

(१८) **मलयाई पोलिनेशियाई परिवार**—इन्डोनेशियाई, जावानी, सूडानी, मदूरेस, बालनी, बटक, मकस्सर, दयक, अंचिन, मिनङ्कबऊ, मलगासी, बिसयन, तगालोग, इलोकानो, बिकोल, पोलिनेशियाई, हवाई समाओ, माओरी, माइक्रोनेशियाई और मलेनेशियाई आदि।

(१९) **सूडानी गिनी परिवार**—हउसा, मोस्सी, फुला, लुबा, मन्दिन्गो, योरूबा फन्ती, इबो, ईव, एफिक इत्यादि।

(२०) **बांटू-परिवार**—स्वाहिली, रूआण्डा, सोथो, जुलू, ल्यूबा, खोसा, गंडा, मकुम, उम्बुन्डू, हेरेरो आदि।

(२१) **खोइन परिवार**—(अमरीकी भाषायें) होटिन्टोट, बुशमेन, अमरीकी, भारतीय तथा एस्कीमो-एल्यूत, क्वेचुआ, ग्वारनी, अयमारा, माया, नहुत्ल, उतो-अजेक, अथेबस्कन, अल्गोनक्वियन, इरोक्यू, सिओ, जपोतेक, मिक्स्तेक, अरावक, अरूकेनियन, केरिब, खिब्चा तूपी इत्यादि।

(२२) **मोनख्मेर भाषायें**—वियतनामी, कम्बोडियन, लाओ, मुन्डा आदि।

(२३) **काकेशियन परिवार**—जॉर्जियन, लेस्गियन, अवर, किर्केशियन आदि।

(२४) **मारक भाषायें**—आस्ट्रेलियाई-पापुअन तथा आइनूहाइपर्वोरियन आदि परिवार की भाषायें प्रचलित हैं।

आकृतिमूलक वर्गीकरण
अयोगात्मक (व्यास-प्रधान)
चीनी भाषा
योगात्मक (सावयव)
अश्लिष्ट योगात्मक (प्रत्यय-प्रधान)
श्लिष्ट योगात्मक (विभक्ति-प्रधान)
प्रश्लिष्ट योगात्मक (समास-प्रधान)
पूर्व योगात्मक
काफिरी भाषा
मध्य योगात्मक
संथाली भाषा
अन्त योगात्मक
पर-प्रत्यय संयोगी
द्राविड़ परिवार
की भाषाएँ
पूर्वान्त
योगात्मक
न्यूगिनी की
मफोर भाषा
बहिर्मुखी
अन्तर्मुखी
पूर्ण प्रश्लिष्ट
चेरोकी तथा ग्रीन-
लैंड की भाषाएँ
आंशिक
प्रश्लिष्ट
बास्क भाषा
संयोगात्मक
संस्कृत भाषा
वियोगात्मक
हिन्दी भाषा
संयोगात्मक
अरबी भाषा
वियोगात्मक
हिब्रू भाषा

अमेरिकन कुल
उत्तरी अमेरिका खंड
दक्षिणी अमेरिका खंड
चेरोकी
(फ्लोरिडा)
एस्किमो या इन्यूट
(ग्रीनलैंड और
लेब्रोडोर)
अल्गोनियन
(हडसन की खाड़ी के समीप
संयुक्त राज्य और कनेडा में)
इरोक्वाइस
नहुअत्ल
मय
अजेतक
क्विच्
(यूकेतन)
हुआस्तेकी
नहुअत्ल
सोनोरा
(मेक्सिको)
शोशोन
उत्तरी
मध्य
पश्चिमी
करीब
(पनामा)
अवरोक
गुअर्नी
(लापलाटा)
तूपी
पोरूवियन
(पेरू)
कुइचुआ
(मध्य भाग)
अरोकन
चिली
चाको
(जंगली बोलियाँ)
तीराडेलफुआयगो

एकाक्षर परिवार
चीनी
अनामी
स्यामी
तिब्बती-बर्मी
मन्दारी
कैंटूनी
पेकिंगी
हक्का
स्यामी
शान
आहोम
खाम्ती
टाम्किनी
कोचीन-चीनी
कंबोडियाई
तिब्बती
बर्मी-आसामी
तिब्बती
बाल्ती
लद्दाखी
हिमालयी
बोडो नागा कचिन कुकीचिन बर्मी लोलो
सेमेटिक
उत्तर सेमेटिक
दक्षिण सेमेटिक
असीरिओ-अर्माइक
(१) असीरियन
(२) बेबीलोनिअन
(३) परवर्ती अर्माइक
क—चाल्डी
ख—सीरिअक
ग—मेन्डियन
कैना अनिटिक
प्राचीन हिब्रू
मोबाइट
समारितन
फोनिशिअन तथा
प्यूनिक
प्राचीन अरबी
साहित्यिक अरबी
अरब
बार्बरी
मोरक्को
मिस्र
बोलियाँ
अबतनिद्
हिम्यारिटिक
यदकिलो
एबिसिनियन
हरारी
अम्हारिक
ताइगर
एथिओपिक

एकाक्षर परिवार
चीनी
अनामी
स्यामी
तिब्बती-बर्मी
मन्दारी
कैंटूनी
पेकिंगी
हक्का
स्यामी
शान
आहोम
खाम्ती
टान्किनी
कोचीन-चीनी
कंबोडियाई
तिब्बती
बर्मी-आसामी
तिब्बती
बाल्ती
लद्दाखी
हिमालयी
बोडो नागा कचिन कुकीचिन बर्मी लोलो
सेमेटिक
उत्तर सेमेटिक
दक्षिण सेमेटिक
असीरिआे-अर्माइक
(१) असीरियन
(२) बेबीलोनिअन
(३) परवर्ती अर्माइक
क—चाल्डी
ख—सीरिअक
ग—मेन्डियन
कैना अनिटिक
प्राचीन हिब्रू
मोबाइट
समारितन
फोनिशिअन तथा
प्यूनिक
प्राचीन अरबी
साहित्यिक अरबी
अरब
बार्बरी
मोरक्को
मिस्र
बोलियाँ
हिम्यारिटिक
यदकिली
एबिसिनियन
हरारी
अम्हारिक
ताइगर
एथिओपिक

प्रशान्त महासागर खण्ड
इंडोनेशियाई
मलेनेशियाई
पालीनेशियाई
पापुआई मफोर (न्यूगिनी)
आस्ट्रेलियाई
मलय
तगाल
मलय (मलाया)
बत्तक सुमात्रा)
जावी (जावा)
बत्तक आकीनीज लपोंग
फिजियन (फिजी)
कैलीडोन कैलिडो
लायल्टी लायल्टी)
हेब्रिडी हेब्रिड
सोलोमोनी सोलोमान
आस्ट्रेलियन
टस्मानियन (टस्मानिया)
कमिलरॉई आदि
क्रोमो
न्गोको
तगाल (फिलीपाइन)
फारमोमी (फारमोसा)
लदोर्नी लदोर्न)
मलगमी या
मावोरी न्यूजीलैंड
समोई समोआ
हवाई (हवाई)
ताहिती

आर्य शाखा का विभाजन
ईरानी
दरद
भारतीय
पूर्वी
पश्चिमी
सोग्दिअन
अवेस्ती या बैक्ट्रियन
मीडिअन
प्राचीन फारसी
पहलवी, मध्यकालीन फारसी
पामीरी (गाल्चा आदि)
अफगानी या पश्तो
बलूची
मध्यवर्तिनी विभाषाएँ
१—कास्पिअन विभाषाएँ
२—कुर्दी
३—ओसेटिक
हुज्जावारेश
पाजद
आधुनिक फारसी

दरद भाषा का विभाजन
दरद
काफिर
खोवार-चित्राली
शीना
कोहिस्तानी
कश्मीरी
गिलगिटी
ब्रोक्पा
मैया
गोबारी
गार्वी
कश्मीरी

इंडोनेशियाई कुल
मलय
तगाल
मलय (मलाया)
बत्तक (सुमात्रा)
जावी
सुन्दिग्रन
[जावा]
दयक (बोर्नियो)
बुघी (सेलवस)
तगाल (फिलीपाइन)
फारमोसी (फारमोसा)
लदोर्नी (लदोर्न)
होवा
या
मलगसी
(मैडागास्कर)
बत्तक
आकीनीज
लपोंग
क्रोमो
ग्नोको

ग्रीक का विभाजन
डोरिक
एओलिक
आयोनिक
थैसालेनिग्रन
लम्बिग्रन
लेकानियन
मेस्सेनियन
मेगारन

इलीरियन का विभाजन
इलीरियन
वेनेष्यिन
लिबर्नियन

जर्मन
पूर्वी जर्मन
पश्चिमी जर्मन
गाथिक
उत्तरी जर्मन
पूर्वी नार्स
पश्चिमी नार्स
स्वीडानी (स्वीडिश)
डेनिश (डेनमार्की)
आइसलैंडीय
नारवेजीय
लो-जर्मन
हाई-जर्मन
प्राचीन सैक्सन
न्टीनेन्टल सैक्सन
प्लाट् डोइच्
प्राचीन फ्रैंक
प्राचीन इंगलिश
(ऐंग्लो सैक्सन)
मध्यकालीन अंग्रेजी
आधुनिक अंग्रेजी
प्रा० फ्रीजियन
प्रा० हाई जर्मन
अलमान्निक
स्वावियन
बवेरियन

लैटिन
अम्ब्रो समनिटिक
(प-प्रधान इटाली)
अम्ब्रियन
पिसेन्टाइन
सेबाइन
मार्सियन
वोलस्कियन
ओस्कन
लैटिन
(क-प्रधान इटाली)
प्राचीन लैटिन
मध्यकालीन लैटिन
संस्कृत लैटिन
प्राकृत लैटिन
न्यू-लैटिन
इटाली
स्पेन
पुर्तगाली
रोमांस
रोमानियन
प्रावेन्सल
फ्रेंच

यूराल-अल्टाई कुल
(१) फिनो-अग्रिक
(२) समायेदी
(३) टुंगूज
(४) मंगोलिअन
(५) तुर्क-तातारी
फिनिक
परमिअन
व्होलगा
अग्रिक
मंगोलिअन
बरिअट
कलमक
वोटिआव
परमियन
माईरेनियन
वोगल
ओस्टिआक
मेग्यर
फिनिश
शूडिक
करेलियन
इस्थोनियन
लैपेनिक
शेरेमिस्सअन
मार्डविनिअन
याकूत
नोगाइर
किरगिज
कोसक
तुर्की

स्लैवोनिक का विभाजन

- पूर्वी शाखा
  - महारूसी
  - श्वेतरूसी
  - लघुरूसी
- पश्चिमी शाखा
  - जेक
    - बुहेमियन
    - स्लोवेकिग्रन
  - सर्बिग्रन
  - लेकिश
    - पोलिश
    - पोलाबिश
- दक्षिणी शाखा
  - बल्गेरिग्रन
  - इलिरिग्रन
    - सर्वोक्रोटिग्रन
    - स्लोवेनिग्रन

आर्मेनियन का विभाजन

- फ्रीजियन
- प्राचीन आर्मेनियन
  - वर्तमान आर्मेनियन

पारिभाषिक शब्दावली

हिन्दी	अंग्रेजी
अघोष	Voiceless, Breathed
अंत अक्षर लोप	Apocope
अंत अक्षरागम	Coming of syllable in the end
अंत योगात्मक	Suffix Agglutinative
अंतर्मुखी श्लिष्ट	Internal Inflectional
अंत व्यंजनागम	Coming of Consonant in the end
अंत व्यंजन लोप	Elision of ending Consonant
अंत स्वरागम	Coming of Vowel
अंत स्वर लोप	Elision of ending vowel
अंध सादृश्य	False analogy
अक्षर	Syllable
अक्षर लिपि	Letter writing
अक्षर लोप	Syllabic elision
अक्षरावस्थान	Vowel-gradation (जैसे Ablaut)
अक्षरावस्थिति	Vowel-position
अघोषीकरण	Devocalisation
अनुकरण मूलकतावाद	Bow-wow theory
अनुरणन मूलकतावाद	Ding-dong theory
अनुनासिकता	Nasalization
अनुरूपता	Assimilation
अपवाद	Exception
अपश्रुति	Vocalic Ablaut
अप्राण, अल्पप्राण	Unaspirated
अपिनिहित	Epenthesis
अपिश्रुति	A blaut, Vowel mutation
अभिश्रुति	Umlaut, Vowel mutation
अयोगात्मक	Isolating

हिन्दी	अंग्रेजी
अर्थग्राम	Semanteme
अर्थतत्व	Semanteme
अर्थविज्ञान, अर्थविचार	Semantics
अर्थ-परिवर्तन	Semantic change
अर्थ-विचार	Semantics, Samasiology
अल्पप्राण	Unaspirated
अल्पप्राणीकरण	Deaspiration
[illegible] योगात्मक	Holophrastic
अश्लिष्ट योगात्मक	Simple, aggutinative
असावर्ण्य, वैषम्य	Dissimilation
आंशिक प्रश्लिष्ट योगात्मक	Partly Incorporative
आकृति मूलक	Morphological, Syntactical
आगम	Coming
आदर्श भाषा	Standard language
आदि अक्षर लोप	Apheresis
आदि व्यंजनागम	Coming of the consonant in the beginning
आदि व्यंजन लोप	Elision of beginning consonant
आदि स्वरागम	Prothesis
आदि स्वर लोप	Aphesis
आधुनिक आर्य-भाषा	New Indo-Aryan
आभ्यंतर प्रयत्न	Way or manner of articulation within the mouth cavity
उत्कीर्ण लेख	Inscription
उत्क्षिप्त	Flapped
उपचयात्मक	Agglomerating
उपचार	Metaphor
उपभाषा, विभाषा	Dialect
उपमान	Analogy
उपसर्ग	Prefix
ऊष्म	Sibilant
ऊष्म-ध्वनि	Hissing sound
ऊष्मीकरण	Assibilation

हिन्दी	अंग्रेज़ी
एकांगी विपर्यय	Single-sided Metathesis
एकाक्षर	Monosyllabic
एकसंहति	Mono-synthetic
ऐतिहासिक व्युत्पत्ति (या लौकिक व्युत्पत्ति)	Historical Etymology
ओष्ठ्य	Labial
औपम्य	Analogy
कंठ्य	Velar, Gutternal
कंठ स्थान	Velum
कंठ तालव्य	Gutturo-palatal
कंठ ओष्ठ्य	Gutturo-labial
कंपन, घोष	Vibration
कठोर तालु	Hard palate
काकल्य	Glottal
काकल्य स्पर्श	Glottal stop or laryngeal plosis
काकल्य घर्ष (अथवा ऊष्म)	Glottal spirant
कोमल	Sonant, Soft
कोमल तालु	Velum, Soft-Palate
क्लिक	Click
केन्द्रवर्ती समुदाय	Central Group
घर्ष-स्पर्श, स्पर्श-संघर्षी	Affricate
घोष	With Vibration
घोषीकरण	Vocaligation
जटिल	Complex
जिह्वा	Tongue
जिह्वामूलीय	Vrular
तालव्य	Palatal
तालव्य-नियम	Palatal-Law
तालु	Palate
तुलनात्मक भाषा-विज्ञान	Comparative Philology
वाक्य विचार	Syntax
दंत्य	Dental
दंत्य मूलीय	Post-Dental

हिन्दी	अंग्रेजी
[illegible]	Divine-theory
द्वितीय वर्ण परिवर्तन	Second sound-shift
दूरवर्ती अक्षर विपर्यय	Incontact syllabic metathesis
दूरवर्ती परगामी समीकरण	Incontact regressive assimilation
दूरवर्ती पुरोगामी समीकरण	Incontact progressive assimilation
दूरवर्ती व्यंजन विपर्यय	Incontact consonant metathesis
दूरवर्ती स्वर विपर्यय	Incontact vowel metathesis
दैवी सिद्धान्त	Divine theory
धातु-अनुकरणमूलक	Root onomatopoetic
धातु-सिद्धान्त	Root theory
ध्वनि	Sound
ध्वनि-ग्राम	Phoneme
ध्वनि-ग्राम-विज्ञान	Phonemics
ध्वनि-नियम	Phonetic law
ध्वनि-परिवर्तन	Phonetic change
ध्वनि-यन्त्र	Kymograph
ध्वनि-विकार	Phonetic change
ध्वनि-विचार	Phonology
ध्वनि-विज्ञान	Phonetics
ध्वनि-शिक्षा	Phonetics
ध्वनि-श्रेणी	Phoneme
ध्वनि श्रेणी-विज्ञान	Phonemics
नासिका-विवर	Nasal cavity
पर-प्रत्यय	Suffix
पर-प्रत्यय-प्रधान	Suffix-agglutinating
पर-श्रुति, पश्चात-श्रुति	Off-glide
पर-सर्ग	Post-position
परस्पर विनिमय	Metathesis
पर-सावर्ण्य, परसादृश्य	Regressive assimilation
पर-सावर्ण्य, पर-वैरूप्य	Regressive dissimilation

हिन्दी	अंग्रेज़ी
परीक्षामूलक, प्रयोगात्मक	Experimental
पारिभाषिक	Technical
पारस्परिक व्यंजन समीकरण	Mutual assimilation
पारिवारिक	Geneological
पार्श्ववर्ती अक्षर विपर्यय	Contact syllabic metathesis
पार्श्ववर्ती पश्चगामी समीकरण	Contact regressimilation
पार्श्ववर्ती पुरोगामी समीकरण	Contact progressive assimilation
पार्श्ववर्ती व्यंजन विपर्यय	Contact consonant metathesis
पार्श्ववर्ती स्वर विपर्यय	Contact vowel metathesis
पार्श्विक	Lateral
पुरातत्व	Archaeology
पुरोहित	Prothesis, Prothetic ana
पुरोगामी विषमीकरण	Progressive physis dissimilation
पूर्ण प्रश्लिष्ट योगात्मक	Completely incorporative
पूर्व योगात्मक	Prefix agglutinative
पूर्वान्त योगात्मक	Prefix suffix agglutinative
पूर्व-श्रुति	On-glide
पूर्व सावर्ण्य, पूर्व सादृश्य	Progressive assimilation
पूर्व सावर्ण्य, पूर्व वैरूप्य	Progressive dissimilation
पूर्व हिति	Prothesis
पूर्वागम	Initial development, anticipatory addition
प्रतीकात्मक	Symbolic
प्रत्यय	Affix
प्रत्यय-प्रधान	Agglutinating, abounding-in affixes
प्रथम वर्ण-परिवर्तन	First-sound shift
प्रयत्न-लाघव	Saving of effort
प्रश्लिष्ट योगात्मक	Incorporating
प्राण-ध्वनि	Aspirate
प्राण-वायु	Breath

हिन्दी	अंग्रेजी
फुप्फुस, फेफड़ा	Lungs
फुसफुसाहट	Whisper
फुसफुसाहट वाला स्वर	Whispered vowel
बल	Stress
वाक्य बल	Sentence stress
अक्षर बल	Syllabic stress
शब्द बल	Word stress
बल का अपसरण	Shift of emphasis
बलात्मक स्वराघात	Stress accent
बहिर्मुखी विभक्ति-प्रधान	With external fexion
बहु संहितात्मक, बहु संहति	Poly-synthetic
बोली	Patois
भारत-ईरानी	Indo-Iranian
भारत-योरोपीय कुल	Indo-European family
भारतीय आर्य भाषा	Indo-Aryan speech
भारोपीय	Indo-European
भारोपीय भाषा	Indo-European language
भाषण-ध्वनि	Speech-sound
भाषणावयव	Speech-organ
भाषा का आरम्भ	Origin of language
भाषाओं का वर्गीकरण	Classification of language
भाषा-ध्वनि	Speech sound
भाषा-परिवार	Family of speech
भाषा-विज्ञान	Linguistic. philology
भिन्नभाव का नियम	Law of differentiation
भोजन नलिका	Gullet
भ्रमपूर्ण व्युत्पत्ति	Popular etymology
भ्रामक व्युत्पत्ति	Popular etymology
मध्य अक्षरागम	Coming of syllable in the middle
मध्य अक्षर लोप	Elision of middle syllable
मध्य योगात्मक	Infix-agglutinative
मध्य व्यंजनागम	Coming of the consonant in the middle

हिन्दी	अंग्रेजी
मध्य व्यंजन लोप	Elision of middle consonant
मध्य वर्ण लोप	Syncope
मध्य स्वर	Central vowel
मध्य स्वरागम	Anaptyxis
मध्य स्वर लोप	Syncope
मनोभावाभिव्यंजकतावाद (अनुभाववाद)	Interjectional theory
मनोभावाभि व्यक्तिवाद	Pooh-pooh theory
महाप्राण	Aspiration
महाप्राणीकरण	Aspiration
मात्रिक अपश्रुति	Quantitative ablaut
मिश्रित स्वर	Mixed vowel
मुख विवर	Mouth cavity
मूर्द्धन्य	Retroflex
मूर्द्धन्य भाव	Cerebralisation
युक्त-विकर्ष, विप्रकर्ष	Anaptyxis
योगात्मक	Agglutinative
योग्यतमावशेष	Survival of the fittest
रूप मात्र	Morpheme
रूप विकार	Morphological change
रूप विचार	Morphology
लिपि	Script
लिपि-संकेत	Written symbol
लुंठित	Rolled
लोप	Elision, Loss
लौकिक व्युत्पत्ति या ऐतिहासिक व्युत्पत्ति	Historical etymology
वंशान्वय-शास्त्र	Ethnology
वंशक्रम	Genealogy
वंश क्रमानुसार वर्गीकरण	Genealogical classification
वर्गीकरण	Classification
वर्त्स्य	Alveolar
वर्ण	Letter
वर्णमाला	Alphabet
वर्ण-विचार, ध्वनि-विचार	Phonology

हिन्दी	अंग्रेजी
वर्ण विज्ञान	Phonetics
वर्ण-विपर्यय	Metathesis
वर्ण-शिक्षा	Phonetics
वर्णानिविष्टि, वर्णाविष्टि	Epenthesis
वाक्य	Sentence
वाक्य-विचार	Syntax
कार्य प्रकार	Mode of activity
विकार	Change, Modification
विपर्यय	Metathesis
विप्रकर्ष, युक्तविकर्ष	Anaptyxis
विभक्ति प्रधान	Inflexional
विधायिका शक्ति	Creative power
विवृत	Open
विवृत्ति	Hiatus
विषमीकरण	Dissimilation
वैज्ञानिक लिपि	Phonetic script
वैषम्य, असावर्ण्य	Dissimilation
व्यंजन	Consonant
व्यंजन-संधि	Conjunction, combination
व्यवस्थित	Systematic
व्यवहित	Analytic
स्थान प्रधान	Isolating
व्युत्पत्ति-शास्त्र	Etymology
शब्दार्थ-विज्ञान	Semantics
शब्द-समूह	Vocabulary
शब्दानुकृति, ध्वन्यनुकरण	Imitation of sounds, or onomatopoeia
शब्दांश, अक्षर	Syllable
श्रम परिहरणवाद	Yo-he-ho theory
श्रुति	Glide
पश्चात् श्रुति	Off-glide
पूर्व श्रुति	On-glide
श्वास	Breath

हिन्दी	अंग्रेजी
श्लिष्ट योगात्मक	Inflecting
संघातात्मक स्वराघात	Musical-accent
संघर्ष	Friction
संघर्षी	Fricative
सम्बन्ध तत्त्व	Morpheme
संयोगात्मक	Synthetic
संयोग-प्रधान	Agglutinating
संवृत	Close
संश्लेष, संहिति	Synthesis
संहिति	Synthetic
संहिति, संश्लेष	Synthesis
सघोष	Medica
सम स्वरागम	Epenthesis
समाक्षर लोप	Haplology
समास प्रधान	Incorporating
समीकरण	Levelling
सादृश्य	Analogy
सारूप्य	Assimilation
साधारणीकरण	Generalisation
सानुनासिकता	Nasalization
सारूप्य, सावर्ण्य	Assimilation
सावयव	Organic
सोष्मीकरण	Spirantisation
स्फोट	Explosion
स्फोटक	Explosive
स्वर तंत्री	Vocal chord
स्वर यंत्र	Larynx
स्वर यंत्र मुखी	Glottal
स्वर भक्ति	A vowel-part, Anaptyxis
स्वर-संगति	Vowel-harmoney
स्वरागम, स्वर भक्ति	Anaptyxis (i. e. development of a vowel)
स्वराघात	Accent
बलात्मक	Stress
गीतात्मक	Musical, Pitch

निम्न पारिभाषिक शब्दों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

[illegible], अंतस्वरागम, अघोष, सघोष, महाप्राण, अल्पप्राण, [illegible] स्वरागम, अन्त्य अक्षर लोप, सादृश्य, अंध सादृश्य, अन्तर्मुखी विभक्ति प्रधान, बहिर्मुखी विभक्ति प्रधान, अनुनासिकता, अक्षरलोप, समाक्षरलोप, अक्षरावस्थान, [illegible], समीकरण, विषमीकरण, अपश्रुति, अभिनिहित, अभिश्रुति, आवत, [illegible]त्मक, स्वराघात, संगीतात्मक, आदि स्वरागम, मध्य स्वरागम, आदर्श भाषा, [illegible] व्यञ्जनागम, मध्य व्यञ्जनलोप, आदि अक्षर लोप, आदि स्वर लोप, उदात्त, [illegible], उपचयात्मक, ऊष्मीकरण, कंठ्य, कंठ स्थान, कठोर तालु, कोमल तालु, [illegible], स्पर्श संघर्षी, जिह्वामध्य, जिह्वामूलीय, तालव्य भाव, दंत्य, वर्ण परिवर्तन, [illegible] विपर्यय, अक्षर विपर्यय, व्यञ्जन विपर्यय, ध्वनिग्राम, ध्वनितन्त्री, ध्वनितत्त्व, ध्वनि विकार, ध्वनि श्रेणी, नासिका विवर, पार्श्विक, पुरोहिति, पुरोगामी विषमी-करण, पूर्वहिति, फेफड़ा, भाषण ध्वनि, भाषणावयव, मूर्धन्य, वर्त्स्य, वर्ण विपर्यय, [illegible], श्वासमान का नियम, संघातात्मक स्वराघात, स्फोट, स्वरतन्त्री, स्वर भक्ति, [illegible] स्वराघात, प्रातिशाख्य, अष्टाध्यायी, निरुक्त, स्फोट और ध्वनि, बृहस्पति, इन्द्र, व्याडि, आपिशलि, शाकटायन, पाणिनि, कात्यायन, जयादित्य और वामन, पतंजलि, भर्तृहरि, भट्टोजी दीक्षित, नागेश भट्ट।

दि० ५३, ५५, ५१, ५६, ५७, ६०, ६५, ६७, ६८, आ०, ल०, मे०, दि०, प०, राज०, नाग०, बना० सं० ५०, ५१, ५२, ५३, ५४, ५५, ५६, ५७, ५८, ५९, ६०, ६१, ६२, ६३, ६४, ६५, ६६, ६७, ६८, ६९, ७० आ०, राज०, मे०, का०, दि०, प०, बना०, अली०, लख० नाग० आदि।

२. "भाषा-विज्ञान की परिभाषा कीजिये। व्याकरण का भाषा-विज्ञान से सम्बन्ध स्थापित करते हुए दोनों का अन्तर स्पष्ट कीजिये।"

(आगरा १९४९, १९५५; सा० र० १९९९)

३. "भाषा-विज्ञान को भाषा-शास्त्र क्यों नहीं कहा जाता? भाषा-विज्ञान की परिभाषा देते हुए उसका अन्य सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्ध निर्धारित कीजिये।'

(पंजाब विश्वविद्यालय १९५४

४. "आधुनिक युग में भाषा-विज्ञान की क्या उपयोगिता है? भाषा-विज्ञान का अन्य विज्ञानों से क्या सम्बन्ध है।"

(सा० र० २००२

५. "भाषा-विज्ञान कला है या विज्ञान ? इस पर प्रकाश डालते हुए भाषा-विज्ञान और व्याकरण तथा मनोविज्ञान के सम्बन्ध की आलोचना कीजिए।"

(राजपूताना १९५७)

६. "भाषा-विज्ञान और व्याकरण का स्वरूप तथा उपयोग बताइए एवं दोनों में क्या अन्तर और क्या सम्बन्ध है इसे प्रदर्शित कीजिये।"

(राजपूताना १९५४, आगरा संस्कृत ५४, ५५, ६८)

७. भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र में प्रारम्भ से अब तक जो कार्य हुआ है उसका संक्षेप में उल्लेख कीजिये। इस सम्बन्ध में बीसवीं सदी के तीन प्रमुख भारतीय विद्वानों द्वारा किये गये भारतीय आर्य-भाषाओं के अध्ययन से सम्बन्धित कार्य का विशेष परिचय दीजिये।

(आगरा १९५०, १९५३, १९५०, साहित्यरत्न—२००६ लखनऊ १९५० संस्कृत १९५२, ५७, ६३, ६८)

८. तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का क्या महत्व है। स्पष्ट करते हुए व्याकरण से सम्बन्ध लिखिये। (आ० ६२, ६३,

९. भाषा-विज्ञान के क्रमिक विकास पर योरोप में क्या कार्य हुए संक्षेप में लिखिये। (लखनऊ १९५१)

१०. संस्कृत वैयाकरणों का भाषा-विज्ञान सम्बन्धी कार्य लिखिए।

(आगरा सं० ५१, ५४, ५९, ६६, ६९)

११. भाषा, विभाषा, उपभाषा तथा राष्ट्र-भाषा से आप क्या समझते हैं? सोदाहरण उत्तर दीजिये।

(दिल्ली १९५७, आगरा सं० ५०, ५३, ५८, ६३)

१२. भाषा और बोली के अन्तर को स्पष्ट करते हुए भाषा के विकास पर प्रकाश डालिये।

(दिल्ली १९५४, पंजाब १९५३, आगरा सं० ५९, ६०, ६६

१३ भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में समन्वित विकासवाद का सिद्धान्त ही विशेष रूप से मान्य है। इस कथन की पूर्ण रूप से परीक्षा कीजिये और इस सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिये।

(दिल्ली १९५०, ५५, ५६, आगरा १९४९, १९५३, राजपूताना १९५३)

१४. भाषा की उत्पत्ति के विभिन्न मतों का उल्लेख करके यह प्रतिपादित कीजिए कि उनमें कौन सा मत समीचीन एवं सर्वमान्य कहा जा सकता है।

(दिल्ली १९५२, ५३, पंजाब १९५२, राजपूताना १९५१, सा० र० २००६)

आगरा सं० ५१, ५३, ५७, ६०, ६२, ६४, ६५

१५. भाषा परिवर्तनशील क्यों है ? भाषा परिवर्तन के मुख्य कारण क्या हैं ।

(दिल्ली १९५०, ५३, ५६, आगरा १९४९, ५३, लखनऊ १९५०, पंजाब १९५४)
आगरा सं० १९५६, ६०, ६१, ६४, ६९

१६. भाषा की स्थिरता और गतिशीलता का तात्पर्य समझाकर लिखिये । उन कारणों का उल्लेख कीजिये जिनसे भाषा में दोनों बातें चरितार्थ होती रहती हैं ।

(आगरा १९५५, दिल्ली १९५४)

१७. रूप-रचना की दृष्टि से भाषाओं का वर्गीकरण कीजिये । इस वर्गीकरण की वैज्ञानिक उपयोगिता पर अपने विचार लिखिये ।

(आगरा १९४९, ५३, ५४, दिल्ली १९५४, ५७, राजस्थान १९५४)
आगरा सं० ५१, ५२, ५५, ५८, ६५, ६६, ६९

१८. भाषाओं का वंश-क्रम के अनुसार वर्गीकरण किन सिद्धान्तों पर किया जाता है ? उन सिद्धान्तों के आधार पर भारतवर्ष की भाषाओं का वर्गीकरण कीजिये ।

(पंजाब १९५५, राजपूताना १९५१, ५२, आगरा सं० ५१, ५५, ५८, ६६)

१९. भारत-योरोपीय परिवार की भाषाओं का संक्षिप्त वर्णन दीजिये । हिन्दी, अंग्रेजी जैसी भिन्न भाषाओं को एक परिवार मे रखने के कारणों पर प्रकाश डालिये ।

(राजपूताना १९५६, आगरा सं० ५५, ६८)

२०. आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं के दो मुख्य वर्गीकरण सम्बन्धी सिद्धान्तों का परिचय दीजिये तथा इन दोनों के अनुसार आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं का वर्गीकरण भी कीजिये । आप इन दो वर्गीकरणों में से किसे अधिक वैज्ञानिक समझते हैं और क्यों ?

(आगरा १९५४, ५१, दिल्ली १९५०, ५६)

२१. भारत-ईरानी (Indo-Aryan) परिवार का वर्गीकरण कीजिये ।
(आगरा सं० ५१, ५५, ५८, ६६)

२२. व्युत्पत्ति विचार पर विस्तारपूर्वक निबन्ध लिखिये तथा उदाहरण स्वरूप संस्कृत शब्दों से हिन्दी शब्दों की व्युत्पत्ति दीजिए । (हि० ५१, ५५, ६२, ६५ ६८, आ०, दि०, राज०, बना०, पं०, गो०, का०, सं० ५०, ५५, ५६, ६०, ६५, ६२ ६४, ६७, आ०, दि०, नाग०, बना०, अली०, राज०, पं०) ।

३५. ध्वनि-विकार से आप क्या समझते हैं ? ध्वनि-विकार के सामान्य भेदों का उल्लेख कीजिए।

(आगरा १९४९; दिल्ली १९५०)
आगरा सं० ५१, ५३, ५८, ६१, ६६, ६८

३६. ध्वनि परिवर्तन के रूप और कारणों की उदाहरणसहित विवेचना कीजिए। (आगरा १९५१, ५४; पंजाब १९५६)

३७. ध्वनि-नियम से आप क्या समझते हैं ? क्या ध्वनि-नियम भी अन्य वैज्ञानिक नियमों की भांति अकाट्य है ? ग्रिम कृत ध्वनिमूलक सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए इस प्रश्न पर [illegible] प्रकाश डालिए।

(दिल्ली १९५३; आगरा १९५२; राजपूताना १९५२)
आगरा सं० १९५१, ५४, ५६, ५८, ६१, ६४, ६५ ६७, ६९

३८. संस्कृत में वर्ण ध्वनियों के आगम-अपायों का उल्लेख करिए।
(आगरा सं० १९५०, ५२, ५५, ५७, ६०, ६४, ६५)

३९. अर्थ परिवर्तन के कारण लिखो और उदाहरण भी दो।
(लखनऊ १९४९, दिल्ली १९५०, १९५६, राजपूताना १९५१,
आगरा १९५३, ५५, ५६, ५९)

४०. शब्दार्थ परिवर्तन (Semantic changes) के मुख्य कारण क्या माने जाते हैं ? संस्कृत तथा हिन्दी शब्दों के उदाहरण देकर इन कारणों पर प्रकाश डालो।

(दिल्ली १९५०, ५६, राजपूताना १९५३, आगरा १९५०)

४१. अर्थ-परिवर्तन में बौद्धिक-नियम का क्या महत्व है ? उदाहरण देते हुए उसके मुख्य भेदों की मीमांसा कीजिए।
(दिल्ली १९५२; आगरा १९५१, ५४, आगरा सं० ५७, ६१, ६४, ६५, ६७)

४२. लिपि के उद्गम और विकास का परिचय दीजिए (हि० १९५५, ५१, ५३, [illegible] ५८, ६५. आ०, गो०, दि०, ल० सं० ५४, ५०, ५२, ६५, आ०,ल०,रा०, नागि०, दि०, गो०, बना०)

४३. शब्द व्युत्पत्ति से आप क्या समझते हैं। उसके साधारण नियमों का सोदाहरण परिचय दीजिए। (हि० ५१, ५२, ५३, ५४, आ० पं० दि० राज० बना० [illegible] अ०, राज०, बना०, अली, पं० ४९, ५१, ५३, ५७, ६०)

४४. शब्द-शक्ति से क्या तात्पर्य है? उसके भेदों का सोदाहरण विवेचन करिए। (हि० ५१, ५२, ५४, ५५, ५७ ६१, ६३ (हि०) आ० अ० बना० दि० पं० राज० गो० नाग०)

सहायक ग्रन्थों की सूची

ग्रन्थों के नाम	लेखक
निरुक्त	यास्क
भगवद्गीता	
अष्टाध्यायी	पाणिनि
वार्तिक	कात्यायन
महाभाष्य	पतञ्जलि
लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया	ग्रियर्सन
प्राकृत प्रकाश	वररुचि
गोपथ ब्राह्मण	
पाणिनि शिक्षा	
सिद्धान्त कौमुदी	भट्टोजि दीक्षित
याज्ञवल्क्य शिक्षा	
संस्कृत साहित्य का इतिहास	ए० बी० कीथ तथा एस० के० डे०
स्फोटवाद	नागेश भट्ट
शब्द कौस्तुभ	भट्टोजि दीक्षित
वाक्यपदीय-सटीक	भर्तृहरि
स्फोटवाद	प्रभाकर गुरु
प्रकार	फोनीम ब्लाक
ध्वनितत्व की पुस्तिका	स्वीट
भाषा	लुइस ब्लूम फील्ड
भाषा	ई सपीर
संस्कृत भाषा	टी० बरो अनुवादक भोलाशंकर व्यास
भारतीय भाषा विज्ञान	पं० किशोरीदास वाजपेयी
संस्कृत भाषा-विज्ञानम्	श्री रामाधीन चतुर्वेदी
प्राचीन लिपि माला	गौरीशंकर हीराचन्द ओझा
भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी	सुनीति कुमार चटर्जी
सामान्य भाषा विज्ञान	बाबूराम सक्सेना
भाषा विज्ञान	भोला नाथ तिवारी

ग्रन्थों के नाम	लेखक
तुलनात्मक भाषा शास्त्र	मंगलदेव शास्त्री
भाषा विज्ञान तथा भाषा रहस्य	श्यामसुन्दरदास
सरल भाषा विज्ञान	डा० मनमोहन गौतम
संस्कृत व्याकरण	डा० कपिलदेव द्विवेदी
भाषा का इतिहास	डा० भगवद्दत्त
भाषा विज्ञान	डा० [illegible] शर्मा
Language	Bloomfield
Speech and Language	Gardiner
An Introduction to Comparative Philology	Gune
Essentials of Grammar Language Its Nature, Development and Origin	Jesperson
Science of Language-Lectures on the science of Language	Maxmuller
Elements of the science of Language	Taraporwala
Introduction to Natural History of Language	Tucker
Manual of Sanskrit Phonetics	Unlenbeck
Language : A Linguistic Introduction to History	Vendryes
Original Sanskrit Texts Vol. II	J. Muir